हिन्दी आलोचना और अज्ञेय का मूल्यांकन

(Hindi Aalochana Aur Agaye Ka Mulayakan)
(Evaluation of Agaye in Hindi Criticism)

पी एच.डी की उपाधि हेतु शोध-प्रबंध

शोध-निर्देशक
प्रो० देवेन्द्र कुमार चौबे

शोधार्थी
सिम्मी चौहान

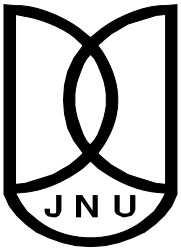

भारतीय भाषा केंद्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

2017

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Date: 20/07/2017

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this Ph.D. Thesis entitle **(Hindi Aalochana Aur Agaye ka Mulayankan) (Evluation of Agaye in Hindi Criticism)** by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or may other University/Institution.

Simmi Chauhan
(Research Scholar)

PROF. DEVENDRA KUMAR CHOUBEY
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/J.N.U.

PROF. GOBIND PRASAD
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/J.N.U.

GRAM: JAYENU, Tel.: (91-011) 26741557, 26742676 Extn.: 4217, (D) 26704217; Telefax: (91-011) 26704217
Email: chair_cil@mail.jnu.ac.in, jnucil@gmail.com

अपने पूर्वजों को समर्पित .....

भूमिका

अज्ञेय साहित्य को एक नया मोड़ देने वाले प्रयोगधर्मी रचनाकार रहे है । उनकी यह प्रयोगधर्मिता ही पारम्परिक मापदंडों को नए प्रयोगों के साथ प्रस्तुत करती हैं । एक सक्रिय रचनाकार के रूप में उनके सामने कई सर्जनात्मक चुनौतियाँ खड़ी रही, लेकिन उन्हें स्वीकारते हुए वे नए-नए रचनात्मक विकल्प पेश करते रहें हैं । अज्ञेय ने कविता, उपन्यास, कहानी, निबंध, नाटक, आलोचना, यात्रा-वृतांत आदि सभी साहित्यिक विधाओं में अपनी गहरी समझ व्यक्त की हैं। साथ ही चिंतक और पत्रकार की हैसियत से समाज की समस्याओं, चिंताओं और प्रश्नाकुलताओं पर गम्भीरता से विचार करते आए हैं। रचना के स्तर पर जब जिस विधा में उन्होंने स्वयं को सम्प्रेषित करना चाहा, खुलकर किया ।

खुद को सभी साहित्यिक विधाओं में व्यक्त करने के प्रयास पर अज्ञेय 'अपरोक्ष' में लिखते हैं कि, 'पहले यह चाहता रहा कि कवि के रूप में पहचाना जाऊँ - जहाँ तक बाहर से प्रतिक्रिया के बारे में कोई धारणा या कामना थी । यानी अपने को जानता नहीं था, टटोल रहा था । फिर एक समय ऐसा आया कि चाहता रहा कि लोग मुझे उपन्यासकार के रूप में पहचाने । फिर बाद में एक स्थिति आई जब यह समझ में आया कि नहीं, मेरा जितना जीवनानुभव है वह भी और मेरा जो देखने का ढंग है वह भी काव्य के निकटतर है, इसलिए अगर कवि के रूप में पहचाना जाता हूँ तो मेरी आकांक्षा या जो भी हो - मेरे काम पर सही निर्णय ही होगा...मुझको किसी एक विधा से परम् संतोष नहीं हुआ ।' सभी साहित्यिक विधाओं में स्वयं जो आजमाने के बाद अज्ञेय अंतत: अज्ञेय 'कवि' की भूमिका स्वीकारते हैं । उनका यह कविपन उनकी अन्य गद्य विधाओं में भी आता-जाता हैं । अज्ञेय के समस्त साहित्य के मूल्यांकन-विश्लेषण के बाद ही यह ज्ञात होगा कि वे मात्र 'कवि' की भूमिका में ढल पाते हैं या अन्य किसी ओर भूमिका में भी उन्हें सफलता मिलती हैं ।

साहित्य की विविध विधाओं में से मेरी रूचि 'नाटक' की ओर अधिक रही हैं । नाटक पढ़ने से ज्यादा उनका मंचन मुझे आरंभ से ही आकर्षित करता रहा हैं । अपने कॉलेज के दिनों में नाट्य प्रतियोगिता के लिए कुछ अलग, नए ढंग का नाटक करने के लिए बहुत सारे नाटककारों की कृतियाँ उलट-पलट की थी । उन दिनों नाटक की नई

शैली, वस्तु-रूप आदि से कोई ख़ास परिचित भी नहीं थी । फिर-भी खोजते-खोजते एक पतला-सा नाटक हाथ लगा जिस पर लिखा था 'अज्ञेय – उत्तर प्रियदर्शी' । नाटक पढ़ा तो नहीं था, लेकिन उलटने-पलटने मात्र से पहली बात दिमाग में आई कि इसमें नाटक (संवाद) कहाँ है? बस कविता ही कविता भरी हैं । नाटक में कुछ अलग तो था, पर तब काव्य-नाटक अपने बस की बात नहीं थी । बहरहाल बी.ए के दिनों में ही मैनें अज्ञेय की एक कविता 'नदी के द्वीप' पढ़ी । कविताओं से भागने वाला विद्यार्थी जब इतनी पेचीदा कविता पढ़ता है तो सब सिर के ऊपर से हवा हो जाता है ; मेरे साथ भी ऐसा ही कुछ हुआ । उस समय अज्ञेय की कविता मन छूने की बजाए सिर दर्द ज्यादा लगी । शीर्षक से लेकर उसके भाव तक पूरी कविता मेरी कच्ची बुद्धि को सालने के अलावा कुछ न दे सकी । बड़ी अजीब बात थी नदी में रहकर उससे जुड़ना भी था और उससे अलग भी रहना था । एक साथ दोनों स्थिति कैसे होगी! ये कवि ही जाने । किसी रचनाकार को लेकर साहित्य जगत में कई धारणाएं फैलती रहती है, उन धारणाओं से साहित्य का छात्र अछूता ही रह जाए ऐसा प्राय: संभव नहीं । मेरे सामने भी ऐसी कई बातें अज्ञेय के साहित्य को लेकर आती रही । उस समय अज्ञेय की मात्र रोमांटिक-प्रेम कविताएँ ही मेरी समझ में आई, जिनमें 'कलगी बाजरे की' मेरी प्रिय कविता हैं । उनकी कविताओं के बाद उपन्यास-कहानियाँ पेचीदापन में एक कदम आगे दिखाई दी । 'नदी के द्वीप' कविता के बाद इसी शीर्षक से उपन्यास क्यूँ? उनके कथा-साहित्य में ऐसा क्या असाधारण व्यक्त हुआ, जिससे लगातार अज्ञेय को आरोपों का सामना करना पड़ा । अज्ञेय को लेकर मेरी यही पहली धारणा बनी । समय के साथ मेरा बौद्धिक विकास न हुआ हो, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता । लेकिन मैनें इन कमियों एवं उलझनों को निरंतर सुलझाने का प्रयास किया हैं ।

एम.फिल में शोध-विषय के लिए अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' का चयन किया । इस उपन्यास का मूल्यांकन करते हुए मुख्य रूप से कुछ बाते उभर कर आई कि - आलोचकों ने इनकी रचनाओं को लेकर कई आरोप मढ़े । अज्ञेय अपनी रचनाओं को लेकर यथास्थान अपने निबंधो, भूमिकाओं आदि में कुछ-कुछ कहते आए हैं । उनकी इन टिप्पणियों व स्पष्टीकरण को अनदेखा नहीं किया जा सकता । वे एक विवादित रचनाकार हैं, जिससे उनके पक्ष में एक निश्चित धारणा व मत रख पाना बेहद कठिन हैं ।

कविता, कहानी, उपन्यास कोई भी विधा हो, अज्ञेय ने जब से लेखन शुरू किया तभी से वे आलोचना के केंद्र में रहे । 'तारसप्तक' तथा दूसरा, तीसरा, चौथा सभी सम्पादकत्व भी विवादित रहें । पी एच.डी के शोध विषय के चयन के समय मुझे बड़ी समस्या यही रही कि मैं अज्ञेय पर ही शोध करूं या किसी नये विषय का चुनाव करूं । अज्ञेय को शोध विषय बनाऊं तो उनकी किस भूमिका पर काम किया जाए । कवि, कथाकार, निबंधकार, संपादक, पत्रकार, आलोचक आदि सभी रूप विवादित दिखाई देते हैं । साथ ही ये सभी आपस में एक-दूसरे से गुंथे हुए भी प्रतीत होते हैं । किसी भी एक भूमिका में उनका व्यक्तित्व सीधे-सीधे नहीं मिलता । इसी उलझन के रहते विषय-चयन बेहद कठिन रहा । विषय-चयन के विचार-विमर्श के सिलसिले में एक बार 'रीतिकाल' की ओर भी रुख किया । लेकिन अज्ञेय का ख्याल दिमाग से निकल ही नहीं पाया ।

इस बीच मैनें मेरे शोध निर्देशक प्रो० रामबक्ष जी को भी बहुत परेशान किया, क्योंकि मेरा मन किसी एक विषय को लेकर हामी नहीं भर रहा था । शोध-निर्देशक के धैर्यपूर्ण व्यवहार ने मुझे एक विषय पर विचार करने का सम्बल दिया । उस पर भी पहले तारसप्तक के कवियों पर कोई विषय निर्धारित हुआ । शोध की अधिकांश रुपरेखा तैयार करने के बाद मेरा विचार फिर बदल गया । क्योंकि रचनाकार अज्ञेय का विवादित रूप अभी-भी अधूरा-सा लग रहा था । मेरी इस उलझन का समाधान एक बार फिर मेरे शोध निर्देशक प्रो० रामबक्ष जी ने ही किया और अज्ञेय के समस्त साहित्य के विवादित रूप को लेकर उन्होंने एक विषय निर्धारित किया - **'हिन्दी आलोचना और अज्ञेय का मूल्यांकन'** । यह विषय मुझे बहुत हद तक संतोषजनक लगा । इसमें आलोचना जगत् में अज्ञेय की छवि एवं साहित्य को लेकर जितने भी मत-विमत हुए उनका विश्लेषण सम्भव हो सकेगा। इस विषय पर अभी तक कोई समग्र शोध कार्य नहीं मिलता । यथास्थान अज्ञेय की आलोचना के नाम पर छिटपुट लेख व पुस्तकें, सम्पादकीय मिलते हैं, जिनमें कुछ में अलग ढंग का विश्लेषण करने का प्रयास दिखाई देता है तो अधिकांशत: मूल्यांकन पूर्वग्रहों पर चलते हुए किया गया हैं ।

यह विडम्बना ही है कि जिस निष्पक्ष आलोचना से साहित्य की गुणवत्ता एवं मूल्यवत्ता की खोज की जाती हैं, उसी से कुछ रचनाकार प्राय: अछूते ही रह जाते हैं । हिन्दी आलोचना की यह परम्परा रही है, जिसमें महान आलोचकों द्वारा प्रतिपादित निष्कर्षो को प्राय: अंतिम सत्य मान लिया जाता हैं । इन्हीं वजहों से आगामी पाठक-आलोचक

पूर्वग्रहों का शिकार होते हैं और यह भूल जाते है कि युग-परिवर्तन के कारण किस तरह कोई महत्वपूर्ण कृति नए अभिप्राय और नई अर्थ-छटाएं लेकर उभरती हैं। अज्ञेय की भी गिनी-चुनी रचनाओं के अभिधार्थ व अतिपाठ के सहारे उन्हें दरकिनार करने के गैर-साहित्यिक प्रयत्न हिन्दी आलोचना में लगातार होते रहे हैं। अज्ञेय के विरोधी समीक्षकों का उनके विचारों को समझने से ज्यादा आसान था, उन्हें खारिज़ करना। वही दूसरी ओर कुछ आलोचकों ने अज्ञेय के पक्ष में भी अपनी बात रखी है, जिनमें कुछ मात्र प्रशंसा तक ही सिमटे हुए है, तो कुछ की प्रतिक्रिया दोहरी होकर उलझी हुई हैं। अपने साहित्य पर हुई टिप्पणियों के पक्ष में अज्ञेय स्वयं भी प्रतिक्रिया देते दिखाई देते हैं। कई बार अज्ञेय आरोपित टिप्पणियों पर ज्यादा गौर न कर, विषय का रुख ही बदल देते हैं। हिन्दी साहित्य जगत् में अज्ञेय को कवि, कथाकार, निबंधकार, आलोचक, सम्पादक, पत्रकार किस भूमिका में स्वीकारा जाना चाहिए, इसका निर्णय इस विषय द्वारा अज्ञेय के समस्त साहित्य पर हुए विश्लेषण से ज्ञात हो सकेगा। प्रस्तुत शोध-प्रबंध इसी दिशा में एक छोटा-सा प्रयास हैं।

शोध-प्रबंध के कुल पांच अध्याय हैं। **पहला अध्याय, 'हिन्दी आलोचना की परम्परा और अज्ञेय की आलोचना'** है, जिसमें हिन्दी साहित्य जगत् में आलोचना का आरंभ, परम्परा, विकास आदि का परिचयात्मक वर्णन किया हैं। इस पारम्परिक ढाँचे में अब तक आलोचकों ने कई प्रकार से मापदंड के पैमाने बदले हैं। जिसका प्रभाव आलोचना की कसौटी के साथ-साथ रचनाकार व उसकी कृतियों पर भी पड़ता हैं। इस आलोच्य परम्परा में रचनाकार अज्ञेय की आलोचना 'कब से', 'कैसी', 'किन दृष्टिकोणों' से शुरू हुई आदि की चर्चा की गई हैं। अज्ञेय पर हुई आलोचनाओं का स्वयं अज्ञेय ने 'कैसे व क्या' प्रत्युतर दिया है? आरंभिक आलोच्य दृष्टिकोण 'कैसे' रचनाकार के दिवासान पश्चात् बदलते गए? किन कसौटियों को अज्ञेय ने स्वीकृत किया व किन्हें अपने पाठकों व कृतियों के लिए खारिज़ कर स्वयं मूल्यांकित किया आदि पहलुओं का वर्णन किया हैं।

दूसरा अध्याय, 'अज्ञेय के काव्य का मूल्यांकन' है। कविता के विषय में प्रत्येक कवि की अलग सोच व विचार होते हैं। उसकी अपनी साहित्यिक समझ कई बार नए आंदोलनों को जन्म देती हैं। अज्ञेय कविता को लेकर क्या मत रखते है? और उनकी सोच कविता जगत् को कब व कैसे आंदोलित करती है? अज्ञेय की आरंभिक एवं परवर्ती कविता पर आलोचकों ने क्या राय दी है? इन मतों से बनती धारणाओं से अज्ञेय के लेखन-कर्म व

आलोचना-कर्म पर क्या प्रभाव पड़ता हैं? यह निश्चित धारणा समय के साथ बदलती जाती है, इस बदलाव के कारण बताए गए हैं। इसके बाद 'कवि' अज्ञेय के अपने पक्ष में दिए गए मतों का वर्णन किया हैं। आलोचकों तथा अज्ञेय के मतों को एकत्र कर उनकी तुलना करके मूल्यांकन किया हैं।

तीसरा अध्याय, 'अज्ञेय के कथा-साहित्य का मूल्यांकन' है, जिसमें सबसे पहले यह बतलाने का प्रयास किया है कि हिन्दी कथा साहित्य में बदलाव कैसे और कहां से शुरू हुआ। अज्ञेय कथा साहित्यकार को लेकर क्या सोचते है? उपन्यासकार के रूप में अज्ञेय की क्या आलोचना हुई तथा उनके किन आधुनिक विचारों का विरोध हुआ? कहानीकार अज्ञेय पर आलोचकों के क्या विचार है? तथा अज्ञेय की कहानियों व निजी पहलुओं को एक साथ रखकर आलोचकों ने क्या-क्या मत दिए हैं? स्वयं अज्ञेय ने किन-किन आधुनिक विचारों का समर्थन किया है तथा उन्होंने अपने कथा-साहित्य को लेकर क्या कहा है? उनके निजी जीवन के साथ जोड़कर उनके उपन्यासों पर लगातार क्या-क्या आक्षेप लगाए गए? इन आक्षेपों के सम्बन्ध में अज्ञेय ने क्या प्रतिक्रिया दी हैं आदि का मूल्यांकन किया हैं।

चौथा अध्याय, 'अज्ञेय के कथेत्तर गद्य-साहित्य का मूल्यांकन' है। इस अध्याय में कथेत्तर साहित्य में अज्ञेय की आलोचक दृष्टि कैसी तथा किन नए मुद्दों व विचारों की स्थापना करती हैं? उनके निबन्धों, डायरियों, संस्मरणों आदि में किन विषयों पर अधिक विचार किया गया है? तथा उन विचारों को लेकर आलोचकों की क्या धारणा हैं? ललित निबन्धों में अज्ञेय का व्यक्तित्व कैसे अन्य रचनाओं से अलग लक्षित होता है? 'आलोचक अज्ञेय' को हिंदी आलोचना में आलोचकों ने कौन-सा वर्ग व स्थान दिया है? आलोचक के रूप अज्ञेय ने अपनी तथा अन्य रचनाकारों की रचनाओं का किस आधार पर विश्लेषण किया हैं? आदि सभी का विश्लेषण किया हैं।

पाँचवा अध्याय, 'अज्ञेय की सम्पादन-कला का मूल्यांकन' हैं, इसमें सम्पादक की भूमिका में आने पर अज्ञेय को किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा? साथ ही उन्होंने कौन-कौन सी पुस्तकें संपादित की? 'तारसप्तक' एवं अन्य सप्तकों के सम्पादन को लेकर आलोचकों ने अज्ञेय पर क्या-क्या आरोप लगाए? समकालीन रचनाकारों के साहित्य का सम्पादन करते हुए अज्ञेय की कैसी विचारधारा अपनाते हैं? पत्रकार के रूप

में अज्ञेय ने हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में क्या नए बदलाव किए? पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन में यह नयापन अज्ञेय की छवि को कैसे व कितना प्रभावित करता हैं? पत्र-पत्रिकाओं के अंकों में साज-सज्जा, चित्र, रंग और कौन-से अलग एवं नए विषयों को स्थान दिया गया? आदि पर विचार किया हैं।

उपसंहार, में सभी अध्यायों को समेटते हुए मैनें यह बतलाया है कि इस मूल्यांकन में क्या महत्वपूर्ण तथ्य खोजने का प्रयास किया हैं। हिन्दी साहित्य जगत् में अज्ञेय इन सभी भूमिकाओं में से किन भूमिकाओं में सफल हुए हैं? साथ ही अब तक जितने भी आरोप रचनाकार एवं उसकी रचनाओं पर लगे उनमें से कितने पूर्वग्रहों से मंडित थे, व कितने आरोप उन पर सही ठहरते हैं?

ग्रन्थानुक्रमणिका में आधार-ग्रन्थों और सन्दर्भ-सहायक ग्रन्थों, अंग्रेजी पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं आदि की सूची दी गई हैं।

शोध क्या हैं? एवं शोध करने के लिए किन मुख्य बातों का ध्यान रखना चाहिए? मैं इन तथ्यों से एम.फिल में प्रो० रामबक्ष जी की 'शोध-प्रविधि' की कक्षा में अवगत हुई। उन्होंने शोध को लेकर कुछ ऐसी जमीनी बातें सामने रखी, जिससे शोधार्थी अपने भीतर शोध करने की कला विकसित कर सके। शोध के भारी-भरकम स्तर को इस ढंग से समझाया कि मेरी कच्ची मिट्टी धीरे-धीरे परिपक्वता की ओर बढ़ती गई। मैं प्रो० रामबक्ष जी की बेहद शुक्रगुज़ार हूँ कि उन्होंने मुझे अपने निर्देशन में शोध-कार्य करने की अनुमति दी। पहले अध्याय से लेकर अंत तक उन्होंने अपने महत्वपूर्ण कार्यों के रहते मेरे शोध-कार्य में अपना भरपूर सहयोग दिया। मुझे उनके निर्देशन से सिर्फ शोध की ही नहीं, जीवन की भी कई बारीकियाँ सीखने को मिली हैं। शोध के साथ-साथ अध्यापन कार्यों की व्यस्तता के रहते हुए भी उन्होंने मुझे अनावश्यक उत्साह तथा हताशा में पड़कर भटकने से सदैव बचाए रखा हैं। शोध-कार्य के एक-एक अध्याय की जांच के बाद भी मेरे मन में एक डर-सा बना हुआ है कि पता नहीं सर को मेरा काम कैसा लगा होगा? उनके लेखन और अनुभवों ने मुझे हमेशा अपने लक्ष्य को पाने के लिए प्रेरित किया हैं। अपने शोध-निर्देशक प्रो० रामबक्ष जी के इस अमूल्य सहयोग एवं समय के लिए आभारी हूँ और आजीवन उनसे मार्गदर्शन की कामना करती हूँ।

शोध निर्देशक प्रो० रामबक्ष जी के मेरे शोध कार्यकाल की अंतिम अवधि में सेवानिवृत होने पर अगले शोध-निर्देशक कौन होगें? अब इस आखिरी पड़ाव में कौन मुझे अपने शोधार्थी के रूप में स्वीकृति देगें? यह बड़ा असमंजस्य का विषय था। इस कठिन समय में प्रो० रामबक्ष जी ने मुझे अपना शोध-निर्देशक चुनने के लिए कुछ नाम सुझाए और चुनाव का निर्णय मुझ पर ही छोड़ दिया। उनमें एक नाम प्रो० देवेन्द्र कुमार चौबे जी का भी था। चौबे जी से मेरी पहली मुलाक़ात एम.फिल के इंटरव्यू में हुई थी। एम.फिल कोर्स वर्क के दौरान चौबे जी ने हम सभी शोधार्थियों से एक प्रोजेक्ट कार्य कराया था। इस सर्वेक्षण का उदेश्य हिन्दी पढ़ने-लिखने वालों से इतर अन्य विषयों के प्रोफेसरों की हिन्दी-साहित्य में रूचि की जांच-पड़ताल से था। अन्य भाषी केन्द्रों में घूम-घूम कर हमें कई प्रोफेसर से मिलने का मौका मिला और यह ज्ञात हुआ कि हिन्दी-साहित्य को लेकर अन्य विषयों के विशेषज्ञों में भी इतनी दिलचस्पी कायम हैं। यह सब सोचते-सोचते मैं प्रो० देवेन्द्र कुमार चौबे जी के पास गई। मैंने उनके सामने पूरी बात संक्षेप में रखी कि मैं आपके निर्देशन में अपना शोध-प्रबंध जमा करने की अनुमति लेने आई हूँ। उन्होंने बड़े स्नेह के साथ मेरी बात सुनी और मुझे एक संतोषजनक मुस्कान के साथ स्वीकृति-पत्र हस्ताक्षर करके दे दिया। शोध के इस अंतिम पड़ाव में शोध-निर्देशक के रूप में प्रो० देवेन्द्र चौबे जी के इस महत्वपूर्ण सहयोग की मैं बेहद आभारी हूँ। आपकी सहमति से मेरा पी एच.डी शोध-कार्य पूर्णता प्राप्त कर सका है। इस सहयोग के लिए प्रो० देवेन्द्र कुमार चौबे जी को मैं तहेदिल से धन्यवाद देती हूँ।

मेरे अब तक के सफर में मित्र राहुल का सहयोग चाहे-अनचाहे मुझे मिलता ही रहा है। जीवन में कुछ ऐसे दोस्त हमेशा साथ होने चाहिए जिनसे आपको हिम्मत मिलती रहे। उसके इस सहयोग एवं हौसलाअफजाई के लिए शुक्रगुजार हूँ और कामना करती हूँ कि जीवन के अगले पड़ावों में भी उसकी मित्रता व सहयोग यूँ ही बना रहे।

मेरे सहकर्मी और मित्र कान्हा राम मीना जी का भी शुक्रिया अदा करती हूँ। जिनकी सहायता से मुझे वे महत्वपूर्ण पुस्तकें समय पर मिल सकी, जो पुस्तक-प्रकाशकों के पास खत्म हो चुकी थी। मेरे विषय से जुड़े कई महत्वपूर्ण लेख, सम्पादकीय, शोध-ग्रन्थ, पत्रिकाएँ आदि सहायक-सामग्री जुटाने में इनका भरपूर सहयोग रहा हैं। अपने समस्त कार्यभार से कीमती समय देने के लिए कान्हा राम मीना जी के प्रति मैं नि:शब्द ही अनवत हूँ।

शोध-कार्य के लिए जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय (नार्थ-साऊथ कैम्पस), साहित्य अकादमी, दिल्ली पब्लिक लाइबेरी, मोतीलाल नेहरु महाविद्यालय (सांध्य), इन्द्रप्रस्थ कॉलेज आदि के पुस्तकालयों की आभारी हूँ। इनसे मेरे शोध-विषय से जुड़ी कई महत्वपूर्ण पुस्तकें व सामग्री उपलब्ध हो सकी।

अपने मम्मी-पापा, भाई-बहन के स्नेह व सहयोग के लिए धन्यवाद देती हूँ। जिन्होंने मुझे हर तरह के पारिवारिक तनावों से दूर रखा।

"श्रेय नहीं कुछ मेरा" ....शोध एक ऐसा सहकारी प्रयास है, जिसे गुरुजनों, परिजनों, मित्रों के सहयोग के बिना दिशा नहीं दी जा सकती। उन साथियों का भी शुक्रिया जिन्होनें जाने-अनजाने मुझे सहयोग दिया।

अंत में अज्ञेय की कविता 'असाध्य वीणा' से एक पंक्ति :

प्रिय पाठक! यों मेरी वाणी भी

मौन हुई।

शोधार्थी

सिम्मी चौहान

अनुक्रमणिका

भूमिका i-viii

1. पहला अध्याय : हिन्दी आलोचना की परम्परा और अज्ञेय की आलोचना 1-34

1.1 हिन्दी आलोचना : परम्परा और विकास

1.2 हिन्दी आलोचना में अज्ञेय : सवाल और बदलते दृष्टिकोण

2. दूसरा अध्याय : अज्ञेय के काव्य का मूल्यांकन 35-99

2.1 अज्ञेय का काव्य : नई सोच एवं विचार

2.2 कवि अज्ञेय : आलोचकों के आरोप, प्रतिक्रिया एवं स्पष्टीकरण

2.3 असाध्य वीणा : अर्थान्वेषी वाद-संवाद

2.4 काव्य-नाटक : उत्तर प्रियदर्शी

3. तीसरा अध्याय : अज्ञेय के कथा-साहित्य का मूल्यांकन 100-179

3.1 अज्ञेय के उपन्यास : पाठ, बहस और मूल्यांकन

3.2 अज्ञेय की कहानियाँ : पाठ, बहस और मूल्यांकन

4. चौथा अध्याय : अज्ञेय के कथेत्तर गद्य-साहित्य का मूल्यांकन 180-229

4.1 अज्ञेय का कथेत्तर साहित्य : स्वरूप एवं समीक्षाएं

4.2 हिन्दी आलोचना और आलोचक अज्ञेय : विषय और विश्लेषण

5. पाँचवा अध्याय : अज्ञेय की सम्पादन-कला का मूल्यांकन 230-264

5.1 हिन्दी पत्रकारिता और अज्ञेय

5.2 सम्पादन कला : चुनौतियाँ और सन्दर्भ

उपसंहार 265-280

सन्दर्भ ग्रन्थ 281-297

पहला अध्याय

हिन्दी आलोचना की परम्परा और अज्ञेय की आलोचना

हिन्दी आलोचना की परम्परा और अज्ञेय की आलोचना

1.1 हिन्दी आलोचना : परम्परा और विकास

1.2 हिन्दी आलोचना में अज्ञेय : सवाल और बदलते दृष्टिकोण

हिन्दी आलोचना की परम्परा और अज्ञेय की आलोचना

1.1 हिन्दी आलोचना : परम्परा और विकास

'आलोचना' एक बहुआयामी कर्म हैं । जहाँ आलोचक का काम-सृजन का पुनर्सृजन करने से एक कदम आगे होता हैं । साहित्यिक कृत्तियों की भली-भाँति जाँच, उनमें अंतर्निहित गुण-दोषों का उद्घाटन, परीक्षण एवं मूल्यांकन सृजन से पुनर्सृजन की प्रक्रिया है । इस क्रम में आलोचक का अगला कदम 'पाठकीय रूचि तथा संवेदना को जागृत करना है, जिससे स्वस्थ, समृद्ध और समुन्नत साहित्य का निर्माण हो सके ।'[1]

हिन्दी आलोचना के विकास में साहित्य को बनाने तथा नए दृष्टिकोण से समझने का पहला प्रयास भारतेंदु युगीन आलोचकों ने किया । इन्होंने जीवन की बहुपक्षीय संवेदनाओं को साहित्य के माध्यम से चित्रित किया और उसी के आधार पर अपने आलोचना के मानदंडों का निर्माण किया । इस युग के आलोचक मूलतः सर्जक साहित्यकार थे, जो अपने समाज व प्रशासन तन्त्र की ही अधिकाशतः आलोचना कर रहे थे । इस विषय में **विश्वनाथ त्रिपाठी** का कथन है कि, "भारतेन्दु युग के जिन साहित्यकारों के द्वारा नईं आलोचना का सूत्रपात हुआ, उनमें प्रायः सभी मुख्यतः सर्जक साहित्यकार थे । सामाजिक उत्तरदायित्व से युक्त जीवनवादी सर्जक साहित्यकारों की इस दृष्टि ने जिस प्रकार नाटक और काव्य तथा कथा-साहित्य को प्रभावित किया, उसी प्रकार आलोचना को भी ।"[2]

साहित्य के क्षेत्र में आलोचना का सूत्रपात भारतेंदु युग से लक्षित हुआ हो, ऐसा नहीं हैं । इसके इतिहास पर विश्लेषण करने वाले विद्वानों ने आलोचना का सूत्रपात 'रीतिकाल' व उसके कुछ (भक्तिकाल) पहले भक्ति का प्रभाव इतना प्रबल रहा कि उनके लिए काव्य-

---

[1] Literary criticism (greek-krities-judge, umpire to distinguish, decide,interpret involes the study and interpretation of literary art and itself forms a branch of literature, Everyman's Encyclopedia Vol-8. Pg-10

[2] विश्वनाथ त्रिपाठी - हिन्दी आलोचना, पृ० सं० -15

रचना मात्र एक साधन रूप रही । यहाँ अलग से किसी काव्यादर्शन की चर्चा नहीं मिलती । क्या उनमें सूक्ष्म-विश्लेषण व मौलिकता का प्रायः अभाव ही मिलता हैं । इस प्रभाव तथा अभाव को स्पष्ट करते हुए **रामचन्द्र शुक्ल** का मत हैं कि, "इस एकीकरण (आचायर्त्व और कृतित्व) का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा । आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन और पयार्लोचन-शक्ति की अपेक्षा होती हैं उसका विकास नहीं हुआ । कवि लोग दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कर्म में प्रवृत हो जाते थे। काव्यांगो का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खण्डन-मण्डन, नए-नए सिद्धांतों का प्रतिपादन आदि कुछ भी न हुआ ।"[1]

रीतिकालीन आलोचना की सबसे बड़ी समस्या भाषा भी थी जोकि पद्यात्मक थी । इस युग के आचार्य कवियों ने भाषा के क्लिष्ट एवं सीमित मानदंडों में फंसकर ही दो-चार पक्तियों में लक्षण मात्र देकर अपना आलोचना-दायित्व पूर्ण समझा । इस संकीर्ण विश्लेषण से कवि तथा विषय दोनों ही आधे-अधूरे रह गए । रीतिकालीन आलोचकों के इन लक्षणग्रंथो की कमियों पर प्रकाश डालते हुए **नंददुलारे वाजपेयी** कहते है कि, "लक्षणग्रंथों में उल्लेख....श्रृंगार रस का कोई प्रसंग लेते है । लक्षण ग्रन्थ द्वारा हम यह तो जान गए कि उक्त उद्धरण श्रृंगार रस का है किन्तु वह रस कितने छिछले अथवा कितने सौम्य श्रृंगार का है, इसकी तुलनात्मक और मनोवैज्ञानिक विवेचना हम साधारणतः लक्षण ग्रन्थों में नहीं पातें । ...उस रस विशेष की अभिव्यंजना कितनी शक्तिपूर्ण अथवा निःशक्त प्रणाली से हुई,....सामाजिक पृष्ठभूमि क्या है?....इसके जानने का भी कोई साधन नहीं रहता । ....आलोचना के ये ही प्रधान सूत्र है और लक्षण ग्रन्थों में इन्हीं का अभाव हैं।"[2]

इसके बजाए आलोचना के नाम पर - 'स्फुट काव्य उक्तियों' का प्रयोग सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक आलोचना के लिए हुआ है । इस काल की आलोचना में न तो काव्य की विस्तृत आलोचना है, न ही उसके लिए कोई निश्चित मानदंड । इतने अभाव के बावजूद भी **रामचन्द्र तिवारी** ने रीतिकालीन आलोचना के योगदान को लक्ष्य करते हुए लिखा है

---

[1] रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास , पृ० सं०-115

[2] नंददुलारे वाजपेयी – हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी पृ० सं०- 25

कि, "उनकी स्थापनाएँ (रीतिकालीन आचार्यों की) आज भी प्रासंगिक है और हिन्दी आलोचना के विकास के प्रत्येक चरण में उनसे प्रेरणा और शक्ति ग्रहण की है।"[1]

हिन्दी आलोचना के इस आरंभिक स्वरूप में बदलाव गद्य की नई विकसित विधाओं से हुआ। रचना-विषय, युग, भाषा-शैली के साथ-साथ आलोचना के प्रतिमान व स्वरूप भी बदलते गए। इस विषय में **डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी** मानते है कि, "जनसमूह के हृदय की भावनाओं का आग्रह करके ही हिन्दी की आलोचना रीतिकाल केंचुल उतार कर आधुनिक बनी।"[2]

साहित्य का पाठक राजदरबार का रसिक सहृदय नहीं, बल्कि मध्यवर्ग का शिक्षित व्यक्ति था। भारतेंदु युग में आलोचना का दायित्व इसी पाठक समुदाय की रूचि से जुड़ना था। 'मुद्रण यंत्र' ने जिस तेजी से रचनात्मक साहित्य के प्रकाशन में जोर पकड़ा, उसी अनुपात में आलोचना का विकास नहीं किया। क्योंकि आलोचना के मानदंड अब भी परम्परा मोह तथा सैद्धांतिक परिपाटी से बंधे थे। आलोचना के नाम पर कुछ सैद्धांतिक ग्रन्थ, निबंध तथा मुख्य रूप से पुस्तक समीक्षा व परिचय ही लिखे जा रहे थे।

इस सन्दर्भ में **विश्वनाथ त्रिपाठी** का मत उल्लेखनीय है कि, "आलोचना के अंतर्गत किसी सम्पूर्ण कृति के गुण दोषों की समीक्षा का कार्य हिन्दी में चौधरी बदरी नारायण 'प्रेमघन' और बालकृष्ण भट्ट के द्वारा प्रारम्भ हुआ।"[3]

लेकिन इन समीक्षाओं का उल्लेख मात्र गुण-दोष विवेचन तक ही सीमित नहीं था। किसी रचना में आवश्यक भाव-विचारों को कैसे गूँथा जाए? रचनाकार की समझ कैसे व्याख्यायित की जाए? आदि बातों का विश्लेषण भी किया हैं। 'हिन्दी प्रदीप' में 1860 में 'सच्ची कविता' नामक निबंध में **बालकृष्ण भट्ट** ने कहा है कि, "स्वाभाविक और बनावट में बड़ा अंतर होता है। हमारे मन में जो भावना जिस समय जैसे उठी, कह डाली। यदि

---

[1] रामचन्द्र तिवारी – हिन्दी आलोचना : शिखरों का साक्षात्कार , पृ० सं०- 9

[2] विश्वनाथ त्रिपाठी - हिन्दी आलोचना, पृ० सं० – 51

[3] विश्वनाथ त्रिपाठी - हिन्दी आलोचना , पृ० सं०- 19-20

हमारे मन की उमंगे सच्ची है तो जो बातें हमारे चित्त से निकलेगी, सच्ची होगी और उनका असर भी सच्चा ही होगा ।"[1]

हिन्दी आलोचना के विकास में भारतेंदुयुगीन आलोचना पर विचार करते हुए **डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी** का कथन है, " 'हिन्दी प्रदीप' के पृष्ठों में ही हिन्दी की व्यावहारिक समीक्षा का जन्म होता है । 1886 के प्रदीप में बालकृष्ण भट्ट ने लाला श्रीनिवास दास के नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' की 'सच्ची समालोचना' प्रकाशित की । यदि भारतेंदु के निबंध 'नाटक' (1883) से हिन्दी में सैद्धांतिक आलोचना का सूत्रपात होता है तो 'सच्ची समालोचना' (1886) से व्यावहारिक आलोचना का । यह आलोचनात्मक लेखन अपने युग की केन्द्रीय विधा नाटक से जुड़ा है तो .....आलोचना भी इस चुनाव के महत्त्व को समझने में चूक नहीं करती है ।"[2]

इन पुस्तक समीक्षाओं के अतिरिक्त इस युग में रस, अलंकार, नाटक आदि काव्यशास्त्रीय विषयों पर ब्रजभाषा युक्त टीकाओं व परिचयात्मक लेख भी मिलते हैं ।

भारतेंदु युग की अगली कड़ी **'महावीर प्रसाद द्विवेदी'** ने आलोचना की दिशा निर्धारित करने का प्रयास किया । सन् 1893 में 'काशी नागरी प्रचारणी सभा' की स्थापना हुई । जिसने भारत के प्राचीन साहित्य पर शोध किया । इस संस्था ने हिन्दी भाषा का व्याकरण और हिन्दी शब्द पर काम किया । इनके शोधों की रिपोर्टो की सहायता से 'हिन्दी भाषा का इतिहास' और 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखा गया । 1900 ई० में 'सरस्वती' साहियित्क पत्रिका का आरम्भ हुआ । 1903 ई० में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इसके सम्पादकत्व में 'पुस्तक परीक्षा' नाम से एक स्तम्भ शुरू किया । 1900 ई० में बनारस से 'सुदर्शन' तथा 1902 ई० में जयपुर से 'समालोचक' आदि पत्रिकाओं का उदेश्य भी पुस्तक की परिचयात्मक समीक्षा ही था । इस सन्दर्भ में विचार करते हुए **डॉ० अशोक द्विवेदी** का मत है कि, "....उनके सम्पादन में 'सरस्वती', 'समालोचना' और 'नागरी प्रचारणी' पत्रिका के द्वारा काव्य-समीक्षा की परिचयात्मक

---

[1] राजेन्द्र प्रसाद शर्मा – हिन्दी गद्य के निर्माता : बालकृष्ण भट्ट , पृ० सं०-356

[2] रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास , पृ० सं०- 90

और विश्लेषणात्मक रूपरेखा प्रस्तुत हुई । उन्होनें काव्य-समीक्षा को रीतिवादी जकड़बंदी से उबारकर उसे एक स्वतंत्र दिशा में मोड़ने का कार्य किया । लेकिन उनकी समीक्षा परिचयात्मक और वर्णनप्रधान होने के साथ-साथ 'आशीर्वाद और नीतिवाद' की शर्त पर चलती थी ।"[1]

वास्तव में इन पत्रिकाओं ने आरम्भ में जिस परिचयात्मक रूप में समीक्षाएँ की । वे मूलतः प्रचारात्मक थी । लेकिन धीरे-धीरे द्विवेदी युगीन लेखकों ने गुटबंदी कर पुस्तकों की निंदा-प्रशंसा शुरू कर दी । द्विवेदी जी की आलोचना-पद्धति में जितनी निर्भीक कट्टरता मिलती है, ज्ञानार्जन में उतनी उदार ग्रहणशीलता भी लक्षित होती है । उनके लिए समालोचना का सही अर्थ **'खंडन-मण्डन और उसमें भी खंडन'**[2] ही अधिक था ।

हिन्दी आलोचना के विकास में मिश्रबन्धुओं के 'हिन्दी नवरत्न' ग्रन्थ का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है । श्री गणेशबिहारी मिश्र, रावराजा डॉ० श्याम बिहारी मिश्र और रायबहादुर शुकदेव बिहारी मिश्र की बन्धु-त्रयी को 'मिश्रबन्धु' नाम दिया गया । 'हिन्दी-नवरत्न' में नौ महत्त्वपूर्ण लेखकों को आलोचना का विषय बनाया गया । साथ ही अपनी आलोचना-दृष्टि के सन्दर्भ में कुछ विचार भी दिए । 'हिन्दी-नवरत्न' की भूमिका में **मिश्रबन्धुओं** ने कहा है कि, "समालोचना केवल किसी कवि का हाल ही नहीं बताती, वरन् साधारण पाठक समाज में औचित्य भी बढ़ाती हैं । ...प्रत्येक पाठक की रूचि भिन्न हुआ करती हैं, परन्तु वह अपनी रूचि के अनुरूप सब ग्रन्थ खोजने में सदैव समर्थ नहीं होता । समालोचना से हर एक ग्रन्थ का असली रूप साधारण पाठक के सम्मुख, बिना उसके पढ़े ही उपस्थित हो जाता हैं ।"[3]

इस वर्ग के आलोचकों ने शास्त्रीय ढंग की काव्यालोचना तथा श्रेणी-क्रम निर्धारण के प्रति अपना आग्रह रखा । आलोच्य विषय के प्रति सहृदयता एवं पूर्ण जानकारी के साथ जिन ग्रन्थों का निर्माण होता हैं, उससे ".....कवियों की रचनाओं के जौहर चमकते है और

---

[1] डा० अशोक द्विवेदी – समीक्षा के नए प्रतिमान , पृ० सं०- 24

[2] निर्मला जैन – हिन्दी आलोचना का दूसरा पाठ , पृ० सं०- 22

[3] मिश्रबन्धु – हिन्दी नवरत्न, भूमिका, पृ० सं०- 18

उत्कृष्ट तथा शिथिल ग्रन्थों के भेद समझने में साधारण मनुष्य भी कृतकार्य होते हैं । इसी से संसार में श्रेष्ठ कवियों का मान बढ़ता है और निकृष्ट ग्रन्थों का प्रचार कम होता हैं ।"[1]

चार भागों में प्रकाशित 'मिश्रबन्धु विनोद' ने भी आलोचना विकास-क्रम में अपना स्थान बनाया है । इस ग्रंथ को आचार्य शुक्ल ने 'बड़ा भारी कविवृत-संग्रह' कहा है । इस विकास-क्रम में लाला भगवान दास की 'अंलकार मंजूषा' (1916) शास्त्रीय आलोचना का परिचय देती है । वही मिश्रबन्धुओं के 'हिन्दी नवरत्न' तथा पदम् सिंह शर्मा की समीक्षा देव और बिहारी के बीच श्रेष्ठता का प्रश्न खड़ा कर तुलनात्मक आलोचना का उदाहरण बनती है । साथ ही बाबू श्याम सुंदर दास, गुलेरी जी, राधाकृष्ण दास, जगन्नाथदास 'रत्नाकर' आदि ने अन्वेषण और अनुसन्धानपरक आलोचना का परिचय दिया । इन आलोचकों की रूचि शास्त्रीय और काव्य संस्कार रीतिबद्ध रहा, किन्तु 'उसका स्वरूप प्रायः रूढ़िगत (कन्वेशनल) ही रहा ।'[2] इसी युग में दूसरा वर्ग ऐसा भी उभर रहा था जिसने इस रीतिबद्धता को नकारा । एक नई काव्य-रूचि के प्रति आग्रहशील होकर आलोचना के नए मानदंडों की खोज कर रहा था । यह बात ओर है कि यह खोज मात्र आग्रह में ही सिमटकर रह गई । विश्वनाथ त्रिपाठी इस वर्ग में 'बालमुकुन्द गुप्त'[3] को प्रमुख मानते हैं । 'सरस्वती' तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित छिटपुट आलोचनात्मक लेखों में परम्परागत प्रतिमानों का निषेध कर अपने आक्रामक विचार व्याख्यात्मक आलोचना स्वरूप दिए ।

द्विवेदी युगीन आलोचकों ने आलोचना-विकास प्रकिया में कई प्रकार की आलोचनाओं को जन्म दिया हैं । आलोचना के ये विविध रूप इस युग का महत्त्वपूर्ण योगदान है, जिसने नए मानदंडो की पृष्ठभूमि बनाई हैं ।

अब तक साहित्य में आलोचना का विकास गुण-दोष विवेचन, तारतमिक श्रेणी-विभाजन, तथा रीतिकालीन कवियों की प्रतिभा को प्रतिष्ठित करने की अंधी दौड़ वाले

---

[1] मिश्रबन्धु – हिन्दी नवरत्न, भूमिका, पृ० सं०- 19

[2] आ० रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० सं०- 638

[3] विश्वनाथ त्रिपाठी – हिन्दी आलोचना, पृ० सं०- 47

मानदंड पेश कर रहा था । इस विकास-क्रम में अगला चरण रामचन्द्र शुक्ल का है । इस युग को 'शुक्ल-युग' की तथा 'मानदंड निर्धारण काल'[1] भी कहा गया है । शुक्ल ने परम्परागत शास्त्रीय आलोचना शैलियों का मान रखते हुए, अपने युग की आवश्यकताओं और परिस्थितियों को देखते हुए नए मानदंडों की स्थापना की । इस युग से हिन्दी की विशुद्ध आलोचना का आरम्भ हुआ । रामचन्द्र शुक्ल शुद्ध साहियित्क आलोचक न होकर लोकमंगल के आलोचक थे । इस सन्दर्भ में **नामवर सिंह** का मत है कि, "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कोरे साहित्य-समालोचक न थे । कभी-कभी किसी जाति के जीवन में ऐसी स्थितियाँ आती है कि वह दायित्व, जो अर्थशास्त्रियों को, राजनीतिज्ञों को, समाज सुधारकों को निभाना चाहिए या दूसरे विज्ञान के क्षेत्रों में काम करने वाले लोगों को, साहित्य के समालोचकों को निभाना पड़ता हैं ।"[2]

शुक्ल ने ऐसी ही आलोचना का विकास किया जो सभ्यता और संस्कृति की आलोचना के रूप में विकसित हुई । शुक्ल ने साहियित्क रूचि में परिवर्तन कर हिन्दी आलोचना का केंद्र 'रीति कविता' के स्थान पर 'भक्तिकालीन कविता' को बनाया । नागरी प्रचारणी सभा में 'हिन्दी शब्द सागर' की भूमिका के रूप में साहित्येतिहास की रचना की । हिन्दी के तीन भक्तिकालीन कवियों – जायसी, तुलसी, सूरदास के ग्रन्थों की भूमिकाएँ लिखकर व्याख्या-विश्लेषण की पद्धति से इनका व्यावहारिक मूल्यांकन किया । शुक्ल जी अपनी व्यावहारिक आलोचनात्मक अवधारणाएँ विकसित करते हैं, उन्हें सैद्धांतिक रूप देकर रूढ़ नहीं होने देते ।

रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखकर सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य की रुपरेखा तय की । यह ग्रन्थ हिन्दी आलोचना की युग-प्रवर्तक कृति कहलाता है । अपने इस इतिहास-ग्रन्थ में मुख्य रूप से तीन विशेषताओं को उभारा हैं – एक काल-विभाजन, दूसरा प्रत्येक काल की प्रमुख प्रवृत्तियों की व्याख्या और आलोचना, तीसरा

---

[1] डा० रामचन्द्र तिवारी – हिन्दी आलोचना : शिखरों का साक्षात्कार , पृ० सं०- 14-15

[2] संपा० खगेन्द्र ठाकुर – आलोचक के मुख से : नामवर सिंह, पृ० सं०- 55

कवि-परिचय में मनोवैज्ञानिक शैली से उनकी विशेषताओं का उद्घाटन । थोड़े-बहुत फेर बदल के साथ उनकी धारणाएँ आज भी मान्य हैं ।

शुक्ल की आलोचना का सैद्धांतिक पक्ष 'रस मीमांसा' और 'चिंतामणि' के निबंधों में दृष्टिगोचर होता है । इस विषय में **डॉ० नगेन्द्र** का मत उल्लेखनीय है, "रस मीमांसा की रचना आलोचना के अपने प्रतिमानों को सिद्धांतबद्ध करने का ही प्रयत्न हैं ।"[1]

'चिंतामणि' में कुल 17 निबंध हैं, जिसमें प्रथम दस मनोविकार सम्बन्धी हैं, शेष सात आलोचनात्मक हैं । शुक्ल ने भारतीय सैद्धांतिक आलोचना तथा पाश्चात्य व्यावहारिक आलोचना के मानदंडों का समन्वय कर अपनी सूझबूझ से नए मौलिक मानदंडों का निर्धारण किया हैं । इस सन्दर्भ में विश्लेषण करते हुए **डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र** का कथन है कि, "शुक्ल जी की समीक्षा उनके पूर्व से, अर्थात् सैद्धांतिक-युग के प्रारम्भ से चलती हुई परम्परा का चरम विकास है । उन्होंने उस पद्धति को पूर्णत: वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक कर दिया है । उनके चिंतन व्यक्तित्व ने इस पद्धति को विकसित रूप एवं स्थायित्व भी प्रदान किया है । निर्णयात्मक और तुलनात्मक तत्वों को उनकी विश्लेषणात्मक समालोचना ने पूर्णत: आत्मसात कर लिया हैं।"[2]

शुक्ल ने 'छायावाद' पर अपनी कुछ अलग धारणाएँ दी । काव्य में रहस्यवाद वे आरम्भ से ही स्वीकार नहीं करते । चाहे मध्यकाल हो, चाहे छायावादी युग । रहस्य तत्व साधना से जुड़ा, काव्य में उसका क्या काम । इस तरह छायावाद के स्वरूप को नए दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया । शुक्ल के आगमन ने हिन्दी आलोचना को एक निश्चित धरातल दिया, जिस पर आगामी आलोचकों ने अपने-अपने मानदंड बनाए । हिन्दी आलोचना के विकास क्रम में शुक्ल के योगदान पर विचार करते हुए **आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी** कहते है कि, "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के गौरव थे । समीक्षा क्षेत्र में उनका कोई

---

[1] डा० नगेन्द्र – हिन्दी वाङ्मय – बीसवी शती, पृ० सं०-291

[2] डा० भगवतस्वरूप मिश्र – हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास, पृ० सं०- 396-397

प्रतिद्वन्द्वी न उनके जीवन काल में था, न अब (उनके स्वर्गवास के बाद) कोई उनका समकक्ष आलोचक है ।"[1]

शुक्ल युग के एक ओर आलोचक 'श्यामसुंदर दास' ने शिक्षापयोगी मानदंड निर्धारित किए । जिसके फलस्वरूप इन्होनें तीन महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी – 'भाषा विज्ञान', 'हिन्दी भाषा और साहित्य', तथा 'साहित्यालोचन' । इन्होंने परम्परा और पूर्वग्रहों से दूर रहकर साहित्य को कला के अंतर्गत मानकर नई व्याख्या की है । वे मानते है कि किसी लेखक के व्यक्तित्व की छानबीन करके ही उसकी रचनाओं का मूल्यांकन किया जाए ; क्योंकि साहित्यकार जो कुछ लिखता है उस पर उसके विचारों और मनोभावों की छाप रहती हैं । जिससे पाठक आलोचक उसकी रचना को सही अर्थ में जान पाते हैं । इन्होनें व्यावहारिक आलोचना सम्बन्धी दो अन्य पुस्तकें 'कबीर ग्रन्थावली' और 'हिन्दी साहित्य' लिखी हैं । हिन्दी आलोचना में इनके शिक्षापयोगी मानदंडो को कटाक्ष स्वरूप कुछ विद्वानों ने 'अध्यापकीय आलोचना' कहा है ।

शुक्लोत्तर आलोचना में सांस्कृतिक एवं एतिहासिक आलोचना पद्धति विकासोन्मुख हुई । इस दौर के प्रमुख आलोचकों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, शांतिप्रिय द्विवेदी, देवराज आदि हैं । हिन्दी आलोचना में स्वच्छंदता एवं सौष्ठव दोनों दृष्टियों का पूर्ण समन्वय आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने किया । वे 'समीक्षक अनुभूति, अभिव्यक्ति तथा उसके मूल में रहने वाली ध्वनि के समन्वित सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं । समन्वय की इस स्थिति में अनुभूति और अभिव्यक्ति - दोनों ही अपनी रूढ़िग्रस्तता एवं परम्परामुक्तता की जड़ कारा से मुक्त होकर जिस सौष्ठव को व्यंजित करती हैं । उसी का अनुभूतिमय साक्षात् एवं मूल्यांकन इस पद्धति का प्रधान प्रयोजन है ।'[2]

---

[1] संपा० डा० गुलाबराय, डा० विजेयन्द्र स्नातक – आलोचक रामचन्द्र शुक्ल (लेख – हजारीप्रसाद द्विवेदी -आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), पृ० सं०- 19-20

[2] डा० सत्यदेव मिश्र – शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना पर पाश्चात्य साहित्यिक अवधारणाओं का प्रभाव, पृ० सं०- 227

वाजपेयी ने हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द, आधुनिक साहित्य, कवि निराला, नया साहित्य : नए प्रश्न, राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएं, महाकवि सूरदास आदि आलोचनात्मक ग्रथों में अपनी मार्मिक कलापूर्ण अभिव्यक्ति का परिचय दिया हैं। वे साहित्य के मूल्यांकन के लिए कवि की अंतर्वृतियों, मौलिकता, कलात्मक सौष्ठव, शैली, रचना के बाह्यंगों-समय, समाज की प्रेरणा, दार्शनिक-राजनितिक विचार आदि का अध्ययन आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार आलोचना का वास्तविक उद्देश्य रचनाओं की मार्मिक छवियों और उनकी दुर्बलताओं का उद्घाटन कर उनके माध्यम से व्यक्त जीवन-विविधताओं को सामने लाना हैं। वाजपेयी जी ने हिन्दी आलोचना में कई दोहरे मानदंड स्थापित किए हैं। जिसके चलते वे शुल्क की आलोचना को पांडित्यपूर्ण किन्तु वैयक्तिक रूचि की द्योतक मानकर उस पर 'वस्तुगत' और 'वैज्ञानिक' न होने का आरोप लगाते हैं। इसी तरह उन्होंने 'प्रयोगवादी रचनाओं' तथा अज्ञेय के 'तारसप्तक' पर कई आरोप मढ़े हैं। मुख्य रूप से वाजपेयी की आलोचना-दृष्टि छायावादी-काव्य के मूल्यांकन पर ही केन्द्रित रही हैं।

शुक्लोतर युग की अगली कड़ी में जुड़ने वाले आलोचक है - आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी (1907-1979 ई०)। इनकी आलोचना दृष्टि रचनात्मक है, जो रचना के मूल सौन्दर्य और विधायक तत्वों को समझने का प्रयत्न करती है। द्विवेदी ने 'आदिकाल', 'नाथ-सम्प्रदाय', 'कबीर', 'हिन्दी साहित्य का भूमिका', 'सूर-साहित्य', 'साहित्य का साथी', 'साहित्य का मर्म', 'विचार और वितर्क' आदि आलोचनात्मक ग्रन्थों से हिन्दी में एतिहासिक-सांस्कृतिक और समाजशास्त्रिय समीक्षा-पद्धति की स्थापना की। वे इस सिद्धांत के समर्थक है कि साहित्य के सौन्दर्य का आस्वाद और परिक्षण साहित्य के ही मानदंडों से होना चाहिए।

साहित्य का मूल सम्बन्ध यथार्थ जगत् से है, यह सम्बन्ध जितना अधिक गहरा होगा साहित्य उतना ही प्रभावशाली होगा। द्विवेदी जी आधुनिक जीवन-चेतना सम्पन्न साहित्य को सच्चा साहित्य मानते हैं। इस सच्चे साहित्य का निर्माण एवं मूल्यांकन तभी संभव है, जब पूर्वाग्रहपूर्ण मतों तथा रूचि विशेष दृष्टि का परित्याग किया जाए। वे

जीवन और साहित्य को गढ़ने वाले तत्वों को एक साथ स्वीकार करते हैं। आलोचना के क्षेत्र में निर्णयात्मक, व्याख्यात्मक, प्रभाववादी आलोचना दृष्टियों में निहित मूल मर्म को अनुस्यूत कर इन्हें एक-दूसरे की पूरक बनाया हैं। वे शुक्ल से दूर तक सहमत होते हुए भी प्रभाववादी आलोचना के सुंदर तत्वों को स्वीकार करते हैं।'[1] उनकी आलोचना-दृष्टि में यह संतुलित व्यवहार एक साथ पूर्व के रसवाद और पश्चिम की ट्रेजडिज, सामंजस्यवादी प्राचीन साहित्य और द्वंद्व उद्वेलित नवीन साहित्य सबका नवीन विश्लेषण करता है। जिसे शुक्ल जी की मान्यताओं के साथ-साथ थोड़े बदलाव के साथ आलोचना-जगत् ने स्वीकृति दी हैं। इतने पर भी इस विकास-क्रम की यात्रा में कुछ विद्वानों ने द्विवेदी जी की आलोचना-दृष्टि को आदिकाल-भक्तिकाल तक ही सीमित माना है। जबकि वे समसामयिक व आधुनिक प्रश्नों पर अपनी राय यथास्थान देते चलते हैं। 'आधुनिकता' के विषय में उठ रहे विवाद पर **द्विवेदी जी** ने अपना विश्लेषण देते हुए कहा है कि, "अत्यंत आधुनिक कवि इस भावुकता को पंसद नहीं करता। वह वस्तु को आत्म-निरपेक्ष भाव से देखने को ही सच्चा देखना मानते हैं। यह बात उसके निकट सत्य नहीं है कि वस्तु को उसने वैसा देखा, बल्कि यह है कि वस्तु उसके बिना भी वैसी है। इस वैज्ञानिक चित्तवृति का प्रधान आनन्द कौतूहल में है, उत्सुकता में है, आत्मीयता में नहीं।"[2]

निश्चय ही यह दृष्टिकोण संस्कृत और हिन्दी समीक्षा की ठेठ परम्पराओं से भिन्न था, जिसने हिन्दी आलोचना को नई दिशा की ओर उन्मुख किया।

इस दिशा में शास्त्रीय और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाएँ **डॉ० नगेन्द्र** ने भी की। इनका पहला आलोचनात्मक निबन्ध 'छायावाद' शीर्षक पर था। तत्पश्चात इनकी छायावादी कवि 'सुमित्रानंदन पंत' आलोचनात्मक पुस्तक प्रकाशित हुई। किन्तु शीघ्र ही वे पाश्चात्य आलोचना के प्रतिमानों से प्रभावित नजर आते हैं। जिसके चलते वे रिचर्ड्स की पुस्तक 'प्रिंसिपल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' से प्रेरित होकर हिन्दी में 'साहित्य में कल्पना का उपयोग' विषय पर शुद्ध सैद्धांतिक आलोचना करते हैं। इसी श्रृंखला में

---

[1] डा० रामदरश मिश्र – हिन्दी आलोचना : प्रवृत्तियाँ और आधारभूमि , पृ० सं०- 186-187

[2] हजारीप्रसाद द्विवेदी – साहित्य सहचर, पृ० सं०- 28

इनकी अन्य कृत्तियाँ - 'छायावाद की परिभाषा', 'साहित्य की प्रेरणा', साहित्य की आत्माभिव्यक्ति' सैद्धांतिक आलोचना स्वरूप लिखी गई । अपनी व्यावहारिक आलोचना में वे मुख्य रूप से कविता के शिल्प पर विचार करते हैं । शिल्प सम्बन्धी किस कवि में कौन-सी विशेषता है - 'कामायनी' , 'कुरुक्षेत्र', 'उर्वशी' में यह व्यावहारिक विश्लेषण मिलता है । नगेन्द्र ने 'रस-सिद्धांत' का विवेचन रूढ़ अर्थ में नहीं किया, बल्कि उन्होनें वैयक्तिक अनुभूति और मनोवैज्ञानिक यथार्थ पर रस की आधुनिक व्याख्या की । वे शुद्ध साहित्य की कल्पना करते हैं, जिसमें साहित्येत्तर मूल्यों और विचारों का प्रवेश वर्जित हैं। **नगेन्द्र** की मान्यता है कि, "साहित्य के मूल्यांकन की जो कसौटी अब तक चली आई हैं वही ठीक है - अर्थात् आनन्द । साहित्य की सृजन क्रिया स्वयं साहित्यकार को आनन्द देती है उसके व्यक्त रूप का ग्रहण पाठक या श्रोता को आनन्द देता है । हमें जो साहित्य जितना ही गहरा आनन्द दे सकेगा उतना ही वह महान होगा, चाहे उसमें किसी सिद्धांत का - साम्यवाद, गांधीवाद, मानववाद, पूंजीवाद किसी भी वाद का समर्थन हो या विरोध ।"[1] इस तरह डॉ० नगेन्द्र ने आलोचना के विकास-क्रम में अपना योगदान दिया है।

हिन्दी आलोचना में शुल्कोत्तर समीक्षकों में एक ओर नाम दर्ज होता है - **डॉ० देवराज** । ये कला की कसौटी अनुभूति की गहराई और व्यापकता, नवीनता को मानते हैं । इनकी आलोचना-दृष्टि रोमांटिकता के विरूद्ध क्लासिकता का विद्रोह है । क्लासिक के प्रति इनका आग्रह अनेक रूपों में व्यक्त हुआ हैं । काव्य शैली के रूप में वे कहते है कि, "स्पष्टता और सशक्तता, सघनता और यथार्थनुगमिता । आज किसी प्रकार के शब्दाडम्बर और हल्की रूचि के द्योतक वाग्वैदग्ध्य के लिए अवकाश नहीं । आज न हम श्लेष का भार सहन कर सकते हैं, न आडम्बरपूर्ण अनुप्रासों का ।"[2]

इस तरह देवराज ने सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों आलोचनाएँ क्लासिक भावधारा से की । समय-समय पर विभिन्न पत्रिकाओं में इनके लेख, प्रतिक्रियाएं, टिप्पणियाँ आदि इनकी आलोचना के मानदंड तय करती हैं । उनकी आलोचनात्मक कृत्तियों में -

---

[1] डा० नगेन्द्र – आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, 1974, पृ० सं०- 112

[2] डा० देवराज – साहित्य चिंता, पृ० सं०- 141

छायावाद का पतन, साहित्य-चिंता, प्रतिक्रियाएँ आदि प्रमुख हैं। वे मानते है कि, "जब किसी नवीन कला-कृति की अनुभव-गोचर महत्ता प्रचलित सिद्धांतों द्वारा व्याख्यायित नहीं होती, तब उसकी व्याख्या के लिए नए सिद्धांत की आवश्यकता पड़ती है।"[1] प्रतिमान के रूप में वे 'संस्कृति-बोध' को महत्त्व देते है। उनके अनुसार नए कवि की केन्द्रीय दुर्बलता 'संस्कृति तत्व का ह्रास व सांस्कृतिक बोध की क्षीणता' है। जिसके चलते वे लेखक न तो अधिक सृजनशील हो पाते है, न ही विशेष प्रगति कर पाते हैं।[2]

'अंलकार और ध्वनि', 'उर्दू गजल में चमत्कार', साहित्य के प्रयोजन', 'युग और साहित्य', 'हिन्दी आलोचना का धरातल', 'प्रयोगशील काव्य' आदि विभिन्न विषयों पर अध्ययन किया हैं। उन्होनें सही समय पर साहित्यिक चेतना में आने वाले बदलाव को पहचाना। रूमानियत के परित्याग की आवश्यकता को समझकर हिन्दी-आलोचना को सैद्धांतिक स्तर पर समृद्ध करने का प्रयास किया।'[3]

साहित्यिक मूल्यों को लेकर आलोचकों के बीच संघर्ष हर युग में चलता रहा है। 'छायावाद' को लेकर शुक्लोत्तर समीक्षकों ने गंभीर अध्ययन किया हैं। इतने पर भी असंतुष्ट आलोचकों का ऐसा वर्ग सामने आता है जो स्वयं छायावादी कवि थे। इस प्रवृत्ति के चार प्रमुख स्तंभ कवि - **पंत, प्रसाद, निराला, महादेवी**। इन कवि-आलोचकों ने इस बात पर बल दिया कि साहित्यिक कृत्तियों की समीक्षा करते समय समालोचक युग धर्म की उपेक्षा नहीं कर सकता। कृति की समीक्षा के मानदण्ड कृति के भीतर से फूटते हैं, इसलिए उन्हें कृति के भीतर ही खोजना चाहिए। प्रत्येक कवि ने अपने साहित्यिक मूल्यों तथा सृजन के मूल्यांकन हेतु मौलिक स्थापनाएँ व विचार दिए। इस विकास की श्रृंखला में कवि द्वारा स्वयं की गई आलोचनाएँ उसके ही रचना-कर्म के बीच से निकलकर आगे बढ़ी हैं। आगे चलकर अपने सृजन के प्रति स्वयं टिप्पणी तथा विचार करने की जिम्मेदारी कई कवियों ने उठाई हैं। जिससे वे अपने पाठकों को आलोचकों के भटकाव से

---

[1] वही, पृ० सं०- 19

[2] डा० देवराज – प्रतिक्रियाएँ, पृ० सं०- 210

[3] निर्मला जैन – हिन्दी आलोचना का दूसरा पाठ, पृ० सं०- 85

बचाकर अपनी रचना का सही परिपेक्ष्य स्पष्ट कर सके। 'अज्ञेय' ने भी इसी परिपाटी का अनुगमन किया है।

छायावादी काव्य की मूल संवेदना को परखने वाले एक ओर आलोचक **'शांतिप्रिय द्विवेदी'** है। इनकी आलोचनाएँ 'वस्तुसत्य' की अपेक्षा 'भावसत्य' पर विशेष बल देती है तथा व्याख्यात्मक आलोचनाएँ प्रभाववादी आलोचना की श्रेणी में आती हैं। लेकिन **आचार्य शुक्ल** ने अपने साहित्य इतिहास में प्रभाववादी आलोचना के विषय में कहा है कि, "न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है, न भाव के क्षेत्र में। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है।"[1]

इस तरह प्रभाववादी आलोचना का महत्त्व हिन्दी आलोचना में कम आंका गया है।

अब तक हिन्दी आलोचना में सामाजिक और ऐतिहासिक, सैद्धांतिक आधारों पर मूल्यांकन किया गया हैं। मार्क्सवादी व प्रगतिवादी आलोचना ने पहली बार सैद्धांतिक स्तर पर साहित्य तथा आलोचना को 'राजनीति' से जोड़ा। भारत में मार्क्सवादी आलोचना का आरंभ तब से माना जाता है, जब 'बिट्रिश प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' की भारतीय शाखा के रूप में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई थी। इसका प्रथम सम्मेलन सन् 1936 में लखनऊ में प्रेमचन्द की अध्यक्षता में आयोजित हुआ था। परिणामस्वरूप प्रगतिशीलता को साहित्य-मूल्य के रूप में प्रतिष्ठा मिली, साथ ही आलोचना ने भी अपने प्रगतिवादी मानदंड स्थापित किए। इस वर्ग के आलोचकों ने मार्क्सवाद के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन किया। इनमें प्रमुख आलोचक है - शिवदान सिंह चौहान, डॉ० रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, नामवर सिंह, अमृत राय, रांगेय राघव आदि।

इस दिशा में सबसे पहले **'शिवदान सिंह चौहान'** ने सन् 1937 में (विशाल भारत में) 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' लेख आलोचनात्मक स्वरूप लिखा। यह लेख वही है जो उन्होनें 1936 में लखनऊ में हुए हिन्दी-उर्दू प्रगतिशील लेखक संघ

[1] रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० सं०- 679

सम्मेलन में पढ़ा था। इसके अलावा शिवदान ने - 'हिन्दी गद्य साहित्य' (1952) 'हिन्दी साहित्य का अस्सी वर्ष' (1954), 'साहित्यानुशीलन' (1955), 'आलोचना के मान' (1958), 'साहित्य की समस्याएँ' (1959) और 'आलोचना के सिद्धांत' (1960) आदि पुस्तकें लिखी। वे साहित्य में 'पूर्ण मानव की प्रतिष्ठा' के समर्थक है, और उसी के आधार पर कृति का मूल्यांकन करते हैं। इस सिद्धांत के चलते वे एक ओर छायावाद को प्रतिक्रियावादी साहित्यिक धारा घोषित करते हैं, तो दूसरी ओर प्रयोगशील काव्यधारा के बहुत बड़े अंश को मानव-द्रोही। क्योंकि वे मानते है कि 'ये लोग राष्ट्रीय गुणों वाले साहित्य का विरोध करते हैं। शैली और रूप में कला के तथाकथित विश्वस्तरीय मापदन्डों का प्रयोग करना ही प्रगति का लक्षण समझते हैं।'[1] अपने इस तरह के सही-गलत रुझानों से इन्होनें जो प्रतिमान गढ़े, उनमें इतना सामर्थ्य नहीं दीखता कि वे अपने द्वारा लगाए तमाम आरोपों के समकक्ष मजबूती से टिक पाए। इनका अधिकांश लेखन आलोचनात्मक और वैचारिक निबन्धों में ही मिलता हैं। किसी भी एक लेखक पर इनका कोई स्वतंत्र मूल्यांकन नहीं है, यत्र-तत्र छिट-पुट टिप्पणियाँ ही मिलती हैं।

हिन्दी आलोचना के विकास में इस प्रगतिवादी आलोचक ने भाग तो बढ़-चढ़ कर लिया, किन्तु इनके मानदंडों एवं मतों के बीच एक खालीपन-सा लगता है। आलोचना का यह छिट-पुट तरीका एतिहासिक महत्त्व रखते हुए भी कई बार रचना तथा रचनाकार दोनों के साथ न्याय नहीं कर पाता और पाठक को भटकाव की स्थिति में पहुँचा आता है। वास्तव में इनका अधिकांश आलोचनात्मक-कर्म उस दौर की विवादित परिस्थितियों में उलझे दृष्टिकोण तथा आलोचकों के बीच उपजी बहस का परिणाम हैं।

प्रगतिवादी आलोचना में सर्वाधिक विवादित व्यक्तित्व **डॉ० रामविलास शर्मा** का रहा। इनके आलोचनात्मक ग्रन्थों में - 'निराला की साहित्य साधना' (तीन भागों में), 'प्रेमचन्द', 'भारतेंदु युग', 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना', 'भारत और समाज', 'आस्था और सौन्दर्य', 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ', 'भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद', 'परम्परा और मूल्यांकन' आदि प्रमुख हैं। प्रगतिशील आलोचना की

[1] शिवदान सिंह चौहान – साहित्य की समस्याएँ, पृ० सं०- 26

व्याख्या करते हुए शर्मा जी लिखते है, ".....यह आवश्यक नहीं कि शोषक वर्ग ने जिन नैतिक अथवा कलात्मक मूल्यों का निर्माण किया है, वे सभी शोषण मुक्त वर्ग के लिए अनुपयोगी हो ।....प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में हमें मार्क्सवाद से यह सहायता मिलती है कि हम इसकी विषय-वस्तु और कलात्मक सौन्दर्य को एतिहासिक दृष्टि से देखकर उसका उचित मूल्यांकन कर सकते हैं ।"[1]

इसी एतिहासिक दृष्टिकोण से वे भारतेंदु, निराला, प्रेमचन्द का मूल्यांकन करते हैं । इन्होनें 1938 से लिखना शुरू किया, तभी से इनके मतों में एक उतार-चढ़ाव दिखाई देता हैं । किसी विषय या कवि के प्रति इनकी जो दृष्टि व मान्यताएँ अध्ययन के शुरू में मिलती है, कुछ समय बाद वह मान्यताएँ बदल जाती हैं । इसका प्रमाण वे स्वयं अपनी पुस्तक 'भाषा युग बोध और कविता की भूमिका में देते है, "दृष्टिकोण मूलतः एक है फिर भी अनेक निबन्धों में कुछ मान्यताएं ऐसी है - जो मेरी बाद की आलोचना में बदल गई है ।"[2]

लेकिन इस बदलाव को कई जगह वे स्वयं नकार जाते हैं । 'नई कविता और मुक्तिबोध का पुनर्मूल्यांकन 'पुस्तक पर जब आलोचक गण ये प्रश्न खड़े करते हैं कि मुक्तिबोध को लेकर शर्मा की पहली धारणाएं बदल गई हैं । तब वे स्वयं इस पक्ष में सफाई देते हुए नजर आते हैं कि पहले मुक्तिबोध पर संक्षेप अध्ययन किया था, अब अपने अध्ययन को विस्तार के साथ पुनर्मूल्यांकित किया है । उस पर भी धारणा पहली ही विस्तारित हुई हैं । 'समकालीन हिन्दी आलोचक और आलोचना' पुस्तक में **डॉ० रामबक्ष** ने रामविलास शर्मा के इस बदलते दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, "....उनकी 'मान्यताएँ' भले ही बदल गई हो, परन्तु उनके 'दृष्टिकोण' में कोई विकास नही हुआ है । इस रूप में उनका मन-मस्तिष्क 'अपरिवर्तनशील' रहा है । ....वह जैसे 1940-41 में थे, वैसे ही

---

[1] रामविलास शर्मा – साहित्य : स्थायी मूल्य और मूल्यांकन, पृ० सं०- 21

[2] रामविलास शर्मा – भाषा युग बोध और कविता, भूमिका से, पृ० सं०- 5

1988-89 में भी है। इसलिए उन्हें न तो अपने विचारों में कोई असंगति दिखाई देती हैं और न परिवर्तन दिखाई देता है।"[1]

इतने पर भी रामविलास शर्मा ने साहित्य ही नहीं, साहित्येत्तर विषयों पर भी गंभीर चिन्तन किया हैं। अपने आलोचनात्मक विश्लेषण में 'यथार्थ-चेतना' को मद्देनजर रखते हुए कई कवि व लेखकों की प्रशंसा की हैं। किन्तु जब किसी विषय या रचनाकार को खदेड़ा है तो उनकी दृष्टि विचारधारा केन्द्रित हो गई है। जिसके चलते वे नई कविता को रहस्यवाद के घेरे में फंसी हुई मानते हैं, वहीं प्रयोगवाद पर भी कई टिप्पणियाँ करते हैं। साथ ही अपने आलोचनात्मक प्रतिमानों को लेकर वे उन समकालीन आलोचकों की बात भी काटते है जो प्रगतिवादी आलोचना को एक विकसित मोड़ दे रहे थे। इस विकसित श्रृंखला में जब आधुनिकतावादियों ने 'प्रतीक', 'दूसरा सप्तक', 'परिमल' आदि की स्थापना कर प्रगतिवाद पर सैद्धांतिक आक्रमण किए। इस समय रामविलास शर्मा इस संगठन से अलग हो गए थे और अन्य आलोचकों शिवदान सिंह चौहान, अमृतराय, रांगेय राघव आदि के पास वो सामर्थ्य नहीं था जो आधुनिकतावादियों को जवाब दे सके। इसकी जवाबदेही तथा प्रगतिवादी आलोचना के परवर्ती विकास का जिम्मा **नामवर सिंह** ने लिया। इन्होनें प्राचीन साहित्य से लेकर आधुनिक कवि-लेखकों पर अपनी लेखनी जमाई हैं। 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान', 'छायावाद', 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ', 'इतिहास और आलोचना' आदि आलोचनात्मक ग्रथों में इनके प्रारम्भिक प्रगतिवादी मानदंड मिलते हैं। साथ ही इन्होनें नई कविता की व्याख्याओं का भी विश्लेषण किया है। विशेषकर 'मुक्तिबोध' और 'निराला' की कविता का मूल्यांकन जिस सम्वेदनशीलता और व्यापकता से किया है, वह हिन्दी आलोचना के लिए सराहनीय है। कथा-साहित्य में प्रेमचन्द एवं उनके समकालीन लेखकों के साथ-साथ नई कहानी के तमाम कहानीकारों का मूल्यांकन किया हैं।

सैद्धांतिक आलोचना सम्बन्धी 'कविता के प्रतिमान' महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। जिसमें उन्होनें प्रतिष्ठित काव्य-प्रतिमानों की विस्तृत आलोचना करते हुए उनकी सीमाएँ स्पष्ट

[1] डा० रामबक्ष – समकालीन हिन्दी आलोचक और आलोचना, पृ० सं०- 36

की हैं। साथ ही नई कविता के काव्य प्रतिमानों के प्रश्नों को नए सिरे से उठाकर विश्लेषित किया है। वे रचना का विशिष्ट गुण - 'सृजनात्मकता' मानते है और यही आलोचना की शक्ति का स्रोत है।

इस तरह वे आलोचना-कर्म के प्राथमिक चरण में प्रगतिवाद का निरूपण, छायावाद का विश्लेषण, तथा प्रयोगवाद का खण्डन करते हैं। 'इतिहास और आलोचना' में धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही, अज्ञेय आदि की बहुत उमंग, उत्साह एवं आत्मविश्वास से आलोचना की गयी हैं। इसमें उन्होनें मार्क्सवाद को तात्विक रूप में ग्रहण कर उससे उत्पन्न समस्याओं के दो-टूक समाधान दिए हैं।'[1] प्रगतिवादी नामवर सिंह की आलोचना का क्षेत्र अपेक्षाकृत अकादमिक और बौद्धिक है। उसमें आस्था और आशंका की द्वन्द्वात्मकता बहुत घनीभूत है। अलग से पहचानी जाने वाली आस्था को वे नकारते हैं। वे सामान्य और विशेष, देश और काल के द्वंद्व को पहचानने वाले आलोचक है।[2] हाल ही में इनकी अन्य चार आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित हुई - 'सम्मुख, साथ-साथ, साहित्य की पहचान, आलोचना और विचारधारा आदि। इस कड़ी में एक अन्य नाम **'मुक्तिबोध'** का भी प्रमुख है। इनके आरंभिक आलोचना-कर्म पर ही मार्क्सवादी विचार लक्षित होते हैं। हिन्दी आलोचना के अगले पड़ाव का प्रभाव मुक्तिबोध लगातार महसूस कर रहे थे। इसलिए उनका सृजन एवं आलोचना-कर्म इन दोनों पड़ावों के बीच संघर्ष से पनपा है।

इस विकास-क्रम में अगला चरण आधुनिकतावादी आलोचना पद्धति का है। मार्क्सवादी आलोचना के साथ-साथ इस विरोधी विचारधारा की शुरुआत हुई। इस विचारधारा पर पाश्चात्य विचारकों का प्रभाव साफ देखा जा सकता हैं। इस आधुनिकतावादी विचारधारा की शुरुआत अज्ञेय ने की। इन्होनें प्रगतिवादियों के तर्कों का खण्डन कर मूल्यांकन के लिए रचनाकार की मन:स्थिति एवं उसके मन में रचना के मर्म को जानने का प्रयास किया। इस पद्धति को मनोविश्लेषणवादी पद्धति कहा गया। इसके समीक्षा-सिद्धांत पाश्चात्य मनोशास्त्री फ्रायड के 'काम-वासना', एडलर की

---

[1] डा० रामबक्ष – समकालीन हिन्दी आलोचक और आलोचना , पृ० सं०- 166

[2] कमला प्रसाद – आलोचक और आलोचना , पृ० सं०- 171

'अधिकार भावना' तथा युंग की 'मन:शक्ति' से प्रभावित है। इस क्रम में इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय, जैनेन्द्र, डॉ० ज्वाला प्रसाद खेतान, डॉ० रमेश कुंतल मेघ, देवराज आदि समीक्षक प्रमुख हैं।

इलाचंद्र जोशी ने 'साहित्य-सर्जना', 'विवेचना', 'विश्लेषण', 'देखा-परखा', 'कला और नीति', 'आधुनिकतम उपन्यास का दृष्टिकोण' आदि कृतियों से मनोवैज्ञानिक आलोचना की प्रतिष्ठा की। वे भक्ति साहित्य को दमित कुंठा का प्रतीक मानते हैं। वही दूसरी ओर छायावादी-काव्य यौन-सम्बन्धी मनोभावनाओं के शब्दजाल में फंसा हुआ मानते हैं। प्रगतिवादी भी थोथे भावुक है जो अपनी धाक जमाना चाहते हैं। इस तरह के सतही विश्लेषण में गम्भीरता और तटस्थता का अभाव मिलता है। साथ ही वे अपना कोई निश्चित मानदंड नही बना पाए।

आलोचना को आपद् धर्म मानते हुए भी **'अज्ञेय'** ने अपनी एक अलग सोच व समझ हिन्दी जगत में पेश की। 'त्रिशंकु', 'आत्मनेपद', 'हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' आदि निबन्धों पर मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का प्रभाव देखा जा सकता हैं। उनकी मान्यता है कि हमारा युग संक्रान्ति युग है जिसमें हर स्तर पर घोर परिवर्तन हो रहा है। अतएव जीवन का दबाव मन पर बढ़ता जा रहा है। इस दबाव के चलते आज का हिन्दी साहित्य अतृप्ति, लालसा, इच्छित विश्वास (विशफुल थिंकिंग) का सृजित साहित्य है। इसी स्थापना पर वे अपने मूल्यांकन के प्रतिमान गढ़ते हैं। इस सूची में एक अन्य मुख्य आलोचक **डॉ रमेश कुंतल** मेघ भी है। इन्होनें रचनाओं को नृ विज्ञान, मिथक, कलाशास्त्र, मनोविज्ञान आदि के माध्यम से समझने पर बल दिया। 'तुलसी', 'कामायनी : स्वप्न और मिथक', 'समय एक शब्द है' आदि इनकी आलोचनात्मक पुस्तकें हैं। धीरे-धीरे मनोवैज्ञानिक आलोचना का असर कमज़ोर पड़ने लगा, मूल्यांकन एवं सृजन के लिए नए पैमानों व विचारों की माँग होने लगी। कहने का तात्पर्य है कि आलोचना के विकास में मानदंडों को लेकर मिज़ाज बदलने लगा।

1943 में 'तारसप्तक' के सम्पादक अज्ञेय ने 'प्रयोग' को काव्य सृजन के लिए अनिवार्य माना। इसमें शामिल सम्पादक अज्ञेय की भूमिका एवं अन्य कवियों के वक्तव्य इनके

मूल्यांकन की मान्यताओं का बयान है । इसी तर्ज पर अज्ञेय ने 'दूसरा सप्तक' निकला । हिन्दी काव्य-जगत में इनकी बड़ी विवादास्पद स्थिति रही । अज्ञेय, मुक्तिबोध, प्रभाकर माचवे, नेमिचंद्र जैन, रघुवीर सहाय आदि कवियों ने अपने नए मूल्य पेश किए । जिन्हें इस दौर के समीक्षकों ने अपने मानदंडों पर कमत्तर आंक कर इसे विवाद का विषय बनाया । 'तीसरा सप्तक' नई कविता की स्थापना बना । इसकी भूमिका में सम्पादक अज्ञेय, कवियों को आलोचना-कर्म की ओर प्रवृत्त करते हुए कहते है कि, "नई कविता का अपने पाठक और स्वयं के प्रति उत्तरदायित्व बढ़ गया है । यह मानकर कि शास्त्रीय आलोचकों से उसे सहानुभूतिपूर्ण तो क्या पूर्वाग्रह रहित अध्ययन भी नही मिला है, तो यह आवश्यक हो गया है कि स्वयं आलोचक तटस्थ और निर्मम भाव से उसका परिक्षण करे। अर्थात् ...कविगण स्वयं एक-दूसरे के आलोचक बनकर सामने आए ।"[1]

काव्य-सृजन में नए प्रयोगों के साथ-साथ समीक्षा हेतु भी नई दृष्टि एवं मूल्यों की अपेक्षा की गई । टी.एस. इलियट और नई समीक्षा की अनेक मान्यताएँ हिन्दी काव्य-जगत् में बहस का हिस्सा बनने लगी । अज्ञेय की इस परम्परा को विजयदेव नारायण साही, लक्ष्मीकांत वर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि कवि आलोचकों ने आगे बढ़ाया । साही ने 'लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस और 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' दोनों आलोचनात्मक निबन्धों में अपने गहरे चिंतन व मौलिकता का प्रमाण दिया । वे साहित्य और समाज के रिश्तों को नकारते हैं । इतिहास की अवधारणा की आलोचना कर नए प्रत्ययों का उद्घाटन करते हैं ।

कवि **लक्ष्मीकांत वर्मा** ने 'नई कविता के प्रतिमान' आलोचनात्मक पुस्तक में नई कविता की सहानुभूतिपूर्ण व्याख्या की । साथ ही सप्तकी कवियों पर रूमानी भावुकता का आरोप कर कुछ नए तर्क दिए, जिनसे उन कवियों के मूल्यांकन में पुन:अध्ययन हुआ । इसी क्रम में आलोचक रामस्वरूप चतुर्वेदी ने प्राचीन और आधुनिक कवियों की भाषा सम्बन्धी सृजनशीलता का विश्लेषण कर हिन्दी में नए ढंग की रूपवादी आलोचना का आरम्भ किया । 'हिन्दी नवलेखन', 'अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या', 'नई

[1] अज्ञेय – तीसरा सप्तक, भूमिका से

कविताएँ : एक साक्ष्य', 'भाषा और संवेदना' आदि आलोचनात्मक ग्रन्थों से हिन्दी आलोचना की परम्परा को आगे बढ़ाया।

आधुनिक काल में काव्य के साथ-साथ अन्य गद्य विधाओं का भी विकास हुआ। नई कविता की तरह कथा-साहित्य में भी नवीन चेतना और रूपों की समीक्षा की जाने लगी। इससे पहले प्रेमचन्द, यशपाल, जैनेन्द्र आदि कथाकारों का मूल्यांकन शुक्ल एवं शुक्लोत्तर समीक्षकों ने किया। लेकिन उसमें किसी नए प्रतिमान तथा गहरी दृष्टि का विकसित रूप लक्षित नहीं मिलता। स्वातंत्र्योतर काल में लिखी कहानियों को नई कहानी कहा गया। इनमें मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, भीष्म साहनी, कृष्णा सोबती, मार्कंडेय आदि कथाकारों के नाम उल्लेखनीय हैं।

1955 ई० में सरस्वती प्रेस से भैरवप्रसाद गुप्त के सम्पादन में 'कहानी' पत्रिका से नए आलोचनात्मक लेखों का आरम्भ हुआ। 'नई कहानी' समीक्षा में कहानी को मात्र मनोरंजन-साधन न मानकर आज के जटिल जीवन की वास्तविकता से रु-ब-रु कराने वाली सशक्त विधा माना। साथ ही मूल्यांकन के लिए नए प्रतिमानों की निर्मिति की।'[1] नई कहानी के आलोचकों में मुख्य नाम नामवर सिंह का है। इनकी 'कहानी : नई कहानी' पुस्तक में (नई कहानी : सफलता और सार्थकता' लेख में) यह स्पष्ट घोषणा है कि - यह आवश्यक है कि कहानी की आलोचना को नए स्तर पर उठाया जाए। इसके साथ-साथ कहानीकार आलोचक भी अपने कथा-साहित्य के विचारों के स्पष्टीकरण हेतु सामने आए। इनमें कमलेश्वर (नई कहानी की भूमिका), देवीशंकर अवस्थी (कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति), राजेन्द्र यादव (कहानी का स्वरूप और संवेदना, एक दुनिया समांतर), सुरेन्द्र चौधरी (हिन्दी कहानी : पाठ और प्रक्रिया), महीप सिंह (सचेतन कहानी : रचना और विचार) आदि प्रमुख हैं। जिन्होनें हिन्दी आलोचना को विकसित रूप देने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

कहानी के साथ-साथ 'उपन्यास' में भी नए सर्जनात्मक मूल्यों की छानबीन हुई। इसके शुरूआती संकेत अज्ञेय के उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी', 'नदी के द्वीप ' से मिलते

[1] रामदरश मिश्र – हिन्दी आलोचना : प्रवृत्तियाँ और आधारभूमि, पृ० सं०- 362

हैं। आगे चलकर आंचलिक परिवेश, महानगरीय यौन-चेतना विकृतियों तथा सामाजिक समस्याओं को रूपायित किया गया। स्वयं उपन्यासकार आलोचक बनकर अपनी नई दृष्टि को व्याख्यायित करने लगे। आलोचकों और लेखक आलोचकों के मतभेद से पाठक के सामने बड़ी समस्या खड़ी होने लगी कि किसका विचार-तर्क सही समझे। बहरहाल इस उपन्यास समीक्षा में मुख्य आलोचक- नेमिचंद्र जैन (अधूरे साक्षात्कार, हिन्दी उपन्यास की एक नई दिशा), सुरेश सिन्हा (हिन्दी उपन्यास), निर्मल वर्मा (कथा-शिल्प का विशिष्ट प्रयोग), भारतभूषण अग्रवाल (हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव), इन्द्रनाथ मदान (हिन्दी उपन्यास : पहचान और परख), राजेन्द्र याद्व (अठ्ठारह उपन्यास) आदि हैं।

'परिमल' संस्था की स्थापना से एक बार फिर काव्य के क्षेत्र में नई बहसे पनपने लगी। जिसमें प्रगतिवादी आलोचक अपनी मार्क्सवादी विचारधारा के पक्षधर बनकर एक जुट होकर सामने आए। विरोधी पार्टी ने अपने विचारों को समय की ढाल से परिवर्तित कर उनके तर्कों को बेमानी सिद्ध किया। इस गहमागहमी में नई कविता - नई कहानी समीक्षा के आन्दोलन ढीले पड़ते दिखाई दिए, क्योंकि आलोचक वैयक्तिक रूचि पर मूल्यांकन करने लगे थे। इसी बीच एक तेवर के साथ नए आलोचकों का प्रवेश हुआ, जिसमें मलयज, रमेशचंद्र शाह, अशोक वाजपेयी आदि हैं। इन्होनें एक जीवंत गद्य की रचना की तथा वाद-विवाद को एक नया धरातल दिया। मलयज ने 'कविता से साक्षात्कार', 'संवाद और एकालाप', 'रामचन्द्र शुक्ल' आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी। जिनमें पुराने मूल्यांकित विषयों पर अपने नए, अनछुए पक्षों को उभारा। रमेशचंद्र शाह की 'समांतर', 'वागार्थ', 'कुछ कविताएँ : कुछ कवि', 'हिन्दी कहानी-भाषा दृष्टि' आदि कृतियाँ बदलते मूल्यों का प्रमाण है। रचना के साथ-साथ उसके परिवेश की यथार्थता को भी आंका गया। इसी परम्परा में आगे निर्मल वर्मा की 'शब्द और प्रकृति', 'ढलान से उतरते हुए', 'कला का जोखिम' आदि में आलोचना के नए पैमानों को स्पष्ट देखा जा सकता हैं। समकालीन युग में इस बदलते तेवर को मधुरेश, शम्भुगुप्त, उदय प्रकाश, अरुण कमल, राजेश जोशी आदि युवा आलोचकों ने नए-नए प्रतिमान दिए हैं।

हिन्दी आलोचना के विकास की बड़ी उपलब्धि नाटक-समीक्षा से भी हुई। भारतेंदु के 'नाटक' निबन्ध और श्यामसुंदर दास 'रूपक रहस्य' से इसकी सैद्धांतिक आलोचना शुरू हुई। प्रसाद ने भी नाटक को लेकर कुछ मौलिक तथा सैद्धांतिक प्रश्न उठाए। धीरे-धीरे नाट्य लेखन-पठन से मंच तक पहुँचा। नाटक की अब तक जिस चेतना और संवेदना को समकालीन प्रासंगिकता में जाँचा जा रहा था, उसे अब मंच के सन्दर्भ में उसकी पूरी बुनावट के साथ परखा गया। इन समीक्षकों में - नेमिचंद्र जैन (रंगदर्शन), लक्ष्मीनारायण लाल (नाटक और रंगमंच), सत्येन्द्र तनेजा, जयदेव तनेजा, महेश आनन्द, गिरीश रस्तोगी, दशरथ ओझा, रमेश गौतम आदि प्रमुख हैं। हालाँकि हिन्दी नाटक-आलोचना उतनी समृद्ध नहीं हो सकी। हिन्दी आलोचना के इतिहास में यही स्थिति कथेत्तर गद्य साहित्य की समीक्षा की है। आज कल नाटकों, निबन्धों, यात्रा-वृतांतों, आत्मकथाओं आदि पर शोध-प्रबंधो की भरमार है, लेकिन इन्हें आलोचना की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

इस विकास-क्रम में विमर्शवादी आलोचना ने भी नए मानदंड प्रस्तुत किए। अपनी अस्मिता की पहचान तथा अधिकारों की माँग के लिए दलितों, स्त्रियों, आदिवासियों ने अपने सृजन एवं मूल्यांकन से अपनी पीड़ा व्यक्त की। हिन्दी में ही नही समस्त भारतीय साहित्य में इसकी अनुगूँज व्याप्त है। दलित लेखकों में धर्मवीर, ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, जयप्रकाश कर्दम, कँवल भारती, श्यौराज सिंह बैचेन, तेजसिंह आदि है, तथा गैर-दलित लेखकों में राजेन्द्र यादव, मुद्राराक्षस और बजरंग तिवारी ने खासी भूमिका निभाई है।

स्त्रीवादी विमर्श 'स्त्री' की अस्मिता, वर्तमान हैसियत, अधिकार आदि में बदलाव लाने में प्रयासरत है। उत्तर-आधुनिक दौर में जहाँ इस विमर्श ने नए मूलभूत प्रश्न खड़े किए, वही स्त्री की स्थिति को कुछ हद तक रोल मॉडल के दायरे में सीमित भी किया है। मेधा पाटकर, रोमिला थापर, महाश्वेता देवी, अरुंधती राय जैसी एक्टिविस्ट महिलाओं ने इस विमर्श को नए पैमानों में ढाला। साथ ही रोहिणी अग्रवाल, अर्चना वर्मा, अनामिका आदि भी स्त्री विमर्श पर विचार कर रही हैं। आदिवासी लेखकों और गैर-

आदिवासी लेखकों द्वारा उनकी भाषा-संस्कृति के नमूने आलोचना का हिस्सा बने हैं। इन विमर्शों पर केन्द्रित पत्रिकाएँ, संगोष्ठियाँ, शोध लगातार किए जा रहे हैं, लेकिन हिन्दी आलोचना में इनकी जड़े अभी इतनी मजबूत नही हुई, जितनी मराठी तथा दक्षिण भाषाओं में हैं। इस तरह सन् 1950 के बाद से हिन्दी आलोचना में कई दृष्टिकोण एक साथ उभरते देखे जा सकते हैं। जिनमें कुछ आलोचक पारम्परिक मार्ग का समर्थन करते है, तो कुछ प्रगतिशील विचारों को बढ़ावा देते हैं। कुछ आधुनिकतावाद से जुड़े हैं, तो कुछ तीखे तेवर के साथ अपनी साहित्यिक समझ से आलोचना करते नजर आते हैं। इन सभी दृष्टिकोणों में आपसी मतभेद के कारण रचना के प्रतिमान अलग-अलग है। इनके आपसी मतभेद के कारण रचना के मूल्यांकन में भी टकराहट होती है। आलोचकों का किसी विचारधारा विशेष के प्रति आस्था, वैयक्तिक राग-द्वेषों से उलझाव व विवाद की स्थिति पैदा होती है। जिसका हर्जाना रचनाकारों के साथ-साथ उनकी कृत्तियों को भी उठाना पड़ता है। हिन्दी साहित्य में ऐसे ही एक रचनाकार है - **सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'।**

1.2 हिन्दी आलोचना में अज्ञेय : सवाल और बदलते दृष्टिकोण

हिन्दी-आलोचना के विकास के परिचयात्मक वर्णन के बाद 'अज्ञेय की आलोचना' पर विचार किया है। आलोचना के इस बदलते मिज़ाज में अज्ञेय की आलोचना 'कब से', 'कैसी', 'किन दृष्टिकोणों' से हुई? उन टिप्पणियों तथा आक्षेपों का अज्ञेय के समर्थकों तथा अज्ञेय ने 'क्या' प्रत्युत्तर दिया? किन तर्कों को अज्ञेय ने अपनी कृत्तियों एवं पाठकों के लिए स्वीकृत तथा खारिज़ किया? आदि।

अज्ञेय ने जब से सृजन-कर्म आरम्भ किया, तभी से वे आलोचना जगत में चर्चा का विषय रहे। सन् 1933 से कविताओं एवं कहानियों के क्षेत्र में जिन नए विचारों व शैली का सूत्रपात किया, उनको आलोचकों ने अज्ञेय की मौलिक दृष्टि न मानकर प्रगतिवादी विचारधारा के विरूद्ध षडयंत्रकारी घोषित किया। तारसप्तक, दूसरा सप्तक, तीसरा सप्तक, चौथा सप्तक, प्रतीक आदि के सम्पादकत्व में, भूमिकाओं में तथा कवि वक्तव्यों में उन्होनें जो मान्यताएँ एवं विचार रखे। उन पर आलोचकों का

लंबा वाद-विवाद, प्रतिक्रियाएँ मिलती हैं, जिनमें अज्ञेय पर आक्षेप करने वाले भी है तो उन आक्षेपों को खारिज़ करने वाले भी कम नहीं हैं। अपनी पक्षधरता स्वयं अज्ञेय ने भी अपने ढंग से पेश की है। आज कुछ आलोचक अज्ञेय के समर्थक बन उनकी जन्मशतियां मना रहे हैं। इन जन्मशतियों को मनाने के पीछे कुछ आलोचकों की रणनीति काम रही हैं या इनके बहाने कुछ आलोचक विशेष अवसर पाकर अपनी गलती सुधार रहे हैं। अज्ञेय की इन जन्मशतियों में कुछ आलोचक आज भी कुछ ऐसे सवाल उठाते हैं, जिनके जवाब देने में बड़े-बड़े विद्वान तक चुप लगा जाते हैं। ये सवाल भी एक तरह से आरोप ही हैं। इनमें चार सवाल प्रमुख रूप से उठाए गए हैं –

(क) जब भारत अंग्रेजो का गुलाम था, तब क्या अज्ञेय 1943 से 1946 के बीच - अंग्रेजो के जासूस थे? अज्ञेय की सहजीवी साथी (लिव-इन-पार्टनर) इला डालमिया ने उनके बारे में जो संस्मरण लिखा है, उससे उनकी यह छवि उभरती है और अज्ञेय खासे संदेहास्पद व्यक्ति नजर आते हैं। अज्ञेय के बारे में आमतौर पर यह धारणा रही है कि उस दौर में वे अंग्रेजो के जासूस थे।

(ख) देश के आजाद होने के बाद क्या अज्ञेय अमरीकी साम्राज्यवादी सत्ता प्रतिष्ठान से बहुत गहराई से जुड़ गए थे? क्या यह सही नहीं है कि अज्ञेय 'क्वेस्ट\न्यू क्वेस्ट' नाम से जो अंग्रेजी पत्रिका निकालते थे, उसे सी.आई.ए से पैसा मिलता था? यह जानना दिलचस्प होगा कि अज्ञेय कितनी बार विदेश गए - और उसमें कितनी बार अमरीका व जापान, और क्यों? इन खर्चीली विदेश यात्राओं के लिए धन कहां से मिलता था?

(ग) देश के बड़े पूंजी घराने अज्ञेय पर इतने मेहरबान क्यों थे? हिंदी में नामी-गिरामी लेखक\कवि और भी थे, फिर भी बड़ी पूंजी अज्ञेय पर ही इतनी मेहरबान क्यों रही? बड़ी पूंजी द्वारा स्थापित भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार के लिए वर्ष 1978 में अज्ञेय का ही क्यों चुनाव किया गया, शमशेर या नागार्जुन का क्यों नहीं?

(घ) 1980 के आस-पास अज्ञेय ने अपने प्रतिक्रियावादी चेले-चपाटों के साथ मिलकर 'जय जानकी यात्रा' निकाली थी। इस यात्रा का मकसद क्या था, यह क्यों निकाली गयी

थी, और इसके लिए धन कहाँ से और कैसे जुटा? क्या इस यात्रा का तार आगे चल कर फासीवादी राम जन्मभूमि मुक्ति आन्दोलन से जुड़ा? इनके आलावा अज्ञेय के साहित्य और निजी जीवन को जोड़ कर भी कई टिप्पणियाँ की गई हैं।

इन्हीं सवालों के साथ ये प्रश्न भी उठाये गए कि बीसवीं सदी के जिस हिस्से में अज्ञेय सक्रिय थे उस हिस्से का कैसा और कितना साक्ष्य उनके साहित्य में नजर आता है? 1930 से लेकर 1987 तक, यानी बीस साल की उम्र से लेकर अपने निधन तक की अवधि में अज्ञेय 'सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दमन और उत्पीड़न के विरूद्ध मनुष्य के अथक संघर्ष में' किस हद तक किस रूप में शामिल रहे? यथास्थिति से उनके रिश्ते का स्वरूप क्या था और कैसा? 'सत्ता और उसके प्रलोभनों से अज्ञेय ने क्या किनाराकशी की या नहीं? और अपने समय की वास्तविकता का कैसा अक्स उनकी रचनाओं में हमें दिखाई देता हैं? जनता के मुक्तिकामी संघर्षों में अज्ञेय किस रूप में और कितनी दूर तक शामिल रहें?

हिन्दी आलोचना में रचनाकार अज्ञेय की आलोचना शुक्लोत्तर युग से आरम्भ होती है। जहाँ सौन्दर्यवादी-सौष्ठववादी आलोचक तथा प्रगतिवादी आलोचक अपने युगीन मापदन्डों पर विश्लेषण करते हैं। आगे चलकर समकालीन समीक्षकों ने अज्ञेय को नए पैमानों पर परखा हैं, तथा कुछ ने पूर्वग्रहित होकर ही अपने तर्कों को दोहराया हैं। छायावाद और प्रगतिवाद के साथ-साथ उसकी विरोधी काव्यधारा भी पनप रही थी। अपने प्रतिक्रियास्वरूप पनपी इस विचारधारा का खण्डन करने के कई कारण हुए होगें, किन्तु मुख्य रूप से तथ्यानुसार यही कहा जा सकता है कि छायावादी और प्रगतिवादी इस नए चिन्तन से खतरा महसूस करते दिखाई देते हैं। इसलिए अपनी विचारधारा को बचाने के लिए विरोधी काव्यधारा का खण्डन यथास्थान इन आलोचकों ने किया हैं।

'तारसप्तक' में अज्ञेय ने कविता को 'प्रयोग' का विषय माना। जबकि प्रयोग के सूत्र इससे पहले भी लेखन में महसूस किए जा रहे थे। इस 'प्रयोग' शब्द को आलोचकों ने भिन्न-भिन्न अर्थो में व्याख्यायित किया। साथ ही इस काव्यधारा पर 'प्रयोगवाद' का ठप्पा लगाया गया। 'प्रयोग' शब्द को सतही और संकुचित मानते हुए सौष्ठववादी

आलोचक **नंददुलारे वाजपेयी** अज्ञेय और उनके समर्थक कवियों पर टिप्पणी करते हुए कहते है कि, "प्रयोगवादी साहित्य से साधारणत: उस व्यक्ति का बोध होता है, जिसकी रचना में कोई तात्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रम-विकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो । वास्तविक सृजन और क्रांत्तदर्शिता के बदले सामान्य मनोरंजन और शैली-प्रसाधन ही उसकी विशेषता होती है । अधिकार और उत्तरदायित्व की अपेक्षा अनिश्चिय और उदेश्यहीनता की भावना ही वह उत्पन्न करता है । सृष्टा, सन्देशवाहक न होकर वह प्रणेता और प्रवक्ता मात्र होता है ।"[1]

इस कथन से वाजपेयी, अज्ञेय को 'सृष्टा' न मानकर उनके समस्त साहित्य की मौलिकता पर प्रश्नचिन्ह खड़ा करते हैं ।

इसी 'प्रयोग' शब्द के सन्दर्भ में प्रगतिवादी आलोचक **शिवदान सिंह चौहान** का मत है कि, ".....कोई प्रयत्न, किसी सिद्धांत को प्रमाणित करने के लिए किया गया तजुर्बा, अज्ञात वस्तु का अनुसंधान करने या तजुर्बे के जरिए खोजने की क्रिया है ।.....प्रयोग साहित्य कला की कोई विशिष्ट शैली या प्रवृत्ति नहीं है । .....हमारे देश में नयी कविता के प्रवक्ताओं का एक ऐसा दल खड़ा हुआ है, जो खास किस्म की आत्मनिष्ठ तथा व्यक्तिवादी प्रवृत्ति की कविता को 'प्रयोगवादी', 'आधुनिक', या 'नई कविता' घोषित करता है । और कविता की भाषा, लय, छंद, शैली आदि में किए गए एक विशेष प्रकार के प्रयोगों को ही प्रयोग मानता है ।"[2]

इतना ही नही शिवदान सिंह ने आगे जाकर अज्ञेय को कुंठित व्यक्तिवादी कहकर छायावाद के व्यक्तिवाद को श्रेष्ठ सिद्ध किया है । उन्होनें अज्ञेय को प्रयोगवादियों की थोथी विश्वजनीनता और पश्चिमी ह्रासशील प्रवृत्तियों का प्रचारक माना । अज्ञेय को 'कांग्रेस फार कल्चर फ्रीडम' आन्दोलन से प्रभावित बताया, जिनका लक्ष्य साम्यवाद का विरोध था ।

---

[1] नंददुलारे वाजपेयी – आधुनिक साहित्य, पृ० सं०- 77

[2] शिवदान सिंह चौहान – आलोचना के मान , पृ० सं० - 84-85-86

अज्ञेय ने सप्तकों में व्यक्ति-सत्य सी व्यापक सत्य, साधारणीकरण, सम्प्रेषण, संवेदना के पुन:संस्कार, रूढ़ि-परम्परा आदि विषयों को नए सन्दर्भ में पेश किया। इन विषयों पर भी समीक्षकों ने आक्षेप ही अधिक किया। कवि अज्ञेय, कथाकार अज्ञेय, सम्पादक अज्ञेय को लेकर भी आलोचकों की राय आपस में टकराती है। अज्ञेय पर पाश्चात्य विचारकों का प्रभाव प्राय: आलोचकों ने लक्षित किया है, साथ ही उन्हीं मूल्यों को सर्वोपरि रखकर अपने मत दिए हैं। उनके सृजन पर फ्रायड, एडलर, युंग, इलियट, जयशंकर प्रसाद आदि प्रभाव माना गया। कुछ आलोचकों ने तो उनका समस्त लेखन ही प्रभावित विचारधारा का परिणाम माना। इस सन्दर्भ में प्रगतिवादी आलोचक **डा० रामविलास शर्मा** का मत है कि, 'अज्ञेय दूसरे का माल लेकर, अनुभूति के आधार पर उसे अपना बना लेने का अद्‌भुत गुण रखते है।'[1] इसी तरह **श्री प्रकाश शुक्ल** भी यही कहते है कि, 'अज्ञेय में कुछ नया निर्मित करने की आकांक्षा अवश्य है लेकिन इसके लिए उन्हें बाहरी ताप की जरूरत पड़ती है।'[2] अज्ञेय के समकालीन कवि **मुक्तिबोध** ने भी उनकी रचनाओं में आने वाले आधुनिक-बोध के प्रयोग को सवर्त्र अस्तित्ववाद के अर्थ में लिया हैं। साथ ही उन्हें 'जड़ीभूत सौंदर्यानुभूति' का शिकार बतलाते हुए कहा कि अज्ञेय पूरी पीढ़ी को गुमराह करने वाले कवि हैं।

प्रगतिवादी आलोचकों ने अज्ञेय को अहंवादी, व्यक्तिवादी, देहवादी, असामाजिक, घोर वामपंथी विरोधी, कम्युनिस्ट-द्वेषी, कलावादी, रूपवादी (फामेलिस्ट) आदि माना हैं। इतना ही नही रामविलास शर्मा ने 'नई कविता' और 'नए कवि' (अज्ञेय) को रहस्यवाद की बजाए 'नव-रहस्यवाद' का कवि कहा है। नव-रहस्यवाद माने आध्यात्मिकता से अरूप-अमूर्त, अस्पष्ट, बाबावादी। इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए **नामवर सिंह** ने अज्ञेय को आधुनिक कविता का बिहारी कहकर उन्हें दरबारी और कलावादी कवि घोषित किया है। **अशोक वाजपेयी** ने 'अज्ञेय के काव्य-संग्रह 'कितनी नावों में कितनी बार' की कविताओं को थके और क्षीण कवि की रचनाओं का ढेर माना हैं। साथ ही अज्ञेय

---

[1] रामविलास शर्मा – नई कविता और अस्तित्ववाद , पृ० सं०- 74

[2] संपा० ए अरविन्दाक्षन – कविता अज्ञेय (लेख- अज्ञेय : विविध्य अर्थछवियाँ –प्रकाश शुक्ल) , पृ० सं०- 113

को 'बूढ़ा गिद्ध' का सम्बोधन दिया है ।'[1] जबकि अज्ञेय की मृत्यु के बाद ऐसे ही आलोचकों ने अपनी टिप्पणियों के सुर बदल दिए हैं। सन् 30, के बाद के कथा-साहित्य पर भी समीक्षकों ने अधिकांशत: यूरोपीय पद्धति का प्रभाव लक्षित किया । नूतन टेकनीक का अपकर्षण, तथा अभिशोषण कर रहे कहानीकारों में 'अज्ञेय' की कहानियों को **देवराज उपाध्याय** ने 'स्लाइस आफ लाइफ' कहा है । साथ ही उनकी मौलिकता पर प्रश्नचिन्ह खड़ा कर उन पर यूरोपीय पौधों को भारतीय भूमि पर उगाने का आरोप लगाया है ।[2] इस तर्क के विपरीत **राजेन्द्र यादव** अज्ञेय को जयशंकर प्रसाद से प्रभावित मानते हुए विश्लेषण करते हुए कहते है कि, "....प्रेमचन्द के असर से वे कतई मुक्त है, पर प्रसाद उन पर बुरी तरह छाए हुए है ।"[3]

अज्ञेय की कहानियों पर आलोचको ने कला की पैंतरेबाजी, विधान की जटिलता, मानसिक रुग्णताओं व कुंठाग्रस्त पात्रों से भरी है । इस तरह उनके उपन्यासों में उभरते आधुनिक विचारों जैसे - सह-जीवन की अवधारणा, प्रेम-सम्बन्ध, विवाह को लेकर नई-स्वाधीन सोच, सम्बन्धों में सख्य भाव आदि आलोचकों ने शक की निगाह से देखे हैं । अज्ञेय के उपन्यासों एवं पात्रों पर पाश्चात्य उपन्यासकारों का साम्य रखकर उनकी मौलिकता पर लगातार प्रश्नचिह्न लगते रहे हैं । कुछ आलोचकों ने उनके पात्रों को उनका प्रतिरूप ही घोषित किया है तथा उनके जीवन के निजी पहलू को उनके कथा-साहित्य पर थोपा है । वही दूसरी ओर आलोचकों का एक वर्ग ऐसा है जो जरूरत से ज्यादा जजबाती होकर अज्ञेय के साहित्य को आसमान तक पहुँचा देता है । उनके निबन्धों, सम्पादन, आलोचना आदि को लेकर प्राय: टिप्पणियाँ कम ही हुई हैं । अपने कथेत्तर साहित्य में अज्ञेय ने स्वयं पर तथा अपनी रचनाओं पर लगे आरोपों पर यथास्थान प्रतिक्रियाएं दी हैं । कई दफ़ा वे उन आरोपों की परवाह ना करते हुए अपने विचार स्पष्ट करते चलते हैं । सम्पादक अज्ञेय के सम्पादकत्व को लेकर भी आलोचकों के विचारों में उतार-चढ़ाव प्राय: कम मिलता हैं । 'तारसप्तक' तथा अन्य सप्तकों की श्रृंखला

---

[1] अशोक वाजपेयी – फ़िलहाल (लेख- बूढा गि) क्यूँ पंख फैलाए) पृ० सं०- 89

[2] आलोचना(पत्रिका) अक्तूबर 1952, देवराज उपाध्याय का लेख

[3] राजेन्द्र यादव – कहानी : स्वरूप और संवेदना, पृ० सं० – 25-28

को लेकर आलोचकों ने सम्पादक अज्ञेय पर कई आक्षेप लगाए हैं। 'तारसप्तक' की योजना से लेकर उसके समस्त प्रबंधन में कई सहयोगियों की भूमिका रही थी और आक्षेप दिया गया कि इसका श्रेय अकेले अज्ञेय ने हथिया लिया था। जबकि अज्ञेय स्वयं बतला देते है कि तारसप्तक की योजना कुछ उत्साही बन्धुओं की थी। आलोचकों का मानना है कि सात-सात कवियों को एक साथ लेकर उनके अग्रवाहक बनकर अज्ञेय ने हिन्दी काव्य जगत् में 'वाद' एवं गुट बनाने की प्रक्रिया शुरू की। दूसरे, तीसरे, चौथे सप्तक के सम्पादन में सम्पादक अज्ञेय ने अपने मनमानी ढंग से नियम बनाए और अपने विचारों को ही उसमें शामिल कवियों पर थोपा। इसके अलावा प्रतीक, नया प्रतीक, विशाल भारत, दिनमान आदि पर दलबंदी करने का आरोप लगाया गया। इन आरोपों पर ज्यादा ध्यान ना देते हुए अज्ञेय ने अपने सृजन-कर्म को निरंतर आगे बढ़ाया हैं। साथ ही आलोचकों के भटकाव से अपने पाठक को भी सदैव सचेत किया हैं।

- **बदलते दृष्टिकोण**

रचनाकार जब तक साहित्य-जगत में सक्रिय (जीवित) रहता है तब तक उसे लेखन पर पक्ष-विपक्ष कई विवाद होते हैं, किन्तु अज्ञेय के साहित्य-जगत से विदा लेने के बाद भी उन पर कुछ आरोपित टिप्पणियाँ गतिशील रही हैं। जबकि अधिकांश रचनाकार के साथ-साथ धीमी पड़कर समर्पित हो गई हैं। विश्वविद्यालयों में संगोष्ठियां आयोजित की जाती हैं। जहाँ रचनाकार के साहित्य पर विद्वजनों के व्याख्यान मूल्यांकन स्वरूप दिए जाते हैं। हर वर्ष एक नई सोच व दृष्टिकोण खोजने का प्रयास किया जाता है। 2010-11 में अज्ञेय की जन्मशती पर भी एक बड़ा समारोह आयोजित हुआ। इस संगोष्ठी में भाग लेने कुछ आलोचकों के मत यहाँ उद्धरणस्वरूप शामिल कर रही हूँ। इनको चुनने के पीछे मुख्य कारण यह बतलाना है कि आज भी कुछ समीक्षकों की दृष्टि में अज्ञेय का लेखन अर्थहीन व बेमानी है। इन मतों का विवरण 'समयांतर' पत्रिका में भी किया गया है।

पहला मत कवि-पत्रकार **अजय सिंह** ने अज्ञेय को 'घोर वाम-विरोधी, कम्युनिस्टद्वेषी, दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावादी लेखक व कवि मानते हुए कहा है कि, "....आप अज्ञेय के

कविता संग्रह 'आँगन के पार द्वार', 'कितनी नावों में कितनी बार' और 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ' पढ़ जाइए। अगर आप में धैर्य बचा हुआ हो और हिम्मत साथ न छोड़ गयी हो तो उनकी कुछ अन्य रचनाएँ भी (गद्य-पद्य) पढ़ जाए। आपको....ये रचनाएं अपने समय की हलचल से बेपरवाह एक ऐसे लेखक की है जो अपने लेखन कौशल पर मुग्ध है।"[1]

इसी तरह 'समयांतर' पत्रिका में **असद जैदी** और **मंगलेश डबराल** की टिप्पणियों ने भी अज्ञेय के मूल्यांकन की बजाय पुरानी बहसों को ही अतिवादी बनाया। **असद जैदी** ने 'यथास्थिति की प्रासंगिकता' लेख में कहा कि, "अज्ञेय ऐसे जनरल थे जिन्हें उनकी अपनी सेना ने ही अपदस्थ कर दिया था।...मेरी पीढ़ी के लिए अज्ञेय हिन्दी साहित्य में औसतपन....बांझपन के अवतार थे।"[2]

इन्ही के सुर में सुर मिलाते हुए **मंगलेश डबराल** ने 'कविता का सपाट चेहरा' लेख में कहा कि, "अज्ञेय की विडम्बना यह है कि उनका काव्यात्मक विवेक उन्ही तक सीमित रहा और परवर्ती कविता के काम का सीमित नहीं हुआ।"[3]

इसी तरह अज्ञेय की कविताओं में एकरसता, थके हारे क्षीण कवि का उबाऊ काव्य, बूढ़ा गिद्ध कहने वाले **अशोक वाजपेयी** इस संगोष्ठी में अज्ञेय को बड़ा लेखक मानते हुए कहते है कि बड़ा लेखक समय में ही नहीं रहता, बल्कि समय को गढ़ता है, बनाता है और रचता है।

अब तक प्रगतिवादियों ने अज्ञेय पर जितने भी आरोप मढ़े, उनके सन्दर्भ में इस वर्ग के एक आगामी आलोचक **डा० दिविक रमेश** ने स्वयं कबूला है कि, 'हम लोग जो प्रगतिवादी थे वो भी उस काल में अज्ञेय जी को क्योंकि सामाजिक मान्यता ऐसी थी कि उस मान्यता के अनुरूप चलकर उस पर बातें करते थे।'[4]

---

[1] आलोचना त्रैमासिक अंक-41, अप्रैल-जून 2011, पृ० सं०- 29

[2] आलोचना त्रैमासिक अंक-41, अप्रैल-जून 2011, पृ० सं०-29

[3] आलोचना त्रैमासिक अंक-41, अप्रैल-जून 2011, पृ० सं०- 29

[4] इन्द्रप्रस्थ भारती, जुलाई-सितम्बर 2011 (लेख-शब्द : अपने परिमाप में संगीत-गंगाप्रसाद विमल) पृ० सं०-94

अज्ञेय की जन्मशती पर आयोजित एक राष्ट्रीय संगोष्ठी **'आज के प्रश्न और अज्ञेय'** में प्रख्यात आलोचक **नामवर सिंह** ने यह स्वीकार किया कि, 'अज्ञेय कलात्मक रचाव और काव्य-विकास के सन्दर्भ में मुक्तिबोध से आगे है । शब्दों का वैभव अज्ञेय के पूरे कविता संसार में देखा जा सकता है । प्रयोगवादी कवि नहीं है, वे पूरी परम्परा को प्रतीकों में जैसा इस्तेमाल करते है वह सचमुच विरल है ।' इसी श्रृंखला में वे एक महत्त्वपूर्ण मत ओर देते है कि, "अज्ञेय को जनविरोधी समझ लेना भी अधूरी समझ होगी । आज सचमुच अज्ञेय को पूरी समझ के साथ समझने की जरूरत है । उनके जन्मशती वर्ष में उन्हें याद करने का इससे बेहतर तरीका ओर क्या हो सकता है कि हम उनकी रचनाओं को पढ़े, उस पर चर्चा करे और खुले मन से उसे समझने की कोशिश करे ।"[1] अज्ञेय और मुक्तिबोध को आमने-सामने रख कर मुक्तिबोध के गुणगान करने वाला आज अचानक अज्ञेय को महत्त्व दे रहा है ।

इन आलोचकों के मतों में बदलाव से क्या अभिप्राय लिया जाए कि उनके जीवित रहते तो इन्होनें उनकी रचनाओं को आघात पहुंचाया तथा उनके विचारों के प्रति पाठकों में भ्रान्त धारणाएँ फैलाई । अब जब अज्ञेय अपने विरूद्ध दागे गए आरोपों का उत्तर देने के लिए सामने नहीं है तो विरोधी पक्ष भी कुछ हद तक ठंडा पड़ गया है । आलोचकों के मानदण्ड समय के साथ ढीले पड़ गए हैं । बहरहाल रचनाकार अज्ञेय को उनके समय में कमत्तर आंकने वाले आज खुलेमन से उनकी रचनाओं के अध्ययन की मांग कर रहे है । यह खुलापन विचारों में पक्षधरता एवं सही मूल्यांकन का ही होगा, ऐसा मानना भी खतरा ही है । कोई भी रचनाकार अपने समय एवं समाज के बदलाव को लेकर विचार रखता है तो वह अपने समाज से कटकर या बेपरवाह होकर वह बदलाव नहीं करता । अगले अध्यायों में विस्तारपूर्वक इन आरोपों के पक्ष-विपक्ष के संवाद तथा उस पर अज्ञेय का स्पष्टीकरण देकर मूल्यांकन किया हैं ।

---

[1] आजकल पत्रिका, अप्रैल 2011, अज्ञेय पर केन्द्रित, पृ० सं०-59

दूसरा अध्याय
अज्ञेय के काव्य का मूल्यांकन

अज्ञेय के काव्य का मूल्यांकन

2.1 अज्ञेय का काव्य : नई सोच एवं विचार

2.2 कवि अज्ञेय : आलोचकों के आरोप, प्रतिक्रिया एवं स्पष्टीकरण

2.2.1 प्रयोगवादी

2.2.2 परम्पराद्रोही

2.2.3 पूर्ववर्ती –परवर्ती कवि अज्ञेय

2.2.4 व्यक्तिवादी-समाजविरोधी तथा अहंवादी

2.2.5 प्रतीकवादी-कलावादी

2.3 असाध्य वीणा : अर्थान्वेषी वाद-संवाद

2.4 काव्य-नाटक : उत्तर प्रियदर्शी

अज्ञेय के काव्य का मूल्यांकन

2.1 अज्ञेय का काव्य : नई सोच एवं विचार

हिन्दी साहित्य में अज्ञेय का स्थान प्रयोगवाद और नयी कविता के प्रमुख कवियों में माना गया हैं। इस धारा के कवियों में उनका स्वर सबसे अधिक वैविध्यपूर्ण रहा हैं। उनकी काव्य-कृतियों में अहं से लेकर समाज तथा प्रेम से लेकर दर्शन तक का वर्णन हुआ हैं। मानव-सौन्दर्य तथा प्रकृति सौन्दर्य दोनों एक साथ उनके काव्य में मिलते हैं। सन् 1924 में एक कहानी लिखी, जिसके प्रमाण-सूत्र स्पष्ट नहीं मिलते। उनकी पहली कविता 1927 में लिखी जो उनके लाहौर कॉलेज की पत्रिका में छपी थी ; अब 'चिंता' काव्य-संग्रह में संकलित हैं।

अज्ञेय की काव्य-प्रतिभा का बीजवपन 'भूमीरी' नचाते हुए चार वर्ष की अवस्था में ही हो गया था। **"मेरी भूमीरी नाचती है, सो तो ठीक, लेकिन अरी भूमि भी नाचती है - नाचत है भूमि री।"**[1] लगभग 11 वर्ष की आयु में गंगा पर अंग्रेज़ी में एक स्तुति कविता लिखी। जिसकी भाषा पर वे शैले, टेनिसन आदि का प्रभाव स्वीकृत करते हैं। इसके बाद मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय, श्रीधर पाठक, हरिऔध आदि की रचनाओँ से परिचय हुआ। हरिऔध के यशोदा विलाप को पढ़कर अज्ञेय ने मालिनी छंद में कई विलाप लिखे। 'आनंदबंधु'[2] पत्रिका में भी एक कविता छपी, जिसे उनके पिता एवं मित्रों ने खूब सराहा।

अज्ञेय की कविताओं की वास्तविक शुरुआत 1933 में **'भग्नदूत'** से मानी जाती हैं। यह काव्य-संग्रह कवि के युवा मन पर पड़े गंभीर आघातों का स्वर हैं। यहाँ कवि बड़े उदेश्य की प्राप्ति के संघर्ष से पीड़ित है, किन्तु इस पीड़ा से मुक्ति का मोह भी स्पष्ट देखा जा सकता है। सन् 1942 में **'चिंता'** वस्तु एवं रूप की दृष्टि से भिन्न काव्य-संग्रह आया। इसकी भूमिका में कवि अज्ञेय ने इसे तकनीक से पृथक और क्षेत्र-विशेष में मानव के

---

[1] अज्ञेय – आत्मनेपद ,पृ० सं० – 20

[2] वही ('एक दिन सहसा पाया कि मैनें एक हस्तलिखित पत्रिका निकाल दी है') पृ० सं०- 22

अंतर्भावों के चित्रण से युक्त बताया है । चिंता के दो खंड है - 'विश्वप्रिया' और 'एकायन' दोनों खंडों में क्रमशः पुरुष और स्त्री के दृष्टिकोण, मानवीय प्रेम के उद्भव और विकास, अंतद्वंद्व तथा संतुलन आदि स्थितियों का चित्रण और विश्लेषण किया हैं । 1943 में **'तारसप्तक'** का प्रकाशन हुआ । इस संग्रह में शामिल कविताएँ इनके अगले काव्य-संग्रह **'इत्यलम्'** में संकलित हुई । इसके द्वितीय संस्करण में तीन कविताएँ क्रमशः **'बावरा अहेरी'**, **'इन्द्रधनु रौदें हुए ये'** तथा **'कितनी नावों में कितनी बार'** से ली गई । यहाँ अज्ञेय कविता को ही कवि का परम वक्तव्य मानते हैं ।

1946, **इत्यलम्** में 'भग्नदूत' शीर्षक की कविताओं के अतिरिक्त यह संग्रह 'बंदी-स्वप्न, हिय हारिल, वंचना के दुर्ग तथा मिट्टी की ईहा- 5 खंडों में बंटा हैं । 'बंदी स्वप्न' की लगभग सभी कविताएँ जेल के जीवन को लेकर लिखी गई हैं । कही ग्वोंक्तियाँ है तो कही घृणा का गान मुखर हुआ है -

"तुम सत्ताधारी मानवता के शव पर आसीन
आज तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान ।"[1]

हिय हारिल में 'हारिल' पक्षी को प्रतीक बनाकर निराश प्रेम की कई कविताएँ गढ़ी हैं । अन्य खंडों में जीवन के कटु यथार्थ को कवि अनुभव कर नए रूप में व्यक्त करता है ।

'हरी घास पर क्षण भर' 1949 में प्रकाशित हुआ । इस संग्रह में कई आत्मान्वेषणात्मक, प्रकृति एवं प्रणय सम्बन्धी कविताएँ हैं । इस संकलन की कविताओं में बिम्ब, प्रतीक, छन्दों, भाषा आदि का नया एवं सधा हुआ प्रयोग किया हैं । 'अब उपमान मैले हो गए है'...(हरी घास पर क्षण भर) साथ ही कई कविताओं में काव्य-वैशिष्ट्य भी स्पष्ट किया हैं । 1954 में **'बावरा अहेरी'** काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ, इसमें 1950 से 1953 तक की कविताएँ संकलित हैं । इस काल में कवि की दृष्टि यौन कुंठाओं से ग्रस्त व्यक्ति का न होकर एक स्वस्थ प्रौढ़ भावक एवं आत्मान्वेषी की बन जाती है । यहाँ पहुँच कवि अज्ञेय

[1] अज्ञेय – इत्यलम्, पृ० सं०- 53

में एक नयी आस्था का उदय होता है । साथ ही अपनी अभिव्यक्ति के लिए 'मौन' का चुनाव आरंभ करता है ।

'इन्द्रधनु रौदें हुए ये' 1957 में प्रकाशित हुआ । इस संकलन में 1954 से 1955 तक की कविताएँ हैं । इसमें कवि की रूचि व्यंग्यात्मकता अधिक दिखाई देती है । इस संग्रह की अनेक कविताओं में आधुनिक सभ्य समाज, संस्कृति और विभिन्न प्रकार की परम्परागत रूढ़ियों पर व्यंग्य मिलता हैं । 1959 में प्रकाशित **'अरी ओ करुणा प्रभामय'** में 1956 से 1959 तक की कविताएँ संकलित हैं । जिस जीवन-सत्य की खोज के लिए अज्ञेय ने 'प्रयोग' को साधन-स्वरूप चुना था, उसकी खोज में वह न जाने कहाँ-कहाँ भटका है -

"यों मैं कवि हूँ, आधुनिक हूँ, नया हूँ
काव्य-तत्व की खोज में कहाँ नही गया हूँ?"[1]

यह संग्रह चार खंडों में – रोपयित्री, रूप केकी, एक चीड़ का खाका और द्वारहीन द्वार' बंटा हैं ।

1956 से 1961 तक की कविताएँ **'आँगन के पार द्वार'** में संकलित हैं । यह संकलन 'अंत:सलिला', 'चक्रांत शिला' तथा असाध्य वीणा तीन खंडों में विभाजित हैं । इस कृति को 1964 में साहित्य अकादमी पुरस्कार भी मिला । अब कवि अज्ञेय की विकसित प्रतिभा साफ देखी जा सकती है । विभिन्न सम्प्रदायों के प्रभाव की स्वीकृति कवि स्वयं घोषित करते चलता है। महामौन एवं रहस्यवाद का नया आयाम कवि पेश करता है । 1967 में प्रकाशित **'कितनी नावों में कितनी बार'** संग्रह में 1962 से 1966 तक की कविताएँ हैं । 1979 में इस संग्रह को भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला । यहाँ कवि अपने सम्वेदनात्मक संसार की अंतर्यात्रा कर आस्था एवं सत्य की खोज करता है ।

1970 में **'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ'** काव्य-संकलन प्रकाशित हुआ । इसमें 1965 से 1968 तक की 54 कविताएँ संकलित हैं । इनकी कविताओं में कवि अज्ञेय की विश्वसनीयता एवं परिपक्वता मिलती हैं । साथ ही कवि व्यक्ति जीवन से समाज जीवन

[1] अज्ञेय – अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० सं०- 10

पर जोर अधिक देता है । यथास्थान कवि सामाजिक विषमता की भर्त्सना हेतु व्यंग्यात्मक रुख अपनाते चलते हैं । 1970 में अन्य संकलन **'सागर-मुद्रा'** भी प्रकाशित हुआ, इसमें 1967 से 1969 तक की कविताएँ शामिल की गई हैं । संवेदना और शिल्प की दृष्टि यहाँ कवि अज्ञेय प्रौढ़ता को व्यंजित करते हैं । इस संकलन में कई कविताओं में काल की अवधारणा व्यक्त हुई हैं । 'सागर' को कई प्रतीकों तथा बिम्बों के द्वारा प्रस्तुत किया गया हैं ।

सन् 1970 से 1973 तक की रचनाएँ **'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ'**(1974) में संकलित हैं । यह संग्रह 3 खंडों में - 'वन झरने की धार', 'खुले में खड़ा पेड़', 'नंदा देवी बंटा हैं । इस संकलन की कविताओं में कवि की दार्शनिकता विशेष रूप से उभरी हैं । सत्य की खोज और गहराई के साथ प्रकट हुई है । नंदा देवी के प्राकृतिक सौन्दर्य से लेकर आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति से उस सौन्दर्य के सर्वनाश को कवि की चेतना बड़ी सजगता से शब्दबद्ध करती है ।

1977 में **'महावृक्ष के नीचे'** कविता-संग्रह में 1974 से 1976 के बीच की कविताएँ शामिल की गई । इस संग्रह के आरंभ में ही कवि सूचित कर देता है कि इस अवधि की रचनाओं में वर्णित विषय, घटनाएँ, सन्दर्भ विदेशी प्रभाव से मंडित हैं क्योंकि कवि इस समय विदेश यात्रा पर था । 1981 में **'नदी की बांक पर छाया'** काव्य में 1977 से 1981 तक की 58 कविताएँ हैं । यहाँ एक बार फिर कवि ने 'नदी' को एक नए आयाम के साथ प्रस्तुत किया है । यहाँ आकर कवि की चेतना परिचित विषयों, मिथकों आदि को नए सन्दर्भ में प्रस्तुत करती हैं ।

1986 में अज्ञेय ने अपनी समस्त कविताओं का संकलन दो भागों में बाँट कर **'सदानीरा भाग-1', 'सदानीरा भाग-2'** नाम से निकाला । पहले भाग में 1929 से 1956 तक की तथा दूसरे भाग में 1956 से 1981 तक की कविताएँ शामिल हैं । इसके बाद 1986 में **'ऐसा कोई घर आपने देखा है'** प्रकाशित हुआ । इसके अलावा अज्ञेय ने युगांतकारी काव्य संकलन भी निकाले । जिनकी भूमिकाओं तथा वक्तव्य में कवि-कर्म की समस्या, कविता-विषय-वस्तु-भाषा-शैली, शब्द-छंद का प्रयोग आदि पहलुओं पर अपना

स्पष्ट दृष्टिकोण रखा है । दूसरा सप्तक (1951), तीसरासप्तक (1959), पुष्करिणी (1953), रूपाम्बरा (1960) आदि की भूमिकाओं में कवि अज्ञेय की काव्य सम्बन्धी मान्यताएँ तथा कविताओं के चयन की शैली उनके व्यक्तित्व व कृतित्व के सभी पहलुओं को प्रतिबिम्बित करती हैं । कुछ चुनी हुई रचनाओं का संग्रह भी अज्ञेय ने किया - (1965) पूर्वा, सुनहरे शैवाल (1965), सर्जना के क्षण (1979), सन्नाटे का छंद, मरुस्थल (1995) में प्रकाशित हुए । कवि-कर्म का सम्बन्ध अभिव्यक्ति की बजाए 'सम्प्रेषण' से माना है । वे मानते है कि सम्प्रेषण की स्थितियों को समझे बिना काव्य का मूल्यांकन तो दूर, सही अर्थ-ग्रहण भी नहीं हो सकता ।

इस तरह अज्ञेय ने काव्य-संग्रहों के साथ-साथ पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से भी अपने कविता व सृजन सम्बन्धी विचारों को व्यक्त किया हैं । 1936-39 में 'सैनिक' और 'विशाल भारत' पत्रिका से जुड़े । ये पत्रिकाएँ जहाँ समाज के विभिन्न आन्दोलनों, वाद-विवादों, वैचारिक मतभेदों से घिरी थी, वही बदलते राजनीतिक रूप से भी पछाड़ खा रही थी । 1943 में तारसप्तक से हिन्दी कविता के आधुनिक दौर की शुरुआत हुई । साथ ही दूसरा सप्तक, तीसरा सप्तक, चौथा सप्तक सभी में अज्ञेय ने कविता से जुड़े जरूरी पहलुओं-परम्परा, प्रयोग, सत्य, रचना-प्रक्रिया, छंद-शब्द-रूप-शैली, साधारणीकरण, सम्प्रेषण, पसोर्ना आदि पर एक नई सोच एवं समझ को सामने रखा । इलाहाबाद से 1946 में 'प्रतीक' पत्रिका के माध्यम से नई कविता के लिए स्थान बनाया । 1964 में दिल्ली से 'दिनमान' साप्ताहिक पत्र निकाला । इसमें अज्ञेय ने हिन्दी के बुद्धिजीवियों, परिवर्तन के लिए मचलते नौजवानों तथा अपनी पहचान बनाने की तलाश में राह खोजने कवियों को एक साथ जोड़ा । 'नवभारत टाइम्स', 'वाक्', 'एवरीमैंस' जैसी प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं से जुड़कर उन्हें बेहतर बनाने का सक्रिय प्रयास किया । साथ ही समाज की बदलती मानसिकता को अपने सृजन के द्वारा पेश किया ।

1973 में 'नया प्रतीक' का प्रकाशन अज्ञेय अपनी पूंजी लगाकर किया । नई सोच व विचारधारा को वे प्रस्तुत करने के लिए संघर्ष कर रहे थे उसके लिए एक प्लेटफार्म जरूरी था, यह बात अलग है कि वह जल्द ही गतिहीन हो गया । इस तरह हिन्दी

कविता की तस्वीर अर्थात् बनी-बनाई परिपाटी से बेदखल कर उसे नए रूप में उतारा। इस नएपन को अपनी राह में कई रुकावटें, टिप्पणियों, आरोपों को झेलना पड़ा। स्वयं कवि के साहित्य को हल्का समझ दरकिनार कर दिया गया।

2.2 कवि अज्ञेय : आलोचकों के आरोप, प्रतिक्रिया एवं स्पष्टीकरण

हिन्दी आलोचना में किसी रचनाकार के मूल्यांकन में वाद-विवाद की स्थिति पहली दफ़ा हुई हो ऐसा कदापि नहीं है। जब किसी कवि के नए भाव-बोध, विचार, सोच, रचना-प्रक्रिया, भाषा-सम्प्रेषण शैली आदि को पुरानी विचारधारा तथा सीमित पैमानों में तौला जाता हैं, तब कवि व उसकी रचना दोनों अन्याय व भटकाव की स्थिति झेलती हैं। हिन्दी आलोचना में 'कवि अज्ञेय' को ऐसी ही स्थितियों का सामना करना पड़ा। इनके कवि रूप तथा काव्य के मूल्यांकन में आलोचकों के आरम्भ से लेकर अब तक कई मतभेद (पक्ष-विपक्ष) मिलते हैं। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि प्रत्येक आलोचक की अपनी सोच व मानदण्ड है, किन्तु जब कवि को सीमित दायरों में मापा जाए तो उसकी रचना अर्थहीन होकर ही पेश होती है। इसी सीमितता को मापते हुए अज्ञेय के कवि रूप तथा काव्य पर काफी आरोप एवं टिप्पणियाँ मढ़ी गई। इन आक्षेपों पर अज्ञेय के पक्षधर आलोचकों ने भी अपनी सहमति-असहमति व्यक्त की है, तो कुछ आलोचकों ने उग्र होकर उन आरोपों को ख़ारिज करने का प्रयास किया हैं। तो कही वे समय के साथ-साथ नम्र भी पड़ते गए हैं। यथास्थान अज्ञेय ने भी अपनी कविताओं की आलोचनाओं पर अपनी प्रतिक्रियाएँ दी हैं। उनकी यह जवाबदेही काव्य-संकलनों की भूमिकाओं में, वक्तव्यों में, निबन्धों में, साक्षात्कारों आदि में मिलती हैं।

हिन्दी साहित्य जगत् में अज्ञेय पर जितनी आरोपित टिप्पणियाँ तथा मूल्यांकन किया गया, उसका विश्लेषण करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि इस आलोचना पर स्वयं कवि अज्ञेय क्या प्रतिक्रिया है - **अज्ञेय** कहते है कि, "मुझे इससे संतोष है कि लगातार आलोचना हुई है - जिससे समझा जा सकता है कि कुछ न कुछ उत्तेजना की सामग्री मेरे लेखन में रही है। मेरे संतोष के लिए यही काफी है। प्रशंसा कभी अच्छी भी लगती है पर हमेशा नही - तब तो बिल्कुल नहीं जब दीखता है कि उसके

पीछे मूल्य विवेक नहीं है या कसौटियां ही गलत है । वैसी प्रशंसा से ग्लानि ही होती है ।.....हाँलाकि प्राय: अनुभव हुआ कि आलोचक ने मेरे लिए कुछ नई बात नहीं कही है बल्कि बहुत सा ऐसा कहा है जिसे मैं जरूरी नहीं समझता ।"[1]

इसका मतलब यह हुआ कि अज्ञेय पर जितने भी आरोप लगे, वे अधिकांशत पूर्वधारणाओं से संचालित रहे । साथ ही अज्ञेय की कुछ रचनाएँ ऐसी भी सृजित हुई जिसे अज्ञेय बाद में स्वयं ख़ारिज कर देते हैं ।

2.2.1 प्रयोगवादी

अज्ञेय की कविता पर सबसे प्रमुख आरोप **'प्रयोगवादी'** होने का लगा । 1943 में तारसप्तक के आगमन से काव्य में सत्य की खोज, प्रयोग की महत्ता व्यक्त की जाने लगी । तारसप्तक के वक्तव्य में अज्ञेय के नए विचार ही वाद-विवाद का विषय बने । छायावाद के प्रमुख आलोचक **आचार्य नंददुलारे वाजपेयी** ने 'प्रयोगवादी रचनाएँ' शीर्षक लेख में अज्ञेय तथा उनके समकालीनों पर कई आक्षेप लगाए । 'प्रयोगवादी' शब्द पर कई आलोचकों ने अपना मत दिया । वाजपेयी जी ने इन कवियों की रचनाओं को प्रयोगवादी घोषित करते हुए उन्हें कविता मानने से ही इंकार किया । साथ ही इनकी रचनाएँ वैयक्तिक अनुभूति के प्रति ईमानदार नहीं है और किसी सामाजिक उत्तरदायित्व को भी पूरा नहीं करती ।'[2]

'अज्ञेय को सृष्टा, सन्देशवाहक न मानकर प्रणेता और प्रवक्ता मात्र माना । उन्होनें इस काव्यान्दोलन को न केवल प्रयोगवाद नाम ही दिया, बल्कि इस काव्य को अंधाधुंध बताते हुए प्रयोगवादी साहित्यिक की भी परिभाषा दे डाली ।'[3]

---

[1] संपा० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी- अज्ञेय ; (साक्षात्कार- अज्ञेय के साथ एक बातचीत), पृ० सं०- 297

[2] नंददुलारे वाजपेयी– आधुनिक साहित्य (प्रयोगवादी रचनाएँ), पृ० सं०- 23-24 (नंददुलारे वाजपेयी का मत है - "प्रयोगवादी रचनाएँ पूरी तरह काव्य की चौहद्दी में नहीं आती। वे अतिरिक्त बुद्धिवाद से ग्रस्त है।..प्रयोगवादी रचनाएँ वैयक्तिक अनुभूति के प्रति ईमानदार नहीं है और सामाजिक उत्तरदायित्व को भी पूरा नहीं करती।...कवि का दायित्व मुख्यतः तीन वस्तुओं के प्रति होता है- 1.व्यक्तिगत अनुभूति के प्रति 2.काव्य सत्ता के प्रति 3.सामाजिक जीवन के प्रति। हमारे प्रयोगवादी कवियों में उनमें से एक भी पक्ष परिपुष्ट नहीं है।"

[3] नंददुलारे वाजपेयी – आधुनिक साहित्य (प्रयोगवादी रचनाएँ) , पृ० सं०- 95

(वाजपेयी जी का मानना है कि – "प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारणत: उस व्यक्ति का बोध होता है, जिसकी रचना में कोई तात्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रम-विकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो। वास्तविक सृजन और कान्तदर्शिता के बदले सामान्य मनोरंजन और शैली-प्रसाधन ही उसकी वस्तु हो।")

प्रगतिशील आलोचकों ने भी अज्ञेय को 'प्रयोगवादी' करार दिया। **शिवदान सिंह चौहान** ने इस प्रयोगशील कवियों के प्रयोग को साहित्यिकता की कोई विशिष्ट शैली या प्रवृत्ति नहीं माना। इनके प्रयोगों को लेकर उभरे खास दृष्टिकोण ने ही इन्हें लंगड़ा व लुंज बनाया। इनका प्रयोग मात्र कविता की भाषा, लय, छंद, शैली आदि तक ही सीमित रहा, इनमें आधुनिक युग के सम्पूर्ण विस्तार को अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य नही है। तारसप्तक में शामिल कवियों ने भी इस आरोप को गहराने में अपनी अनचाही भागीदारी दी। **प्रभाकर माचवे** ने अपने को प्रयोगशील और प्रयोगवादी कहलाने के लिए 1952 में 'कल्पना' पत्रिका में 'हिन्दी की प्रयोगवादी कविता' लेख लिखा। ऐसे लेखों को प्रगतिवादियों ने साजिश समझ आक्रामक होकर भी कुछ आरोप मढ़े हैं। साथ ही इस साजिश के सेनापति षडयंत्रवश 'अज्ञेय' को बना दिया गया। इस तरह के उलझाव की स्थितियां भी नए विवादों व आरोपों का रूप लेकर उभरी। इन प्रयोगवादियों पर टिप्पणी करते हुए **रामविलास शर्मा** का मत है कि, "हिन्दी के ये प्रयोगवादी कवि कभी विषयवस्तु की चर्चा नहीं करते। सारा नया रूप-विधान नए रागात्मक सम्बन्धों के नाम पर केवल समाज-निरपेक्ष मध्यवर्गीय व्यक्ति की मानसिक बीमारियों का सहानुभूति और मोहक अलंकरण हैं। इसी आत्महीनता के कारण विषयवस्तु पर जोर नहीं देते।"[1] इस तरह मार्क्सवादी आलोचक यह मानकर चलते है कि यह काव्यान्दोलन प्रगतिवाद के विरोधस्वरूप पनपा है। वही दूसरी ओर इस विवाद को ओर गहराता या कहूँ प्रश्नचिन्ह खड़ा करता हुआ एक दल बिहार के नलिनविलोचन, केसरी, और नरेश के 'नकेनवादियों' का आया। इस तिकड़ी ने अज्ञेय और उनके सहयोगियों की कविता को 'प्रयोगवादी' गद्दी के अयोग्य घोषित किया और अपनी कविताओं को असली प्रयोगवादी काव्य घोषित किया। नामवर सिंह ने इन नकेनवादियों को प्रपद्यवादी करार करते हुए इसे प्रयोगवाद की ही एक शाखा कहा है।'[2]

---

[1] रामविलास शर्मा – नई कविता और अस्तित्ववाद, पृ० सं०- 29

[2] नामवर सिहं – आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ , पृ० सं०- 93

इस आरोप-प्रत्यारोप से अलग हटते हुए **लक्ष्मीकांत वर्मा** ने 'प्रयोगवाद को ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ने की बौद्धिक जागरूकता माना है ।'[1] इस कथन से अज्ञेय की जिन कविताओं में बौद्धिकता का आग्रह मिले वे 'प्रयोगवादी' है । साथ ही 1951 में आलोचना पत्रिका में लक्ष्मीकांत वर्मा ने लिखा कि , ' प्रयोगवादी जिसे हम नई कविता भी कहते हैं ।'[2]

नामवर सिहं ने 'प्रयोगवाद' नाम की अपर्याप्तता को समझाते हुए इस नाम का हिन्दी साहित्य में बोलबाला क्यूँ और कैसे हुआ स्पष्ट बतलाया । उन्होनें बताया कि इन कवियों के प्रयोग एक काम चलाऊ नुस्खे है जो कारगर सिद्ध हुआ तो सत्य अन्यथा मात्र प्रयास-भर है । इनके काव्य को नए अन्वेषण, ताजगी से परे करते हुए 'नई कविता' से बाहर किया है । साथ ही माना है कि प्रयोगवादी कविताएँ एक विशेष प्रकार की घुटन और एकरसता से भरी है । जो कवि और पाठक दोनों की प्रवृत्तियों को गहराने के नाम पर संकुचित करती है । उन्हें व्यापक विश्व समाज और प्रकृति में फैलने से रोककर मनुष्य को जीवन्मृत बना देती है ।'[3]

इसके विपरीत **देवराज** ने इन प्रयोगवादी कवियों को 'नई कविता' की पूर्ववर्ती कविताएँ घोषित किया । जहाँ कविताओं की प्रकृति में कोई विरोधी अंतर नही है मात्र विकास प्रक्रिया का अंतर है । 'प्रयोगवाद' नाम की जगह 'देवराज' ने इन कवियों की कविताओं को 'वाद' के घेरे से बाहर कर 'संक्रमणकालीन कविताएँ' कहा है । जो एक काल विशेष और स्थिति विशेष को अभिव्यक्त करने वाली रचनाओं का बोध कराती हैं । **देवराज के शब्दों में**, ".....1943 के आस-पास के संक्रमणकालीन वातावरण की अभिव्यक्ति इन कविताओं में हुई है।...,यह नाम देने में हमारा उदेश्य इस काव्यान्दोलन को किसी भी प्रकार के कटघरे में बंद करना नहीं है और न किसी नए वाद की स्थापना करना है।....इस नाम से एक काल विशेष और स्थिति विशेष की अभिव्यक्ति वाली रचनाओं का बोध हो सके। संक्रमणकाल शब्द किसी फ्रेम की ओर संकेत नहीं करता, बल्कि वातावरण

---

[1] लक्ष्मीकांत वर्मा – हिन्दी साहित्य कोष प्रयोग, पृ० सं०- 528

[2] आलोचना पत्रिका जुलाई-सितम्बर 1954

[3] नामवर सिहं – आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ , पृ० सं०- 98-123

की ओर संकेत करता है, वह वातावरण जो इन कविताओं में मुखर हुआ है, जो इन पर थोपा नहीं गया है। इनके भीतर से ही उगा है और जो इस काव्यान्दोलन के युग बोधक होने का प्रमाण भी है।"[1]

प्रयोगवाद नाम से अज्ञेय प्रारम्भ से ही असंतुष्ट थे । 1954 में जगदीश गुप्त के प्रकाशन में 'नयी कविता' शीर्षक से नवीन प्रयोगवादी कवियों का संकलन प्रकाशित हुआ । इससे प्रयोगवादी कहे जाने वाले कवि प्राय: पूर्ण साम्य रखते थे । इन आलोचकों ने प्रयोगवादी कवियों को 'नई कविता' का कवि कहना शुरू किया, जिसे प्रयोगवादियों ने सहज रूप से स्वीकार किया । रामविलास शर्मा, डा० इन्द्रनाथ मदान, नामवर सिंह, देवेश ठाकुर आदि आलोचकों ने प्रयोगवादी कविता और नयी कविता को अलग-अलग माना है जिसने इस विवाद को ओर बढ़ावा दिया । इन सभी मत-विमर्शो से इतर **मुक्तिबोध** ने नई कविता की शुरुआत 1938 से मानी, जब सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए कविता की विषयवस्तु के अनुरूप जिस नए काव्य-रूप, काव्य-शिल्प का प्रचलन हुआ वह बिल्कुल अलग था । **मुक्तिबोध** इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि , "तत्कालीन सामाजिक यथार्थ को छायावादी-आदर्शवादी वैचारिक दृष्टि न तो समझ सकती थी और न व्यक्त क्र सकती थी, इसलिए नई कविता का जन्म व्यक्तिवाद के विरुद्ध यथार्थोन्मुख व्यक्तिवाद की ही बगावत थी । यह बगावत इसीलिए संभव थी कि देश की बिगड़ी हुई दशा में मध्यवर्ग के साधारण व्यक्ति का जीवन असह्य हो उठा था । ऐसा व्यक्ति यह सोचता था कि तत्कालीन रोमेंटिक कविता कम-से-कम उसके कष्ट ग्रस्त जीवन के मनोभावों के यथार्थ को तो उभारे ।"[2] अपने इस स्पष्टीकरण में वे आगे कहते है कि नए कवियों ने केवल नम्रता प्रदर्शित करने के लिए अपनी कविताओं को प्रयोग कहा । वे कविताएँ प्रयोग न होकर ; साक्षात् कविताएँ थी । नई कविता के विरोधियों ने निंदा के तुच्छ भाव से प्रयोगवाद शब्द चला दिया ।[3]

---

[1] देवराज – नयी कविता , पृ० सं०- 67

[2] मुक्तिबोध - नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ० सं०- 31-32

[3] वही , पृ० सं०- 31-32

इसके अलावा **रामस्वरूप चतुर्वेदी** और **नंदकिशोर आचार्य** ने 'प्रयोग' शब्द की व्याख्या अज्ञेय के विचारानुरूप ही की । 'वाद' के घेरे से बाहर रखकर मार्क्सवादी आलोचकों के तर्कों को काटने का प्रयास अज्ञेय के मतों का उल्लेख कर ही किया हैं । इस आरोप के प्रतिक्रियास्वरूप अज्ञेय ने 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में अपना मन्तव्य स्पष्ट किया । साथ ही तारसप्तक के वक्तव्य में भी वे स्पष्ट कर चुके थे कि उन्होनें किसी भी वाद की स्थापना और गुटबाज़ी नहीं की है ।'[1] 'प्रयोग का कोई वाद नहीं है वह मात्र साधन है । हमें प्रयोगवादी कहना निराधार है ।'[2]

अज्ञेय की कविताओं पर प्रयोगवादी ठप्पा लगने के साथ-साथ उससे जुड़े कई आरोप और लगे जैसे साधारणीकरण का अभाव, काव्य-वस्तु की अपेक्षा मात्र शिल्प पर ध्यान, परम्पराद्रोही, समाजनिरपेक्ष, छायावादी प्रभाव आदि को लेकर अज्ञेय ने अपनी जवाबदेही इन्हीं भूमिकाओं तथा वक्तव्यों में स्पष्ट की हैं । इन पक्ष-विपक्ष मतों का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि अज्ञेय को प्रयोगवाद के पुरोधा के रूप में स्थापित कर समीक्षकों ने अन्य सम्मिलित कवियों को द्वितीय श्रेणी का बना दिया है । जिसका कारण बहुत हद तक स्वयं अज्ञेय भी रहे हैं । प्रगतिवाद के विरोध में पनपा बतलाकर इसका मूल्यांकन आड़े हाथों लिया गया । ख़ैर उस दौरान समीक्षकों ने जितना भी प्रचंड रूप अपनाया हो, इस आरोप को खारिज़ करने में स्वयं अज्ञेय की प्रतिक्रियाएं भी कुछ दमदार नहीं है । यथास्थान उनके मत उथले स्पष्टीकरण का दोष बन जाते है क्योंकि वे अपने वक्तव्यों में निश्चित धारणा रखते हुए भी उसे एक समय बाद हल्का व निराधार कहकर एकतरफ़ा कर देते है । इस सन्दर्भ में **केदारनाथ सिंह** की तारसप्तक के पुनर्मूल्यांकन पर की गई टिप्पणी ध्यान देने योग्य है कि, "तारसप्तक एक नई काव्यात्मक

---

[1] अज्ञेय – तारसप्तक, भूमिका पृ० सं०- 12 (अज्ञेय का मत है – "तारसप्तक किसी गुट का प्रकाशन नहीं है क्योंकि संग्रहीत सात कवियों के साढ़े सात अलग-अलग गुट है।")

[2] अज्ञेय – दूसरा सप्तक , भूमिका , पृ० सं०-6 (अज्ञेय- "प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, न ही है। न प्रयोग अपने आप में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नहीं है। अत: हमे प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है, जितना हमे कवितावादी कहना है।")

क्रान्ति का अग्रधावक नहीं बल्कि, उसकी कुछ आरंभिक प्रवृत्तियों की सामूहिक अभिव्यक्ति मात्र है ।"[1]

इस तरह उनके सहयोगी कवि भी इस पक्ष में उलझावपूर्ण तर्क रखते है जिससे पाठक वर्ग के समक्ष 'प्रयोग' द्वारा सत्य की खोजबीन 'प्रयोगवादी कविता' का रूप लेकर ही प्रस्तुत होती है । वास्तव में देखा जाए तो 'प्रयोगवाद' की शुरुआत तारसप्तक से नहीं बल्कि, 1947 में प्रतीक से होती हैं । इस पत्र के साथ ही अज्ञेय घोषणा करते हैं कि जीवन के गहनतर सारों को उज्ज्वलतर आलोक से विशदत्तर रूप में प्रतिभासित करने वाले साहित्य के खोजी हैं । सन् 1946 के 'नया साहित्य' में शमशेरबहादुर सिंह ने 'तारसप्तक' की समीक्षा की तब उन्होंने भी मात्र प्रयोगों का जिक्र किया था, न की किसी प्रयोगवाद का । जब प्रगतिवाद के विरोध में एक नए 'वाद' की जरूरत समझी गई तब आलोचकों ने 'प्रयोगवाद शब्द ईजाद किया और इस दौर कवियों को इसके कटघरे में डाल दिया । अब तक भी अज्ञेय पर प्रयोगवादी होने का आरोप लगता रहा है जिससे अपने समय में अज्ञेय इस तर्कजाल से बाहर निकल 'नई कविता' की ओर रुख लेते है । 'नई कविता' की ओर बढ़ता कदम 'प्रयोगवाद' की अनचाही स्वीकृति बनकर स्थापित हो जाता है । अत: यह स्पष्ट है कि काव्य में प्रयोग पहले भी होते आए है लेकिन अज्ञेय ने 'प्रयोग' के इस बोलबाले को अलग ढंग से प्रस्तुत किया । जिससे वे प्रयोगवाद तथा प्रयोगवादी रचनाओं के कवि माने गए ।

2.2.2 परम्पराद्रोही

प्रयोगवादिता के चलते अज्ञेय की कविता पर अगला प्रमुख आरोप **'परम्पराद्रोही'** होने का मढ़ा गया । **नंददुलारे वाजपेयी** ने टिप्पणी की ये प्रयोगवादी परम्परा से कटकर नवीनता लाना चाहते हैं । ऐसा प्रयोग शून्य पर खड़ी दीवाल जैसा अर्थहीन होगा । वही **रामविलास शर्मा** ने अज्ञेय की कविता के प्रतीकों और उपमानों की बोझिलता यह कहकर लक्षित की है कि ये उपमान व प्रतीक परम्परागत है कुछ नयापन नही है, पुराने प्रतीकों

[1] आलोचना (पत्रिका) जुलाई-सितम्बर 1967, (केदारनाथ सिहं – तारसप्तक: एतिहासिकता और प्रांसगिकता) पृ० सं०-122

का ही बहुतायत प्रयोग किया गया है । (यानी परम्परा को लक्षित किया वो भी सीमित कविताओं के परिपेक्ष्य में रखकर) इसी तरह **रमाशंकर मिश्र** को भी प्रयोगशील चिंतन-दृष्टि में परम्पराओं के प्रति विद्रोह की भावना दिखलाई पड़ती है ।'[1]

इन मतों के विपरीत अज्ञेय को परम्परा से जुड़ा हुआ मानने वालों की भी कमी नहीं थी । **नंदकिशोर आचार्य** ने 'अज्ञेय को अपने समय की परिस्थिति की चुनौती या खतरे को पहचानकर उसे एक रचनात्मक संभावना देखने वाला माना । जो अपनी परम्परा की विशिष्टता और अपनी अस्मिता को परिस्थिति में विलय करने की बजाए परिस्थिति को नियमित करने के अपने अधिकार का दावा करता और परम्परा से ताकत ग्रहण करता है । अज्ञेय परिस्थिति निरपेक्ष परम्परा को नहीं स्वीकारते, बल्कि परम्परा का सामर्थ्य इसमें है कि वह किस हद तक नयी से नयी परिस्थिति का सामना कर सकती है । इसी के तहत् अज्ञेय परम्परा को अपनाते हुए उसका विकास व नया रूपायन करते हैं ।'[2]

इन पक्ष-विपक्ष मतों के साथ-साथ अज्ञेय की प्रतिक्रिया जान लेनी भी जरूरी है कि वे इन परम्परा सम्बन्धी टिप्पणियों पर क्या उत्तर देते हैं । 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में **अज्ञेय** कहते है कि, "जो लोग प्रयोग की निंदा करने के लिए परम्परा की दुहाई देते है, वे यह भूल जाते है कि परम्परा, कम-से-कम कवि के लिए, कोई ऐसी पोटली बांधकर अलग रखी हुई चीज नही है जिसे वह उठाकर सिर पर लाद ले और चल निकले । परम्परा का कवि के लिए कोई अर्थ नही है जब तक वह उसे ठोक-बजाकर, तोड़-मरोड़कर देखकर आत्मसात नहीं कर लेता ;.....संस्कार देने वाली परम्परा कवि की परम्परा है, नही तो वह इतिहास है, शास्त्र है, ज्ञान भंडार है जिससे अपरिचित भी रहा जा सकता है ।....हम पर तो बौद्धिकता का आरोप लगाया जाता है । पर इससे अपरिचित रहकर भी परम्परा से अवगत हुआ जा सकता है और कविता की जा सकती

---

[1] आलोचना (पत्रिका) जून 1965 (लेख – हिन्दी कविता : प्रयोगशील – रमाशंकर मिश्र) पृ० सं०- 86-90

[2] संपा० अशोक वाजपेयी – अज्ञेय का संसार : शब्द और सत्य (लेख- परम्परा : इतिहास की चुनौतियाँ – नंदकिशोर आचार्य), पृ० सं० - 110

है।"[1] अज्ञेय मानते है कि, 'परम्परा वह रस है जिसे हम बूंद-बूंद अपने में संचय करते है - या नहीं करते, कोरे रह जाते हैं।'[2]

अत: यह स्पष्ट है कि 'विचारवान व्यक्ति के लिए परम्परा का स्वरूप पुनरुच्चारण का न होकर पुनर्मूल्यांकन का होता है।'[3] अज्ञेय पर परम्परा से कटे होने का जो आरोप लगाया गया था जिस संकुचित दृष्टि से उनकी कविता के सत्य व प्रयोग का निर्णय किया गया। अज्ञेय ने उसका सही अर्थ तथा परम्परा को सिर पर लादने वाले समीक्षकों को अपना परम्परा मोह स्पष्ट किया है। वे परम्परा के रूढ़िवादी रूप का विरोध करते है, संस्कार देने वाली, जीवन-राग को ध्वनित करने वाली परम्परा को अपनाने का पक्ष लेते हैं। अपनी एक कविता में अज्ञेय परम्परा को 'काली रेखा' मानते है लेकिन इस काली रेखा के सहारे ही वे आगे बढ़ते है प्रकाश की खोज करते हैं। यानी, वे परम्परा को छोड़कर नए प्रयोगों की दरकार नहीं करते।

"अंधकार में चली गयी है -
काली रेखा
दूर-दूर पार तक।
इसी लीक को थामे मैं
बढ़ता आया हूँ
बार-बार द्वार तक
*** * * * * * * ***
चलने की है यही प्रतिज्ञा
पहुँच सकूँगा मैं
प्रकाश के पारावार तक"[4] - (आँगन के पार द्वार)

---

[1] अज्ञेय – दूसरा सप्तक, भूमिका, पृ० सं० - 6

[2] अज्ञेय – आत्मनेपद, पृ० सं० - 100

[3] धर्मयुग पत्रिका-2 जनवरी 1966, (पु० शि० रेगे - टी.एस इलियट और परम्परा), पृ० सं०-10

[4] अज्ञेय – आँगन के पार द्वार , पृ० सं० - 59

इसी तरह उनका परम्परा सम्बन्धी विवेक 'चीनी चाय पीते हुए' कविता की यह पंक्तियाँ स्पष्ट अभिव्यक्त करती है कि -

"कितनी दूर जाना होता है पिता से, पिता जैसा होने के लिए ।"[1]

अर्थात् पिता आनुवंशिक परम्परा की एक कड़ी है, इसकी अगली कड़ी बनने के लिए भिन्नता और विशिष्टता अनिवार्य है । परम्परा महज़ अनुवर्तन नहीं है, यह एक भिन्न सर्जनाप्रेरक है । अज्ञेय परम्परा-द्रोही नहीं थे, इसके कई उदाहरण उनकी कविताओं में आसानी से देखे जा सकते है जिन्हें विपक्षी दल के आलोचकों ने नजरअंदाज कर कवि अज्ञेय पर आरोप लगाए हैं ।

2.2.3 पूर्ववर्ती – परवर्ती कवि अज्ञेय

अज्ञेय की कविताओं का विश्लेषण अधिकांशत: आलोचकों ने वर्गों में बाँट कर किया है - पूर्ववर्ती अज्ञेय तथा उत्तर-परवर्ती अज्ञेय । उनकी कविताओं पर छायावाद से लेकर पाश्चात्य विचारधाराओं का प्रभाव लक्षित किया है । जिसके चलते परम्पराविरोधी (जिसका स्पष्टीकरण दिया जा चुका है) तथा पश्चिम की नकल करने वाला कहा गया । अज्ञेय के समकालीन **कवि- आलोचक मुक्तिबोध** विदेशी प्रभाव ग्रहण करने में कोई संकोच नहीं करते अपितु, इस प्रभाव-ग्रहण के लिए कुछ कठोर निर्देश देते हैं कि विदेशी प्रभाव 'काव्य-शैली' तक ही सीमित होना चाहिए 'वस्तुतत्व' के रूप में कोई प्रभाव कदापि ग्रहणीय नहीं हैं ; साथ ही अपनी भाषा, इतिहास और संस्कृति से जुड़ा होना चाहिए । नई कविता के इन कवियों पर आपत्ति जताते हुए मुक्तिबोध का कथन है कि, "कई ऐसे लेखक हैं, कवि हैं, जो भारतीय अनुभव को ध्यान में न रखकर विदेशों में प्रचलित जो सभ्यता-समीक्षा है, उसको अपनाकर काव्य में अपनी भावनाएँ प्रकट करते हैं ।.....अगर यूरोप-अमेरिका का कवि उदास है और उसका जी काट खाने को होता है । तो हमारे यहाँ के कवि भी उदासी को फैशनबुल समझकर कविता में उदासी

[1] अज्ञेय – आँगन के पार द्वार, पृ० सं० - 65

का चित्रण करते हैं । यह गलत है ।"[1] मुक्तिबोध ने इन कवियों के उस प्रतिक्रियावादी षड्यंत्र का भंडाफोड़ किया है जो साहित्य को अपने इतिहास और अपनी परम्परा से काट देने से संलग्न थे ।

रामविलास शर्मा ने तो अज्ञेय को दूसरे का माल लेकर, अनुभूति के आधार पर अपना अर्थ भरने वाला कहा ।' उनकी आरंभिक कविताओं को छायावाद का विकसित रूप मानकर अज्ञेय को 'चतुर कवि' कहकर उनकी कविताओं को जड़ाऊ और टिकाऊ घोषित किया है । विशेषकर 'सोन मछली' कविता का मूल स्रोत खोजते हुए ऐलन रिडेल की कविता 'Gold fish at an Angle' से साम्य बताया है ।'[2]

"फिश इन दि बोल हेव नों डेप्थ ऐट आल	*	**<u>सोन मछली</u> -**
टू माई आइज ऐट दिस एंगल।	*	**" हम निहारते रूप,**
क्यूरिअसली दे फ्लैटन	*	**काँच के पीछे**
देम्सेल्व्स अंगेस्ट ग्लास अंगेस्ट आइज़	*	**हाँप रही है मछली**
अंगेस्ट दि वर्ल्ड , फेंसड	*	**रूप-तृषा भी**
राउंड दे आर , येट नाट	*	**(और काँच के पीछे)**
राउंड बट फ्लैट ...दे आर...देयर ।	*	**है जिजीविषा ।"**

'अरी ओ करुणा प्रभामय' संग्रह में कुछ जापानी कविताओं के अनुवाद भी दिए गए है । अज्ञेय की मौलिक रचनाओं के साथ वे अनुवाद रख दिए जाए तो पता लगाना मुश्किल होगा कि किस कविता की अनुभूति हिन्दुस्तानी है किसकी जापानी! जड़ाऊ कविता की यही विशेषता है ।'[3]

---

[1] मुक्तिबोध - नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ० सं०- 41

[2] रामविलास शर्मा – नयी कविता और अस्तित्ववाद , पृ० सं० -81

[3] रामविलास शर्मा – नयी कविता और अस्तित्ववाद (लेख- अज्ञेय और रहस्यवाद) पृ० सं०- 81-82

इसके विपरीत **केदारनाथ सिंह** को अज्ञेय की कविता में प्रसाद या महादेवी की अनुगूँज सुनाई पड़ती है । लेकिन उसमें अज्ञेय ने अपने प्रयोगों से नवीनता भरी है । अज्ञेय की आरंभिक कविताओं की सही पहचान के लिए उनके बाह्य रूपाकार को थोड़ा ओझल करना होगा । 'चिंता' कविता की ये पंक्तियाँ –

'सखि, आ गए नीम को बौर
हुआ चित्रकर्मा वसंत अवनी-तल पर सिर मौर ।'[1]

यह गीत महादेवी के गीतों की याद दिलाता है किन्तु कवि अज्ञेय ने इसमें नवीनता लाने के लिए आम के बौर की बात न कहकर नीम के बौर की बात कहता है जो छायावादी कवि के सौन्दर्यबोध से विरूद्ध जान पड़ती है ।'[2] साथ ही उनकी बाद की कविताओं में एक खास तरह की राजनीति-निरपेक्षता दिखाई देती है । आरंभिक अज्ञेय को इन्होनें कच्ची भावुकता का कवि कहा है । 'अज्ञेय मूलतः रोमांटिक कवि है ।'[3]

अज्ञेय की आरंभिक कविताओं पर छायावादी प्रभाव लक्षित करते हुए **रामस्वरूप चतुर्वेदी** बतलाते है कि इनकी आरंभिक कविताओं में एक निष्क्रिय-सी भटकन, रोमेंटिसिज्म का झीना रूप मिलता है । इन कविताओं में मात्र छटपटाहट है । अज्ञेय को कवि बनने में काफ़ी समय लगता है । कवि अज्ञेय में जैसे-जैसे गैर रोमंटिक भाव बोध विकसित होता है वैसे-वैसे वह यथार्थ आदि को नए रूप में व्यक्त करता है । अज्ञेय के सम्पूर्ण काव्य को छायावादी रोमानियत से भरा मानते हुए **लक्ष्मीकांत वर्मा** का कथन है कि, "अज्ञेय मूलतः रोमानी कवि रहे है और उनके सम्पूर्ण काव्य में वही रोमंटिक मिज़ाज व्यक्त हुआ है ।"[4]

---

[1] अज्ञेय - सदानीरा (खंड -1) (चिंता) पृ० सं०- 81

[2] सं० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - अज्ञेय (लेख- आरंभिक कविताएँ – केदारनाथ सिंह) पृ० सं०- 30

[3] सं० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - अज्ञेय (लेख- आरंभिक कविताएँ – केदारनाथ सिंह) पृ० सं०- 30

[4] जगदीश चतुर्वेदी – आधुनिक हिन्दी कविता, पृ० सं०- 46

इसी तरह **विजयदेव नारायण साही** ने अज्ञेय पर छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद से साम्य-वैषम्य दर्शाया है, "दुनिया के किसी कवि से यदि अज्ञेय की निकटता दिखती है तो वह जयशंकर प्रसाद से ।"[1]

इसके विपरीत **नंदकिशोर आचार्य** मानते है कि, 'अज्ञेय की प्रारम्भिक कृत्तियों पर छायावादी प्रभाव व संस्कार स्पष्टता लक्षित है, लेकिन उनकी संवेदना पर किसी छायावादी कवि का सीधा प्रभाव नही पड़ता ।'[2] 'हरी घास पर क्षण भर' और इन्द्रधनु रौंदें हुए ये' में उनका दृष्टिकोण अधिकांशत: रोमांटिक रहा । इत्यलम और अरी ओ करुणा प्रभामय की अधिकांश कविताएँ इसी रूमानियत से भरी है । अत: वे मूलतः एक रोमांटिक भाव बोध के कवि है ।

छायावादी प्रभाव से परे अज्ञेय की कविताओं में विलायती सन्दर्भ खोजते हुए **डा० जगदीश कुमार** ने अज्ञेय की कविताओं के अनेक उद्धरण प्रस्तुत करके उनकी 'प्यार : अव्यक्त'; 'सम्राज्ञी का नैवेद्यदान', 'हिरोशिमा', 'पहाड़ी यात्रा', 'जीवन-मर्म' आदि कविताओं के विषय में यह प्रमाणित किया कि इनकी अनेक पंक्तियाँ एडिथ सिलवट, मिल्ले, रौलेंड बोट्रल आदि की कविताओं के अनुवाद मात्र हैं । साथ ही जापानी कविताओं की पंक्तियों के अनुवाद भी अनेक स्थान मिलते हैं । रामविलास शर्मा के मत को काटते हुए इन्होनें 'सोन मछली' कविता की समानता 'यीट्स' की कविता की इस पंक्ति से की है -

"It seemed a gold fish, swimming in a pond."[3]

अज्ञेय की कविताओं को पश्चिम की नकल या पश्चिमीवादी, नकलची आदि आरोपों को मढ़ते हुए उनमें छायावादी अवशेषों की पड़ताल की गई । **इन्द्रनाथ मदान** ने अज्ञेय

---

[1] विजयदेव नारायण साही – छठा दशक (लेख- लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस), पृ० सं०- 318

[2] नंदकिशोर आचार्य – अज्ञेय की काव्यातितिर्षा (लेख- संवेदना की तलाश), पृ० सं०- 14

[3] डा० मथुरेश नंदन कुलश्रेष्ठ – अज्ञेय की अत:प्रक्रिया साहित्य, पृ० सं०- 188

की कविताओं को वस्तु और शिल्प की दृष्टि से ब्राउनिंग, लारेंस और इलियट के प्रभाव से मंडित कहा हैं ।'[1]

इन आरोपित टिप्पणियों को काटते हुए **डा० राजेन्द्र प्रसाद** और **कृष्णदत्त पालीवाल** का मानना है कि पूर्व अज्ञेय की कविताओं पर छायावादी संस्कारों, आदर्शवादिता की धमक मिलती हैं । लेकिन धीरे-धीरे यह प्रभाव परवर्ती संग्रहों में यथार्थ धरातल से जुड़कर अपने अनुभवों से सत्य व्यक्त करता है । उत्तर अज्ञेय में वे बासीपन को झाड़कर नए प्रयोगों से, बौद्धिक रुझानों से हिन्दी कविता को पुन: गढ़ते हैं । 'अज्ञेय की कविता को 'हिन्दी में लिखी 'अंग्रेजी कविता' कहने वाले मुँह लटकाए रह जाते हैं ।'[2] 'अज्ञेय की संवेदना तथा अनुभूति किसी की आरोपित या किसी से उधार ली हुई नहीं है, उसे अज्ञेय ने अपने रागदीप्त सत्य से उजागर किया है ।'[3]

आलोचकों के इस विश्लेषण से अज्ञेय की कविता पर कई तरह के भिन्न-भिन्न मत-विमर्श प्रस्तुत हुए । किसी ने छायावादी प्रभाव बताया तो किसी ने पाश्चात्य कवियों का अनुवाद व अनुकरण । इस प्रभाव के सम्बन्ध में स्वयं कवि अज्ञेय का क्या विचार है? यह जान लेना भी जरूरी है । **अज्ञेय** मानते है कि व्यक्ति यदि किसी का अध्ययन करता है या किसी के निकट सम्पर्क में रहता है तो उससे किसी न किसी रूप में प्रभावित होगा ही । साहित्यकार की रचना में यह प्रभाव बाहरी, ऊपरी व आरोपित प्रतीत हो तो यह दोष है अन्यथा यदि वह सहज होकर आए तो दोष नहीं कहा जा सकता । साथ ही वे कहते है कि पश्चिम से हम प्रभावित ही नहीं हुए, हमने पश्चिम को प्रभावित भी किया है । आधुनिक होने का अर्थ पश्चिम की नकल नहीं है । हम विश्व में और भारत में बदलती हुई परिस्थिति को पहचान कर, तटस्थ होकर नयी स्थिति की छाप ग्रहण करे, लेकिन मिटकर नहीं, नया संस्कारी होकर ।'[4]

---

[1] सं० डा० गंगाप्रसाद विमल- अज्ञेय का रचना संसार, पृ० सं०- 13

[2] कृष्णदत्त पालीवाल – अज्ञेय होने का अर्थ, पृ० सं०- 162-163

[3] राजेन्द्र प्रसाद – अज्ञेय : कवि और काव्य , पृ० सं०- 28

[4] सं० अशोक वाजपेयी- अज्ञेय का संसार : शब्द और सत्य (लेख- आलोक छुआ अपनापन- विष्णुकांत शास्त्री), पृ० सं०- 50

'अरी ओ करुणा प्रभामय' संग्रह की भूमिका में अज्ञेय उन आलोचकों की संकीर्ण मनोवृत्ति को (जो काव्य में मात्र पाश्चात्य व अन्य बाहरी प्रभाव ढूढ़नें में रत है) लक्षित करते हुए कहते है कि - प्रकाश किस खिड़की या किस दिशा से आ रहा है यह देखना उनकी दृष्टि की संकीर्णता है। "बंद घर में प्रकाश पूर्व या पश्चिम या किसी भी निश्चित दिशा से आता है पर खुले आकाश में वह सभी ओर से समाया रहता है, इसी में उसका आकाशत्व है। उसी खुले आकाश को अपनी बाहों में भर सके, यह लेखक का स्वप्न रहा है, घरों के मायने में तो वह यायावर है ही।"[1]

जिन आलोचकों ने उसकी कविताओं में छायावादी प्रभाव व संस्कार खोजने का प्रयास किया। उस छायावादी प्रभाव को भी अज्ञेय ने स्वीकृति दी है, लेकिन सारी रचना प्रवृत्ति, चिंतन पद्धति, वैज्ञानिक चेतना, भाषा-संस्कार सब छायावाद के विरूद्ध माना है। उनका कथन है कि, "....मैं जानता था कि मेरे समय के समाज का काव्य-संवेदना और संस्कार उस सबके विरूद्ध था जो मेरी रचना के साथ अनिवार्यत: जुड़ा।"[2]

स्पष्ट है कि अज्ञेय की कविता पर छायावादी और पाश्चात्य दोनों का छिट-पुट प्रभाव मिलता है। किन्तु यह प्रभाव अज्ञेय की सीमा नहीं है अपितु यह उनके समाज एवं संस्कृति का प्रतिफलन है। अज्ञेय ने अपनी शिक्षा-दीक्षा के समय से ही पाश्चात्य कवियों, संस्कृत कवियों, विचारकों का गहन अध्ययन-मनन किया था। कवि स्वयं भी स्वीकृति देता है कि अध्ययन का प्रभाव होना स्वाभाविक है, लेकिन उसमें मौलिकता व अनुकरण का आक्षेप करना अनुचित है। आलोचकों ने अज्ञेय की कुछ गिनी-चुनी कविताओं को ही घेर कर लंबे-चौड़े वाद-विवाद मचाये हैं। मुक्तिबोध ने विदेशी प्रभाव ग्रहण के संयम की जो शर्ते बताई थी ; अज्ञेय कही-कही वो संयम खो देते है और पाश्चात्य वस्तु पक्ष भी उनकी रचनाओं में थोड़े उतार-चढ़ाव के साथ शामिल कर लिया जाता हैं। इसी से वे पाश्चात्यीकरण के कटघरे में घिर जाते हैं। उनकी रचनाओं के विश्लेषण कर ज्ञात होता है कि अज्ञेय की रचनाओं में बाहरी प्रभाव जरुर मिलता हैं लेकिन इस प्रभाव को अज्ञेय अपने अनुसार प्रयोग करते हैं। आलोचकों ने उनकी ऐसी अधिकांश कविताओं को

---

[1] अज्ञेय – अरी ओ करुणा प्रभामय , भूमिका से , पृ० सं०- 10

[2] सं० कृष्णदत्त पालीवाल- अज्ञेय से साक्षात्कार , पृ० सं०- 307-308

अनदेखा ही किया हैं, जिनमें अज्ञेय के जमीनी संस्कारों तथा नवीन प्रयोगों की अनुगूँज व्याप्त हैं । अपने समकालीन कवियों में पाश्चात्य साहित्यकारों को अधिक पढ़ने वाले एकमात्र अज्ञेय ही दिखाई देते हैं । पाश्चात्य कला के जो मूल्य-विचार उन्हें जरूरी लगे, उसे खुले मन से वे अपनाते गए । ऐसे में उन्हें पश्चिमी कवियों की नकल कहना अतिवादिता ही है । क्योंकि ऐसे तो सभी कवियों, रचनाकारों पर किसी न किसी का प्रभाव खोजा जा सकता है । ऐसे में कवि को नकलची, कहना ठीक नहीं ।

2.2.4 व्यक्तिवादी-समाजविरोधी तथा अहंवादी

कवि अज्ञेय पर अगला बड़ा आरोप **व्यक्तिवादी-अहंवादी समाज विरोधी** होने का लगाया जाता है । प्रगतिवादी रचनाओं का केंद्र बिंदू 'समाज' था, लेकिन प्रयोगवाद व नई कविता ने 'व्यक्ति' को अपना केंद्र बताया । प्रगतिवादी आलोचकों ने अज्ञेय की कविता में जन विरोधी भावधारा को लक्षित किया । वे मानते है कि इनकी रचनाशीलता के क्षेत्र में 'व्यक्ति' व उसकी 'स्वंतत्रता' के नाम पर सामाजिक यथार्थ का तिरस्कार हो रहा था । **मुक्तिबोध** ने इस पृष्ठभूमि के पीछे काम कर रही राजनीति का पर्दाफाश करते हुए कहा कि - 'सोसायटी फार-कल्चरल फ्रीडम' सन्गठन द्वारा वैज्ञानिक यथार्थवादी विचारधारा एवं रचनाशीलता के खिलाफ़ बुर्जुआ लेखकों को झंडे तले जमाकर रचनाकारिता के क्षेत्र में 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' का हंगामा पीटा जा रहा था । ये लोग उसी व्यक्ति स्वातंत्र्य की वकालत करते है जो प्रभुत्व पाते ही निरंकुश हो जाता है । मुक्तिबोध 'व्यक्तिवाद' को पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का मूल नियम मानते थे । वे 'व्यक्ति स्वातंत्र्य' पर तीखा व्यंग्य करते हुए कहते है कि, "व्यक्ति स्वातंत्र्य एक पुनीत सिद्धांत है, चाहे उसमें लूट-खसोट, अनाचार, भ्रष्टाचार, स्वार्थ, चरित्रहीनता, धन का प्रभुत्व, शोषण क्यों न चलता हो ।"[1]

नेमिचंद्र जैन और **इन्द्रनाथ मदान** भी अज्ञेय को व्यक्तिवादी मानते हैं । उन्हें अज्ञेय के समस्त साहित्य में उनके व्यक्तित्व की ही दुर्बलता और संकीर्णता बार-बार उभरती दिखाई देती हैं । इसी तरह **नामवर सिंह** ने अज्ञेय की कविताओं को व्यक्तिवाद के दो

[1] मुक्तिबोध - नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ० सं०- 59

सीमांतों के बीच रखा - एक - मध्यवर्गीय परिवेश के प्रति मध्यवर्गीय कवि का वैयक्तिक असंतोष, दूसरा - जन-जागरण से डरे हुए कवि आत्मरक्षा की भावना । उन्होनें कविता में यथार्थ के नाम पर 'नग्न यथार्थवाद' व नेचुरलिज्म' को पेश किया है । जिसके मूल में व्यक्तिवाद की ही अराजक मनोवृत्ति है ।

अज्ञेय की कविता पर 'व्यक्तिवादी' होने का सीधा आरोप **कृष्ण लाल** ने भी मढ़ते हुए कहा कि, "व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के पोषक के रूप में 'अज्ञेय का व्यक्तित्व' पर्याप्त महत्त्वपूर्ण रहा है, जिन्होनें कविता में व्यक्तिवाद के Bacteria से अपने ढंग की काव्यगत रुग्नताओं को जन्म दिया।"[1]

इन आलोचकों के खिलाफ़ **रामस्वरूप चतुर्वेदी** ने अज्ञेय को 'व्यक्तिवादी' की बजाय 'व्यक्तित्ववादी' मानने पर बल दिया है क्योंकि कवि अपने से बाहर आने की बात व्यक्तित्व को आधुनिक बनाने के उपक्रम हेतु करता है जो स्वप्निल आदर्शवाद है । यह व्यक्तिवाद नही व्यक्तित्ववाद है जहाँ व्यक्ति और समाज एक-दूसरे के विरोधी नही अपितु एक-दूसरे को पुष्ट करने वाले है ।'[2]

इसी तरह प्रगतिवादी आलोचकों ने अज्ञेय के जिस दर्प और व्यक्तित्त्व के आग्रह को पूंजीवादी पोषित 'व्यक्तिवाद' कहा है उसे **मलयज** ने व्यक्तिवाद न कहकर 'प्रतिरक्षात्मक ग्रन्थि' कहा है । वे मानते है कि अज्ञेय की काव्यानुभूति और काव्य मुहावरों पर इस प्रतिरक्षात्मक ग्रन्थि का व्यापक प्रभाव है ।'[3]

सृजन के केंद्र में 'व्यक्ति' को प्रमुखता देने से उन्हें अहंवादी भी कहा गया । अज्ञेय के काव्य में 'अहं', 'मैं' का स्वर सर्वत्र व्याप्त है । **नेमिचंद्र जैन** का कहना है कि 'कविता में जहाँ तक वे अपने सीमित जीवन अनुभव पर भावानुभूति को चित्रित करते है, वहाँ उन्हें

---

[1] कृष्ण लाल- तारसप्तक के कवि : काव्य शिल्प के मान, पृ० सं०- 192

[2] रामस्वरूप चतुर्वेदी – अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, पृ० सं०- 35

[3] मलयज का मत है कि , "दर्प भरा मदमाता दीप, प्रेमिका के आगे आत्मदान को प्रस्तुत पर अपने आहत अहं के वृत्त में घिरा, मौन में ही अपनी कुल व्यथा व्यक्त करने वाला प्रेमी, सागर से उछली हुई बूंद की दुदर्म जिजीविषा – यह अज्ञेय की सृजन चेतना के कुछ बुनियादी मुहावरे है जो अपने को अंततः बचा पा सकने की प्रतिरक्षात्मक मनोवृत्ति में ही जन्म ले सकते थे।" सं० निर्मला जैन – मलयज के निबन्ध (तीसरे अज्ञेय की तलाश), पृ० सं०- 34

अपूर्व सफलता मिली है । लेकिन व्यापक मानवीय सहानुभूति के अभाव में उस अहं के संकुचित वृत्त से बाहर दृष्टि डालते ही उनका कला बोध शिथिल पड़ जाता है ।'[1]

इस तथ्य से समर्थता बतलाते हुए **शिवकुमार मिश्र** ने भी इस व्यक्तिवाद और अहं को वस्तु तत्व की संकुचितता बतलाते हुए कहा है कि, "इस व्यक्तिवाद और अहंवाद के कारण ही उनके काव्य में पराजयवादी, नियतिवादी, क्षणवादी भावनाओं एवं अन्य प्रकार की विकृत्तियों की सत्ता व्याप्त हो उठी है, जो उनके जीवन-दर्शन का बड़ा ही दुर्बल पक्ष प्रस्तुत करती है । इस जीवन-दर्शन का उनके काव्य के वस्तु तत्व पर भी अबान्धित प्रभाव पड़ा है । फलत: अनेक कविताएँ या तो अतिरिक्त बौद्धिकता से ग्रस्त है, व कुंठा, पराजय, निराशा आदि से आच्छन्न है । इसी ने वस्तु तत्व में व्यापकता भी नहीं आने दी है ।"[2]

आलोचकों ने इस अहंवादिता के चलते ही उनके काव्य में व्यक्ति का 'मैं' - मैं ही प्रस्तुत किया है और समाज के प्रति निरपेक्षता । लेकिन इस अहंवादी प्रवृत्ति और सामाजिक दायित्व के बीच वैषम्य देखना **लक्ष्मीकांत वर्मा** ने असंगत माना है और उनका कहना है कि, ".....सामाजिक दायित्व को पूर्णतया निभाने वाला व्यक्ति भी अहंवादी हो सकता है - अहंवादी होना दोष नहीं है । अहं विकृति नहीं है । इसके विपरीत अहं प्रकृति है इसीलिए कि वह अपने अस्तित्व का समर्थन है ।"[3]

आलोचकों के इस वाद-विवाद के बाद कोई मत निश्चित रूप से सामने नहीं आता । इन आरोपों पर अज्ञेय की धारणा स्पष्ट है कि वे समाज में व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व के निर्माण को स्थान देते है । वे मानते है कि इस व्यक्तित्व के विकास में अहं की पहचान और उसकी पुष्टि अस्मिता के निर्माण की एक सीढ़ी है जो अपना चरण पार कर जाती है । जिस समाज में हम रहते है यदि उससे असंतुष्ट है तो बहुत हद तक हम उसे बदलना चाहते है । उस समाज व्याप्त विकृत्तियों को हम अस्वीकृत करते हैं । जब अपनी

---

[1] नेमिचंद्र जैन – अधूरे साक्षात्कार , पृ० सं०- 20-21

[2] शिवकुमार मिश्र – नया हिन्दी काव्य, पृ० सं०- 243

[3] लक्ष्मीकांत वर्मा- नयी कविता के प्रतिमान , पृ० सं०- 223

कविताओं पर 'व्यक्तिवाद' का जो आरोप भिन्न-भिन्न तर्कों से मढ़ा देखते है तो **अज्ञेय** कह उठते है कि, "मैंनें तो अपने आपको 'व्यक्तिवादी' कभी नहीं माना । लेकिन जो अपने आपको समाजवादी कहते है और मेरा विरोध करना चाहते है....मुझको कुछ इतरवादी बनाना उनके लिए आवश्यक हो जाता है और इसलिए वे मुझे व्यक्तिवादी कहते हैं । लेकिन व्यक्तित्व को मैं मनुष्य के विकास की एक अनिवार्य बल्कि एक ऊँची सीढ़ी मानता हूँ । इसलिए मुझे व्यक्तित्ववादी कहा जाए तो वह एक हद तक सही हो सकता है ।"[1]

इसी तरह अज्ञेय 'अहं' को लेकर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते है कि, "यह (अहं) न तो मेरा गढ़ा हुआ शब्द है, और मैनें इसका प्रचलन बढ़ाया हो, ऐसा भी नहीं है ।"[2]

सैद्धांतिक तौर पर अज्ञेय की चुनिंदा कविताओं को केंद्र में रखकर ये आरोपित टिप्पणियां की गई । इनसे इत्तर भी अज्ञेय ने ऐसी कविताएँ लिखी है, जिनमें उनकी व्यक्ति केन्द्रित दृष्टि 'मैं' को लेकर सक्रिय भाव के साथ-साथ अहं के विलयन तथा समाज की चिंता स्पष्ट देखी जा सकती हैं । उनकी आरंभिक कुछ कविताओं में अहं और व्यक्ति को लेकर सतर्कता अधिक दिखाई पड़ती है -

"तुम्हारा यह उद्धव विद्रोही,

घिरा हुआ है जग से, पर है सदा अलग निर्मोही ।"[3]

-(इत्यलम)

अज्ञेय के लिए 'व्यक्ति' के व्यक्तित्व की खोज व उसकी पहचान आवश्यक है । इस पहचान को पाने के लिए वह समाज से घिरे होकर भी उससे अलग अपनी दुनिया निर्मित करता है । इस व्यक्तित्व निर्माण की दुनिया में उसका अहं ही समाज के बाधित नियमों से बाहर निकालता है । यथास्थान कवि व्यक्तित्व-विकास को अवरूद्ध करने वाली सामाजिक मान्यताओं एवं परिस्थितियों के विरूद्ध लिखते है -

---

[1] सं० कृष्णदत्त पालीवाल – अज्ञेय से साक्षात्कार (इंदु जैन- शब्द की कला, जीने की कला), पृ० सं०- 222

[2] वही , पृ० सं०- 224

[3] अज्ञेय – इत्यलम , पृ० सं०- 84

"हमें दुःख है, हमें क्लेश है उसे जला डालेगी ज्वाला,

पद-दलितों के उर से उठ कर सारा नभ छा लेगी ज्वाला

हमने न्याय नहीं पाया है, हम ज्वाला से न्याय करेगें

धर्म हमारा नष्ट हो गया, अग्नि-धर्म हम हृदय धरेगें ।"[1]

'जन्मदिवस' कविता में कवि का अहं ही है जो उसे उसके दाता के दान का अहंकार स्वीकारने से रोकता है । अपने व्यक्तित्व निमार्ण में वह स्वतंत्र होकर मूल्य निर्मित करना चाहता है । किसी दूसरे का हस्तक्षेप वह बर्दाश्त नहीं कर पाता । चाहे वह उसको जीवन देने वाला उसका सर्जनकर्ता ही क्यूँ न हो -

"मैं मरूँगा सुखी

क्योंकि तुमने जो जीवन दिया था

*** * * * * * * * * ***

उससे मैं निर्विकल्प खेला हूँ

खुले हाथों उसे मैनें वारा है

धज्जियाँ उड़ाई है ।"[2] -(इत्यलम)

व्यक्तित्व निर्माण की उद्घोषणा करने वाली यह कविता 'अहं' के रहते ही प्राप्य जीवन की धज्जियाँ उड़ाने में भी फक्र महसूस करती है । लेकिन समय तथा समाज का प्रभाव बराबर कवि-मन पर पड़ता रहा है । जिस 'व्यक्ति' की पहचान के लिए अज्ञेय समाज की रुकावटों के खिलाफ़ दिखते हैं, वह 'व्यक्ति' मात्र उनका 'स्व' (मैं) नहीं है वह तो 'पर' (हम) अर्थात 'मम्' से 'ममेत्तर' है । 'नदी के द्वीप ' कविता को लेकर आलोचकों की संकुचित दृष्टि व्यक्तिवादी, अस्तित्ववादी, अहंवादी, आरोपों को लेकर उभरी, किन्तु अब कवि 'मैं' की नहीं 'हम' की बात करता है । जिसमें समष्टिबोध की झलक स्पष्ट देखी जा सकती है -

---

[1] अज्ञेय – इत्यलम , पृ० सं०- 60

[2] अज्ञेय – इत्यलम , पृ० सं०-86

'हम नदी के द्वीप है

हम नहीं कहते कि हमको छोड़कर सोर्त्रस्विनी बह जाए

*** * * * * * ***

माँ है वह, है इसी से हम बने है ।'[1]

इस कविता की तरह भारतभूषण अग्रवाल ने कविता लिखी – **'हम नहीं हैं द्वीप'** । 'हम नहीं हैं द्वीप जीवन की नदी के \ वरन् जीवन से भरे निर्मल सरोवर !' अर्थात् कवि समाज और व्यक्ति में किसी भी प्रकार के विभेद का पक्षपाती नहीं हैं । बहरहाल अज्ञेय भी अपनी कविता में दोनों के समन्वय की ही बात करते हैं ।

इसी तरह 'आह्वान' कविता में कहता है -

'कौन हूँ मैं? तेरा दीन दुखी, पद-दलित पराजित

आज जो कि क्रुद्ध सर्प-से अतीत को जगा

'मैं' से 'हम' हो गया ।'[2]

'मैं' यानी कवि का 'अहं', 'हम' यानी समूह या समाज में तबदील हो जाता है । यह तबदीली भी कुछ आलोचकों को खटकती है । उनकी कविताएं व्यक्तित्व निर्माण कर समाज के विकास में अपना योगदान देने आगे आती है -

"नहीं सकुचा हूँ कभी समवाय को देने स्वयं का दान

विश्वजन की अर्चना में नहीं बाधक था कभी

इस व्यष्टि का अभिमान ।"[3]

---

[1] अज्ञेय – हरी घास पर क्षण भर (नदी के द्वीप), पृ० सं०- 20

[2] अज्ञेय - सदानीरा (खंड-1), पृ० सं०- 171

[3] अज्ञेय – हरी घास पर क्षण भर , पृ० सं०- 60

इसी तरह –

'यह दीप अकेला स्नेह-भरा

है गर्व भरा मदमाता पर,

इस को भी पंक्ति को दे दो ।'[1]

कविता को अहं के विसर्जन का साधन मानते हुए 'आत्मनेपद' में अज्ञेय स्वयं को आज के कवि की कोटि से अलगाते हुए कहते है कि - आज का कवि तो कविता को वरंच व्यक्तित्व की, व्यक्ति के अहं की प्रखरता की अभिव्यक्ति और उस अहं को पुष्ट करने वाली रचना मानता है । मैं कहूँ कि इस चरम कोटि का आधुनिक कवि मैं नहीं हूँ । अधिक-से-अधिक उस श्रेणी में हूँ जो कविता को अहं का विलयन मानता है -

मेरे छोटे घर कुटीर का दिया

तुम्हारे मंदिर के विस्तृत आँगन में

सहमा-सा रख दिया ।

समाज में रहकर व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास के लिए उसका 'अहं' दीखना स्वाभाविक है किन्तु कवि जानता है कि उस 'अहं' के रहते अपना सामाजिक सरोकार पूरा नहीं कर सकता । इसलिए वह अपने समाज में व्याप्त बुराइयों को खदेड़ने के लिए एक स्वतंत्र विकसित सोच-समझ वाले व्यक्तित्व की खोज करता है । साथ ही समाज में फैली विसंगतियों को भी कवि अपनी कविताओं में व्यंग्यपूर्वक व्यक्त करता है । वह 'सेतु' बनकर इस वर्ग भेद की स्थिति को मिटाना चाहता है-

'दूर दूर दूर ....मैं सेतु हूँ,

*** * * * ***

वह सेतु, जो मानव से मानव का हाथ मिलने से बनता है,

*** * * * ***

जो मानव को एक करता है,

*** * * * * ***

मैं वहाँ हूँ दूर दूर दूर !'[1]

---

[1] अज्ञेय – बावरा अहेरी (यह दीप अकेला) पृ० सं०- 30

कुछ आलोचकों की दृष्टि 'कवि अज्ञेय' पर यह आरोप करती है कि यह दूरी कवि का इस निचले कुचले वर्ग से दूर भागना है। मात्र दिखावे के लिए कवि ने इस श्रमजीवी वर्ग को सहानुभूति दी है। किन्तु यह समाज-निरपेक्षता का आरोप अत्युक्ति ही है यदि कवि समाज से कटा होता तो उसे समाज की चिंता सालती ही नहीं। इस वर्ग-वैषम्य, जातिवाद, परतन्त्रता, शोषण को लेकर वह अपनी कलम उठाता ही नही। इस वर्ग से यह दूरी कवि का भागना नहीं अपितु यह बतलाना है कि मैं स्वयं इस पीड़ा, शोषण, श्रम को नहीं झेला हूँ इसलिए इनसे दूर हूँ। वह मात्र दृष्टा होकर ही उनकी इस व्यथा का भागीदार बनने का अभिलाषी है। क्योंकि अज्ञेय का कवि मन जानता है कि इस वर्ग-वैषम्य को हिंसा, युद्ध, भय या बेकार की चिल्मचिली से अर्थात् वर्ग-संघर्ष से नहीं, वर्ग-सहयोगी बनकर ही मिटाया जा सकता है।

अज्ञेय एक जातिविहीन समाज की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। वे जानते थे कि भारतीय समाज को उसकी विसंगतियाँ ही दीमक की तरह चांट रही है। इसलिए वे अपने काव्य संग्रह 'क्योंकि उसे मैं जानता हूँ' की कविता 'अहं' राष्ट्री संगमनी जनानाम' में ब्राह्मण, जाट, कायस्थ, मौलवी, बनिए, अहीर आदि विभिन्न जातियों पर व्यंग्य किया हैं -

"देस रे देस
तेरे सिर पर कोल्हू।
इसका भार तू कैसे ढोयेगा
जिसे पेरेगें जाट, ब्राह्मण, बनिया, तेली, खत्री,
मौलवी, कायस्थ, मसीही, जाटव, सरदार, भूमिहार, अहीर
*** * * * * * ***
जो नहीं पहचानते अपनी तकदीर
तू किस-किस को रोयेगा ?"[2]

---

[1] अज्ञेय – सदानीरा (खंड-1), पृ० सं०- 283

[2] अज्ञेय – सदानीरा (खंड-1), पृ० सं०- 284

ये सभी जातियाँ अपने-अपने अधिकारों के हेर-फेर में लगी है और दूसरी जाति का शोषण कर रही है। अज्ञेय का कवि-मन इन जातियों के खोखले दम्भ के बीच से मानव रूपी सम्पूर्ण इकाई की खोज करता है। इसी तरह 'केले के पेड़' कविता में रीढ़हीन, व्यक्तित्वहीन, लिजलिजे व्यक्ति समूह को समाज नहीं माना जा सकता।'[1] व्यक्ति को स्वयं इतना सक्षम व मजबूत बनना पड़ेगा कि कोई दूसरा उसका फायदा न उठा सके।

इनके अलावा 'शोषक भैया', 'आजादी के बीस बरस', 'जनपथ', 'क्योंकि मैं', 'देश की कहानी दादी की जुबानी', 'मेरे देश की आँखें', 'खून', 'रक्तबीज', 'सागर-मुद्रा', 'शरणार्थी' आदि कविताएँ धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक संकीर्णता को बयान करती हैं। साथ ही कवि की समाज के प्रति जागरूक दृष्टि का भी परिचय देती है। वे एक ऐसे 'व्यक्तित्व' की खोज करते है जिससे बना समाज मानवतावादी मूल्यों का महत्त्व समझता हो। ऐसे में कवि अज्ञेय पर लगे अहंवादी, व्यक्तिवादी, पूंजीवादी, समाजविरोधी जैसे आरोप इस विश्लेषण के बाद फीके पड़ जाते है, क्योंकि ये सभी आरोप उस समय समाज में कुछ सीमित कविताओं को मद्देनजर रखकर लगाए गए थे। वे आगे आने वाले समय में पूर्वग्रहों के चलते ही फैले, अन्यथा इनका कोई खासा महत्त्व नहीं है। अज्ञेय मूलतः व्यक्ति के 'व्यक्तित्व' की पहचान बनाना चाहते है, इसलिए उन्हें व्यक्तित्ववादी मानने में कोई हर्ज नहीं है।

अज्ञेय ने कविता के सही सम्प्रेषण न हो पाने की समस्या पर लगातार विचार किया है। भारतीय प्राचीन चिंतन और पाश्चात्य चिंतन के आलोक में सम्प्रेषणीयता का नया काव्यशास्त्र निर्मित करने का प्रयास किया। वे आरम्भ से ही प्रयोग करने पर बल देते रहे, लेकिन यह प्रयोग भी सम्प्रेषण की परिधि में ही सफल हो सकता है। जिसमें उन्होनें 'साधारणत्व' को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया, क्योंकि यह साधारणत्व ही सम्प्रेषण का

---

[1] अज्ञेय - केले का पेड़

"ओ केले के पेड़, क्यों नहीं भगवान
ने तुझे रीढ़ दी
कि कभी तो तू अपने भी काम आता-
* * * * * *
हर समय मृत आशा- शिशु?"

मूल धर्म है । इस सम्प्रेषणीयता के लिए ही वे प्रतीकों, उपमानों, बिम्बों आदि की नवीनता पर भी जोर देते हैं । उनके ये भाषा-सम्प्रेषण सम्बन्धी विचार उनकी कविताओं के माध्यम से भी प्रस्तुत हुए है साथ ही उनकी कविताओं के भाषा-प्रयोग पर आलोचकों की यथास्थान कुछ टिप्पणियाँ भी मिलती हैं ।

2.2.5 प्रतीकवादी-कलावादी

'देवता इन प्रतीकों के कर गए है कूच' – इस आधार पर अज्ञेय को फ़्रांसीसी प्रतीकवादियों से जोड़ा गया । मार्क्सवादी आलोचक **शिवदान सिंह चौहान** का कथन है कि, "प्रयोगशीलता की ओट में 'अज्ञेय' प्रतीकवादी विचारधारा को साहित्य में प्रतिष्ठापित करने की चेष्टा करते रहे है .....उनकी कविता प्रतीकवादी है ।"[1]

इसी तरह **रामविलास शर्मा** अज्ञेय को चतुर कवि कहते हुए उनकी कविता को जड़ाऊ और टिकाऊ बताते है, साथ ही उनके प्रतीकों-उपमानों को लेकर किए गए नए प्रयोगों को अनदेखा कर उनकी बोझिलता लक्षित करते हुए कहते है कि, "अज्ञेय का हुनर शब्दों की सजावट में ही नहीं, प्रतीकों और उपमानों के चुनाव में भी दिखाई देता है ।....अज्ञेय के अधिकांश उपमान और प्रतीक परम्परागत है ।...इसी परम्परागत मान्यता के अनुरूप उनकी रचनाओं में नदी, लहर, सागर, पथ, पथिक, सेतु, दीप, अधंकार आदि काफी घिसे हुए प्रतीकों का प्रयोग बहुतायत से मिलेगा ।.....पुराने प्रतीक पुराने ढंग से ही इस्तेमाल किए गए हैं ।"[2]

अज्ञेय कविता के लिए भाषा की जगह 'शब्द' को महत्ता देते हैं । **नेमिचंद्र जैन** 'अज्ञेय की कविताओं को भावना की प्राणहीन और एक ही अनुभूति को नए-नए शब्द जाल द्वारा अभिव्यक्त करने वाली प्रवृत्ति-पुनरावृत्ति मानते हैं ।'[3]

---

[1] आलोचना अंक - 2 संपादकीय, पृ० सं०-5

[2] रामविलास शर्मा – नई कविता और अस्तित्ववाद, पृ० सं०- 213

[3] नेमिचंद्र जैन – अधूरे साक्षात्कार, पृ० सं०- 20-21

मुक्तिबोध ने अज्ञेय को जड़ीभूत सौंदर्यानुभूति का शिकार बतलाया हैं। यह कवि को सीमित करती हैं , उसकी अन्तश्चेतना को कुंठित, व्यक्तित्व को ह्रासशील बनाती है, दृष्टि को विश्वचेतस बनाने से रोकती हैं। इस जड़ीभूत सौंदर्यानुभूति के खतरे से हिन्दी कवियों को सावधान करते हुए **मुक्तिबोध** का मत हैं कि , 'नयी काव्य-प्रवृत्ति के क्षेत्र में कुछ महान व्यक्ति अपनी वर्गीय अभिरुचि के फलस्वरूप सौन्दर्य का जो प्रतिमान हमारे सामने रखते हैं उसमें जब तक व्यापक संशोधन नहीं होगा तब तक हम अपने ही जीवन-अनुभवों का पूर्ण और प्रभावशाली चित्र उपस्थित नहीं कर सकते। काव्यात्मक व्यक्तित्व जो एक बंद सन्दूक क्लोज्ड सिस्टम बनाता है (तुम नहीं व्याप सकते, तुम में जो व्यापा है, उसी को निबाहो) जड़ीभूत सौंदर्यानुभूति ही प्रस्तुत कर रहा हैं।'[1]

रामस्वरूप चतुर्वेदी 'अज्ञेय की काव्य भाषा का विश्लेषण करते हुए उनके आरंभिक काव्य पर द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता, छायावादी एवं छायावादोत्तर कवियों के हल्के अवशेषों का प्रभाव बतलाते हैं। यहाँ अज्ञेय की काव्य-भाषा सीधी-सादी, रंगहीन, अनाकर्षक तथा कमज़ोर प्रतीत होती है। किन्तु बाद की काव्य-भाषा तत्सम् के मोह से दूर तद्भव की ओर बढ़ती है। उत्तर काव्य में पुराने प्रतीक ही पक रहे है, नए प्रयोगों का जोश कम दीखता है। वहाँ तक आते-आते काव्य भाषा में देसीपन की छटा फैल जाती है।'[2]

तत्सम् से तद्भव की यात्रा में कुछ आलोचकों, अध्यापकों ने अज्ञेय की काव्य-भाषा को उनकी तरह ही दुरूह और अगम्य बतलाया है। साथ ही उनके प्रतीकों और उपमानों को अस्पष्ट तथा बोझिल घोषित किया है। इस सन्दर्भ में **नामवर सिंह** ने अज्ञेय की

[1] मुक्तिबोध - नयी कविता का आत्मसंघर्ष , पृ० सं०-9

[2] रामस्वरूप चतुर्वेदी – अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, पृ० सं०- 12

आरंभिक काव्य-भाषा को अनगढ़ ठोकरों से कड़ी कहा है'[1] तो परवर्ती छन्दों व प्रतीकों में विराम व ठहराव की बहुलता तथा अस्पष्टता बतलाई है ।'[2]

इसके विपरीत **मलयज** ने अज्ञेय को प्रतीकात्मक बिम्बों का कवि मानते हुए कहा है कि, "अज्ञेय का 'भाषा-प्रयोग' उनके भावलोक की अंतरंग हलचल रचनाप्रक्रिया की अकुलाहट का पता नहीं चलने देता, एक मर्यादित एवं संश्लिष्ट अनुभव-बंध का परिचय अवश्य देता है । भाषा-प्रयोग का यह मर्यादित आचरण एवं तटस्थता सम्भवतः उस समय की क्षुब्ध साहित्य-संचेतना की माँग थी, इसलिए अगली साहित्य-पीढ़ी विशेषकर काव्य-पीढ़ी के 'मिजाज़' के लिए अज्ञेय की भाषा आदर्श (अनुकरणीय नहीं) सिद्ध हुई ।"[3]

अगली पीढ़ी के लिए आदर्श बनी इस भाषा को **अशोक वाजपेयी** ने उनके बाद के काव्य-संग्रह (कितनी नावों में कितनी बार) के बासीपन को देखते हुए अज्ञेय को बूढ़ा गिद्ध कहकर सम्बोधित करते हैं । साथ ही उनकी एक समय की संस्कारी भाषा यहाँ प्रसंगहीन परिपाटी बनकर रह गई है । इस संग्रह को वे क्षीण कवि की रचनाओं का ढेर मानते है जो पिछले प्रयोगों की ही लीक पीटता है ।'[4]

इस तरह अज्ञेय की कविताओं की भाषा, प्रतीकों, उपमानों आदि के सम्बन्ध में जितनी भी आरोपित टिप्पणियाँ की गई, इन सभी तथ्यों से अज्ञेय बेखूबी वाकिफ़ थे । अपनी कविताओं के शब्द-प्रतीकों की दुरुहता तथा अस्पष्टता पर **अज्ञेय** प्रतिक्रिया देते हुए कहते है कि, "यह तो मुझे मालूम है कि अध्यापक लोग बहुत से ऐसा पढ़ा रहे है कि अज्ञेय की रचनाएँ दुरूह है ।...लेकिन मैं जानता हूँ कि अध्यापकों से कहता हूँ कि मैं जो लिखता हूँ अध्यापक के लिए नहीं लिखता । मैं पाठक के लिए लिखता हूँ....हिन्दी का

---

[1] नामवर सिंह का मत है – "आरंभिक दिनों में अज्ञेय.....की रचनाओं में एक प्रकार के बुद्धि-प्रसूत बड़े-बड़े क्लिष्ट और दुरुच्चार्य शब्दों के प्रयोग की बहुलता दिखाई पड़ती है।...कविता के शब्द अनगढ़ ठोकरों-से कड़े थे।...वाक्य प्राय: लम्बे और पेराथिसिस से भरे हुए आते थे।" नामवर सिंह- आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ , पृ० सं०- 116-117

[2] नामवर सिंह का कथन है कि – "अज्ञेय के परवर्ती छन्दों में आरम्भ का वेग नहीं मिलता, बल्कि विराम और ठहराव की बहुलता है। परवर्ती प्रतीक भी या तो असाधारण और अस्पष्ट हो गए या फिर खंडित।" नामवर सिंह – इतिहास और आलोचना (लेख - प्रगतिशील वस्तु और प्रयोगवादी रूप का समन्वय), पृ० सं०- 58

[3] सं० निर्मला जैन- मलयज के निबंध (सर्जनात्मक लेखन में भाषा का बदलता हुआ रूप), पृ० सं०- 106

[4] अशोक वाजपेयी – फ़िलहाल , पृ० सं०- 89

अध्यापक मात्र काव्य का व्याकरण तो पढ़ना-पढ़ाना चाहता है, काव्य से उसका प्रयोजन कम है ।"[1]

इस काव्य के व्याकरण को सर्वोपरि समझते हुए कुछ समीक्षकों ने उनकी कविता को जड़ाऊ, अनगढ़ ठोकरों-सी शब्दावली, जन-जीवन के मुहावरों से वंचित किताबी-गढ़ी हुई कृत्रिम भाषा माना । वही कुछ ने उन्हें अपने आत्मराग ही शब्दों के लुभावने कवच बनाकर पेश करने वाला माना । किसी-किसी ने इन मतों के विपरीत उनकी भाषा को लोकजन से जुड़ी देशज् शब्दों वाली माना । इन सभी विश्लेषणों पर अज्ञेय पाठक को अपनी भाषा के सम्बन्ध स्पष्ट कहते है कि, ".....मेरे घर पर बोलचाल की भाषा, दैनिक व्यवहार की जो भाषा थी, वह भी वही हिन्दी थी जो कि मैं लिखता हूँ ....मेरी कविता में उनको (आलोचकों) अगर बोलचाल का या कोई ठेठ शब्द मिलता है तो वह उसको 'अंलकरण' मानते है, मानते है कि मैं उसका आरोप कर रहा हूँ ।"[2]

अज्ञेय जानते है कि आलोचकों ने उनकी काव्य-भाषा को लेकर जो-जो तर्क गढ़े है कि लोक भाषा ठेठ शब्द मात्र सजावट स्वरूप या लोक वर्ग पर अनुग्रह करने हेतु, पाठकों को ठगने के लिए प्रयोग किए गए है आदि-आदि इन पूर्वग्रहों से पाठकों भटकने से बचाने हेतु वे कहते है कि, 'इन शब्दों का प्रयोग अनुभव-स्वरूप तथा बोलचाल की परिधि में काव्य को सुरक्षित रखने के लिए किया है । वे इन आरोपित टिप्पणियों को व्यर्थ की तर्कबाजी मानते है । आज की मानक हिन्दी या कि साधुभाषा ही उनकी काव्य-भाषा है, वही उनके सहज संस्कार की भाषा है ।'[3]

इन मतों से परे उनकी कविताओं के कुछ उद्धरणों द्वारा उनकी भाषिक विशेषताएँ, प्रतीक, उपमानों, बिम्बों, छन्दों के नए प्रयोग देखे जा सकते हैं । अज्ञेय कविता के लिए शब्द की खोज करते है । उनकी कविता तत्सम् से होते हुए तद्भव, देशज,

---

[1] आलोचना, अप्रैल-जून-2011 (साक्षात्कार- पढ़ाया जाना नहीं, पढ़ा जाना मेरे लिए महत्व की बात है- ओम निश्चल), पृ० सं०-18

[2] सं० कृष्णदत्त पालीवाल- अज्ञेय के साक्षात्कार(काव्य : संस्कृति और प्रकृति- रमेशचंद्र शाह, ज्योत्स्ना मिलन), पृ० सं०-149

[3] सं० कृष्णदत्त पालीवाल- अज्ञेय से साक्षात्कार (भाषा, अस्मिता, आस्थाएँ) पृ० सं०- 85

उर्दू, पंजाबी आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है । अज्ञेय के काव्य में संस्कृत की तत्सम् शब्दावली के प्रयोग इस प्रकार है -

'देखो देह बल्ली ।
भव्य बीज रूपाकारों का :
निर्गन्धा इव किंशुका !
*** * * * * * ***
एक ज्योति अस्मिता
इयत्ता की ज्वाला
अपराजिता अनावृता ।'[2]

'कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के
धुंधआते कड़वे तम में
यह सदा-द्रवित, चिर-
जागरूक, अनुरक्त-नेत्र,
उल्लम्ब बाहु, यह चिर-
अखंड अपनापा ।'[1]

इन पंक्तियों में 'भव्य, निर्गन्धा, किंशुका, इयत्ता, अनावृता, कुत्सा, अवज्ञा,तम, नेत्र आदि तत्सम् शब्दों की बहुलता है । अज्ञेय की कविता जब सामाजिक यथार्थ के धरातल पर उतरने लगती है अथवा प्रकृति का दामन छोड़ मानव जीवन की असलियत को पेश करती है तो उनके भाषा-शब्द लोक, ग्रामीण, तद्भव, देशज, उर्दू, मिश्रित भाषा बनकर प्रस्तुत होते हैं ।

जैसे– लोकगीतों और लोककथाओं के प्रभाव से लिखी ये पंक्तियाँ–

'बांगर में राजा जी
का बाग है,
चारों ओर दीवार है
जिसमें एक द्वार है,
बीच-बाग में कुआँ है
बहुत-बहुत गहरा ।'[4]

- (बाँगर और खादर)

'जाट रे जाट
तेरे सिर पर खाट
परजातन्तर की ।'[3]
-(अहं राष्ट्री संगमनी जनानाम्)

[1] अज्ञेय - सदानीरा (खंड-1), पृ० सं०- 274
[2] अज्ञेय - सदानीरा (खंड-1), पृ० सं०- 276
[3] अज्ञेय - सदानीरा (खंड-2), पृ० सं०- 218
[4] अज्ञेय - सदानीरा (खंड-2), पृ० सं०- 63

इसी तरह से –

'इन्ही तृण-फूल छप्पर से
ढँके दुल मुल गँवार
झोपड़ो में ही हमारा देश बसता है ।
इन्ही में लहराती अल्हड़
अथानी संस्कृति की दुर्दशा पर
सभ्यता का भूत हँसता है ।'

इस तरह से तद्भव, देशज, लोकभाषा से जुड़े प्रचलित शब्दों का अनूठा प्रयोग किया गया है । अज्ञेय ने प्रचलित एवं कहावतों का प्रयोग प्राय: सन्दर्भ बदल कर किया है । जैसे-

'फूल खिलते रहे चुपचाप
मंजरी आयी
दबे पाँव सकुचाती तड़फड़ाते रहे,
करते शेर मुँह चिढ़ाते रहे वन की शांति को
अविराम अनगिन झींकते झींगुर
भिखारी सब बजाते
गाल बगले फाड़ते आकाश ।'

यहाँ दबे पाँव आना, झींकते रहना, मुँह चिढ़ाना, गाल बजाना, आकाश फाड़ना आदि मुहावरों का विशिष्ट सन्दर्भ में नया प्रयोग देखा जा सकता है । साथ ही कुछ नए शब्दों का निर्माण करने का सार्थक प्रयास किया हैं । जैसे - 'उन्नीत(उन्नत), 'अकास'(आकाश), 'निलज'(निर्लज्ज), 'वास'(वर्षा) आदि । अंत तक आते-आते कविता शब्दों का स्थान छोड़

उसकी नीरवता में बहने लगती है अर्थात् 'मौन' अभिव्यंजना का माध्यम बनकर उपस्थित होता है।

मौन का प्रयोग - **'भोर!**

तुम!

आओ!

जीवन है।

आशी!'

भोर सम्बन्धित समस्त उल्लास, क्रिया-प्रक्रिया मौन द्वारा अपना अर्थ भरती है।

अज्ञेय ने अपने काव्य के प्रारम्भिक दौर में परम्परागत छन्दों एवं प्रतीकों का ही प्रयोग किया है। सवैया, कवित्त, बरवै, ताटंक, चन्द्र आदि प्रमुख है। वही दूसरी ओर परम्परागत छंदशास्त्र के नियमों से परे मुक्त छन्दों का नवीन प्रयोग किया है। जिसके साथ ही 'लय' सम्बन्धी विविध अनूठे प्रयोग भी देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए -

'कुछ नए कुछ पुराने मिले

कुछ अपने कुछ विराने मिले

कुछ दिखावे कुछ बहाने मिले

कुछ अकडू कुछ मुँह चुराने मिले

कुछ छुंटे-मंजे सफेद पोश मिले

कुछ दई मारे खानाबदोश मिले।'

छंद और लय का यह विलक्षण प्रयोग अनदेखा नही किया जा सकता। पहली पंक्ति से क्रमशः 15,16,17,18,19, तथा 20 मात्राएँ है। इस तरह के नवीन छन्द यथास्थान अज्ञेय ने गढ़े है। उनकी कविताओं में अलंकारों का भी साधन रूप में प्रयोग किया गया है। रीतिकाल के कवि बिहारी की कलात्मकता और अलंकारिक भाषा को देखते हुए अज्ञेय

को आधुनिक युग का बिहारी कहा गया । लेकिन उनके काव्य में अंलकार का प्रयोग उस स्तर पर नहीं मिलता, जो उन्हें इस कलावादी होने के आरोप से मुक्त करता है । इस सम्बन्ध में **डा० ओम प्रकाश अवस्थी** का मत दृष्टव्य है कि, "....अलंकार अप्रस्तुत और उपमान ही नहीं बहुत से उदाहरण इस तरह के भी है कि यदि अलंकार का ढाँचा उनके ऊपर प्रयुक्त किया जाए तो कविता की कही टांग बाहर रह जाती है और कही सिर नहीं ढकता ।"[1]

अज्ञेय की कविताओं में प्रयुक्त बिम्बों और प्रतीक विधान को आलोचकों ने कई भागों में बाँट कर विश्लेषित किया । अज्ञेय ने प्रतीकों और बिम्बों का नवीन प्रयोग अधिकांशत: प्रकृति एवं प्रेम सम्बन्धी कविताओं में किया है । यहाँ तक की उनके अधिकांश काव्य-संकलनों के शीर्षक भी प्रतीकात्मक ही है । जैसे- 'भग्नदूत', 'हरी घास पर क्षण भर', 'कितनी नावों में कितनी बार आदि। नदी, द्वीप, सागर, आँगन, सूर्य, तारे, बादल, मोर, बूंद, किरणें, तिनका, मछली आदि उपादानों का अलग-अलग संदर्भो में प्रतीकात्मक प्रयोग किया हैं । उनकी कविता 'पहला दौंगरा' में प्रकृति उपमान 'बादल' के माध्यम से प्रेम का सुंदर चित्रण किया है । आसमान में घिरते बादल अगले ही क्षण याद का प्रतीक बनकर प्रस्तुत होता है । इतनी सरल भाषा में असाधारण व प्रेमपूर्ण भावों का अंकन तथा प्रकृति की छटा का वर्णन दोनों का तालमेल अज्ञेय की विशेषता है -

'गगन में मेघ घिरते है
तुम्हारी याद घिरती है ।
उमड़ कर विवश बूंदे बरसती है-
तुम्हारी सुधि बरसती है'

पहली वर्षा की टिप-टिप के लिए 'दौंगरा' अनूठा शब्दप्रयोग है । अज्ञेय का बादल रविन्द्रनाथ, पंत, निराला से अलग प्रेमियों के प्राणों को चिरायु करने वाला तथा धरती की प्यास को ललक में बदलने वाला करुण मेघ का प्रतीक है । बादलों से मनुहार की

[1] डा० मदन गुलाटी – अज्ञेय की काव्य- चेतना और सर्जना के क्षण, पृ० सं०- 58

प्रक्रिया परम्परागत होते हुए भी कम शब्दों में अधिक अर्थ सम्प्रेषण की ललक और अनलंकृत रूप में सरलता से लयात्मक ढंग से प्रस्तुत करना अज्ञेय की भाषा का नया अंदाज है।

'बादलों का हाशिया है आसपास-

बीच लिखी पांत काली बिजली की - ।'

काले बादलों के बीच बिजली की चकाचौंध अज्ञेय की सहज कल्पना शक्ति का प्रतीक बन कर आती है न कि उनकी दूरारुढ़ प्रतिभा के असंगत प्रयोगों की लड़ियाँ। इसी तरह से 'धूलिकण व तिनका' लघुता का 'भोर' आशा व उल्लास का, 'बूंद' जीवन की क्षण भंगुरता का, 'गधा' अल्पज्ञान साहित्यकारों व आलोचकों का, 'चातक व केकी' सामान्य जनों का, 'हारिल' विशिष्ट व्यक्तियों का प्रतीक बनकर आए हैं। सागर और मछली का प्रतीक भी अद्‌भुत् ढंग से व्यक्त किया है जैसे – **'बना दे चितेरे'** कविता की ये पंक्तियाँ –

'अरे कब से बिचारी मछली

घिर अगाध से

सागर खोज रही है।'

कविता में हलचल भरा सागर व्यापक जीवन का प्रतीक है और अधर में लटकी मछली उस व्यक्ति का प्रतीक है जो मुक्ति-आदर्श, अस्मिता आदि का एक घूंट भर पीने के लिए बेचैन है। इस तरह अज्ञेय का प्रतीक विधान पश्चिम के प्रतीकवादियों मलामें, टिम्बों आदि तथा हिन्दी के संत कवियों बौद्ध, जैन दर्शन शास्त्रियों से प्रभावित है लेकिन यह प्रभाव ग्रहण अनुकरण नहीं है। इसमें कवि का अपना अलग अंदाज एवं नया सन्दर्भ स्पष्ट लक्षित होता है। अज्ञेय को कलावादी, कृत्रिम भाषी, शिल्पी, रूपवादी, प्रतीकवादी, बिम्बवादी आदि अनेक आरोपों से सम्बोधित किया गया। किन्तु उनकी कविताओं के ये उदाहरण इन सभी आरोपित नामों को खारिज़ करते चलते हैं। 'कवि अज्ञेय' ना किसी 'वाद' से जुड़ना चाहते थे, न किसी नए प्रयोग की सृष्टि उन्होनें इस पक्ष में की। कविता में शब्द को शब्द से जोड़ने का प्रयास तथा मौन द्वारा सम्प्रेषण के लिए

अज्ञेय ने अपनी भाषा स्वयं गढ़ी है। जिसमें संस्कृत, उर्दू, हिन्दी, अंग्रेजी, देशज, विदेशी, तत्सम्-तद्भव आदि सभी शब्दों का नए ढंग से समाहार किया गया है। काव्य के सत्व व शब्द प्रतीक, बिम्ब, उपमानों के प्रति दुरुहता अज्ञेय की अपेक्षा उस पर होने वाली आलोचकों की बहस ने अधिक बढ़ाई है। उनकी कविताओं को इन पूर्वग्रहों से मुक्त होकर समझने की आवश्कयता है।

2.3 असाध्य वीणा : अर्थान्वेषी वाद-संवाद

अज्ञेय की कविताओं में उनकी लंबी कविता **'असाध्य वीणा'** की कई अर्थान्वेषी आलोचना हुई हैं। आलोचकों ने इस कविता को 'राम की शक्ति पूजा', 'अँधेरे में', 'पटकथा' जैसी लम्बी कविताओं से जोड़ कर मूल्यांकित किया। किसी ने इसमें 'जापानी स्रोत की खोज'[1] की है। किसी ने तुलना व समता बतलाकर विशेषताएँ लक्षित की है, तो किसी ने 'असाध्य वीणा' को कमत्तर आंका है। इस कविता के कथ्य, शैली, भाषा, लय, संवेदना-संरचना आदि को लेकर कई आरोप लगाए गए। साथ ही कवि अज्ञेय पर रहस्यवादी होने का आरोप यहाँ पहुँच कर ओर गहरे रूप में सामने आता है। आलोचक **नामवर सिंह** इस कविता को छायावाद और रीतिवाद का मिलन-बिंदू घोषित करते है। साथ ही इसमें प्रयुक्त शब्दों को सामूहिक रूप से तनावहीन भाषा, अशक्य भाषा कहकर इसे आधुनिक परिवेश के साथ एक समझौते का सूचक मानते है।[2]

---

[1] भोलाभाई पटेल का मत - 'टेमिंग आव द हार्प' नामक एक 'ताओ कथा' में इस कविता का स्रोत है, जो जापान की एक संस्कृति-विषयक पुस्तक 'दि बुक आव टी' में दी गई है। 'साथ ही वे यह भी प्रमाणित करते है कि कवि अज्ञेय ने मूलकथा को भारतीय परिवेश में प्रस्तुत किया है।" भोलाभाई पटेल- अज्ञेय : एक अध्ययन, पृ० सं०-106

[2] नामवर सिंह का मत है - " चाहे शिशु-सुलभ आह्लाद, विस्मय,कातर आत्मनिवेदन, समर्पण आदि का भावोछ्च्वास हो, चाहे वस्तुओं के ब्यौरेवार बारीक विवरण की नपी-तुली सतर्कता, तुतलाहट-हकलाहट में टूटती हुई भाषा हो या स्थिर सयंत सुनिश्चित शब्दों का सधा प्रयोग, सर्वत्र एक-सी तनावहीन भाषा है।....मौन अपनी सारी वर्णन-चातुरी, नाटकीयता और शब्द-प्रयोग सम्बन्धी सतर्कता के बावजूद आधुनिक परिवेश के साथ एक समझौते का सूचक है।" नामवर सिंह – कविता के नए प्रतिमान, पृ० सं०-113

इसी तरह **बच्चन सिंह** इस कविता के भाव-कला-पक्ष का बारीक़ विश्लेषण कर इसे इतिहास से कटी हुई तथा संवेदनारहित आधुनिकतावादी रचना मानते है ।'[1] कुछ समीक्षक अज्ञेय की कविता और प्रतिभा को स्वत: स्फूर्त नहीं मानते ।

नरेश मेहता ने अज्ञेय को आधुनिक और कवि होने पर आपत्ति जताते हुए माना है कि 'असाध्य वीणा' कविता तो जरुर बन जाती है लेकिन कवि-व्यक्तित्व का काव्य-सत्य नहीं बन पाती ।'[2]

'असाध्य वीणा' को आलोचकों ने 'रचना-प्रक्रिया को साधने की खोज', 'महामौन को साधने की साधना', 'मौन से मौन तक की यात्रा', 'हार्मोनी की कविता', 'तर्काश्रित कविता', 'बिना किसी आशा के आत्मदान में सार्थकता पाने', 'नव-रहस्यवाद की कविता कहा है । 'बीसवी शताब्दी का हिन्दी साहित्य' के रचयिता **विजयमोहन सिंह** अज्ञेय की कविताओं में निहित सचेतनता, प्रयत्न-प्रयोगों को स्वाभाविक प्रयास न मानकर कृत्रिम घोषित करते है । साथ ही 'असाध्य वीणा' में इस अतिरिक्त सजगता को लक्षित कर इसे 'विफल कविता' मानते हुए कहते है कि, "अज्ञेय ने भरसक यह चेष्टा की है कि यह सब प्रयत्न साध्य प्रतीत न हो, किन्तु पूरी कविता की संरचना में एक ऐसी पूर्व नियोजित प्रक्रिया तथा सचेष्टता है जो कविता और उसके प्रभाव को कृत्रिम, आवेगहीन तथा काव्यात्मक ऊष्मा से रहित एक गूंजहीन ढाँचा बना देती है।"[3]

इसी तरह **कुंवर नारायण** 'आँगन के पार द्वार' संग्रह का विश्लेषण करते हुए 'असाध्य वीणा' कविता के शैलीगत बुनावट पर टिप्पणी करते है कि इस कविता की लय सोलह मात्राओं वाले छंद पर टिकी है जिसमें प्रबंध-रचना होती है । कथा तत्व के अभाव के कारण यथास्थान एकरसता मिलती है । वे इस कविता के लिए वार्णिक छंद अधिक

---

[1] बच्चन सिंह का मत है- " 'असाध्य वीणा' में मौन भी है, समर्पण भी है, रचना प्रक्रिया भी है, रहस्य भी है। यदि नहीं है तो संवेदना।" वही , पृ० सं०-426

[2] नरेश महेता- शब्दपुरुष अज्ञेय , पृ० सं०- 72

[3] विजयमोहन सिंह - बीसवीं शताब्दी का हिन्दी साहित्य, पृ० सं०- 49

उपयुक्त मानते है । उन्हें कविता के गहरे अध्यात्मिक रंग में कहानी, वस्तुएं, लोग अलग-अलग तैरते हुए लगते है ।'[1]

अज्ञेय के साहित्य पर काफी विचार-विमर्श करने वाले समर्थक समीक्षकों ने भी इस कविता पर विपक्ष टिप्पणियाँ की है । अज्ञेय की विशेषता बतलाने वाले एक आलोचक **रमेशचन्द्र शाह** का मानना है कि, "असाध्य वीणा जो अपनी सारी आंतरिक समृद्धि के बावजूद हमें आश्वस्त नहीं करती, उसका 'सत्य' हमारा अपना 'सत्य' होकर भी हमारे गले नहीं उतरता क्योंकि वह नितांत एकाकी और एकांगी सत्य है ।...अपनी सारी उदात्त पावनता के साथ भी हमको आश्वस्त नहीं करता ।"[2]

कुछ आलोचकों ने इस कविता को बाहरी ताप से तपित अर्थात् पाश्चात्य प्रभाव, जैन दर्शन के मूल्यों से सृजित माना । वही इन मतों के विपरीत **रामस्वरूप चतुर्वेदी** ने इस कविता को भारतीय रचना परम्परा की नवीनता, समृद्धि का सूचक प्रमाणित किया । इसके लिए चतुर्वेदी ने 'असाध्य वीणा' की तुलना 'राम की शक्ति पूजा' और 'अँधेरे में' कविताओं से की है । उन्होनें शक्ति और सृजन के रहस्य का साक्षात्कार 'आत्मदानी साधना' के माध्यम से स्पष्ट किया है । वही अँधेरे में कविता की भांति असाध्य वीणा भी रचना-शक्ति की खोज का आख्यान है, जिसमें अनुभूति के आधार पर समर्पण है जबकि 'अँधेरे में' वैचारिकता के विविध द्वंद्व मिलते है । वे मानते है कि अज्ञेय के कृत्तित्व का वैशिष्ट्य व्यक्तित्व और भाषा के गहरे आयामों को समरस करने में रहा है ।'[3]

इसके विपरीत आलोचक **कृष्णदत्त पालीवाल** ने इस कविता का विश्लेषण 'शक्ति-सृजन-प्रक्रिया के रहस्य' तक सीमित नहीं किया । वे अज्ञेय के साहित्य को उनके परिवेश से जोड़कर उसका मूल्यांकन करते है । उन्होनें माना है कि, 'पूरी कविता का कथा-रूपक

---

[1] सं० देवीशंकर अवस्थी- विवेक के रंग (लेख- 'आँगन के पार द्वार की समीक्षा- वृहत्तर माध्यम की खोज- कुंवर नारायण), पृ० सं०- 129

[2] सं० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - अज्ञेय (लेख –आँगन के पार द्वार- रमेशचंद्र शाह), पृ० सं०- 44-45

[3] रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिन्दी काव्य संवेदना का विकास, पृ० सं०- 210-214

चाहे विदेशी हो या देशी, उसमें रचना-कर्म की 'मनोभूमिका', 'सृजन-प्रेरणा का तन्त्रलोक पूरे विस्मय के साथ उपस्थित है। इस भावतन्त्र के साधक है - अज्ञेय।'[1]

इस कविता के कथानक और स्वरूप को 'रागात्मक एश्वर्य की रहस्यवादी परिणति', 'साहस और आस्था की खोज', 'रूमानियत का रहस्यवाद में विलयन' आदि तरह-तरह के नाम दिए गए। इसके तहत् कवि अज्ञेय को सर्जनात्मक रहस्यवादी, साधनात्मक रहस्यवादी कहा गया। 'असाध्य वीणा' के उपेक्षित रह जाने के पीछे रहस्यवाद को लक्षित करते हुए **नंदकिशोर नवल** कहते है कि, 'यह कविता अपने ढंग की रहस्यवादी कविता है। रहस्यवादी भी अपनी पद्धति को पलायनवादी या जीवन निरपेक्ष नहीं मानते। 'सब अपने-अपने काम लगे' मात्र इतने से रहस्यवाद की जीवनसापेक्षता सिद्ध नहीं हो जाती। अपने अहं का विसर्जन कल्पना में तो एक साधारण बात है लेकिन वास्तविकता में यह एक विकट और जीवनव्यापी प्रक्रिया है।'[2]

इसके विपरीत रामविलास शर्मा, डा० इन्द्रनाथ मदान और डा० हरदयाल, अज्ञेय के काव्य में नव-रहस्यवाद तलाशते है। **इन्द्रनाथ मदान** ने अज्ञेय को नव-रहस्यवादी मानते हुए कहा है कि, "अज्ञेय का काव्य बोध अपने नवीनतम (अंतिम नहीं) चरण में रहस्यवादी होने लगता है और इसे नव-रहस्यवाद की संज्ञा देना इसलिए आवश्यक है कि यह बोध आधुनिकता की चुनौती को प्रयोगवाद में स्वीकार तथा आत्मसात कर चुका है, इस मंजिल से गुजर चुका है। ....आधुनिकता की चुनौती का निरंतर सामना करना कठोर है, इस प्रक्रिया के लिए विश्राम करना या आश्रय खोजना संभव नहीं है। नव-रहस्यवाद विश्राम करने के लिए एक नीड़ है, जिसमें कवि का 'हिय-हारिल' भान्त एवं क्लांत होकर आश्रय पाना चाहता है। अब कवि शब्द के अन्तराल में मौन की भाषा अपनाने के लिए आतुर है। अज्ञेय का कवि पहुँचा हुआ लगता है, वह अब राह का राही नही रहा, मंजिल को पाने वाला राही है।"[3]

---

[1] वाक् पत्रिका – सुधीश पचौरी, अंक-13 अक्तूबर-दिसम्बर 2013 (लेख-अज्ञेय : कवि हूँ आधुनिक हूँ, नया हूँ- कृष्णदत्त पालीवाल) पृ० सं०- 35

[2] सं० छबिल कुमार मेहेर – असाध्य वीणा , पृ० सं०-95

[3] सं० डा० गंगाप्रसाद विमल- अज्ञेय का रचना संसार (लेख- अज्ञेय का काव्य-इंद्रनाथ मदान), पृ० सं०- 11-15

इसी तरह **डा० हरदयाल** ने भी असाध्य वीणा में व्यक्त होने वाला सत्य रहस्यवादी अनुभूति का सत्य माना है। जिसे ज्ञानमार्गी नहीं, विनम्र आत्मसाधना के पथ पर चलकर कवि ने पाया है। यह 'नव-रहस्यवाद' की कविता है।[1]

"राजन ! पर मैं तो
कलावंत हूँ नहीं, शिष्य, साधक हूँ-
जीवन के अनकहे सत्य का साक्षी ।"[2]

रहस्यवाद, नव-रहस्यवाद से परे **डा० ओम प्रकाश अवस्थी** ने इस कविता में षटचक्रों का योगदर्शन खोजकर इसे साधनात्मक रहस्यवाद की श्रेणी में रखा है।'[3] योग-साधना, हठ-साधना आदि को लक्षित कर कुछ समीक्षकों ने अज्ञेय को संतो की परिणति कहकर आरोपित किया है। इसी रहस्यवाद के चलते उनके समकालीन कवि प्रभाकर माचवे ने उन्हें 'आधुनिक कबीर' कहा।

'असाध्य वीणा' पर हुए इस विश्लेषण एवं टिप्पणियों को देखते हुए **अज्ञेय** ने इस कविता के आरम्भ व अंत को लेकर अपना मत स्पष्ट किया है। वे कहते है कि, "..आरम्भ बड़े नाटकीय ढंग से होता है - 'आ गए प्रियवंद, केश कंबली, राजा ने आसन दिया' - वगैरह। उसके बाद कहानी चल पड़ती है। तो इस प्रकार एकाएक उसके पाठक या श्रोता को हम एक काव्य के दूसरे आयाम में ले जाते है, जिसमें यह घटना होती है और कहना चाहिए इतिहास की परिभाषा में 'इति ह आस'- वह घटना घटित होती ही चली आई है अब तक। अंत में जो युक्ति है वह इसलिए अपनाई गई है कि उस काल से हम श्रोता या पाठकों को वापस सामान्य काल में ले आते है- 'युग पलट गया\ उठ गई सभा\ सब अपने-अपने काम लगे।...यों मेरी वाणी भी मौन हुई...।...उसके बाद पाठक को जब

---

[1] सं० छबिल कुमार – असाध्य वीणा (लेख-अखंड जीवन सत्य और असाध्य वीणा), पृ० सं०- 124-125

[2] अज्ञेय - सदानीरा (खंड-2), पृ० सं०- 116

[3] डा० ओम प्रकाश अवस्थी- अज्ञेय कवि, पृ० सं०-80-91 (डा० ओम प्रकाश अवस्थी का मत है – "अज्ञेय एक संसारिक व्यक्ति है। एक संसारिक को योगी बनाने का प्रयास मक्खन का महल बनाना है। परन्तु अज्ञेय की कविता अवश्य ही योगमार्ग की अन्वितियों से युक्त है।....'असाध्य वीणा' में वह चक्रों का योगदर्शन है, भले ही वह पूरी तरह शास्त्र सम्मत न हो। केशकम्बली का बार-बार स्मरण करना और फिर अपने को लीयमान कर देना पूरी योग-साधना का तांत्रिक रचना संस्कार है।")

सीधे सम्बोधन करते है तो उसे उस देश-काल से, उस घटना से, खींच कर उसके सामान्य जीवन में प्रतिष्ठित करते है - सीधे सम्बोधन से एक प्रकार से सामान्य स्थिति में ले आते है और सामान्य स्थिति में ले आना क्यों जरूरी है इसका एक उत्तर यह भी है कि इस प्रकार उस दूसरे काल की जो चुनौती है उससे हम पाठक\श्रोता को बचा भी लेते है और मुक्त भी नहीं करते ।"[1]

इसी तरह कवि अज्ञेय ने कहा है कि बड़ा कुछ है जिसकी असंख्य परिभाषाएं होती है । जब-जब उससे साक्षात्कार होता है तब-तब उस साक्षात्कार की एक परिभाषा होती है । 'असाध्य वीणा' में भी एक साक्षात्कार की बात हुई है । जिसे समीक्षकों ने रहस्यवाद, नव-रहस्यवाद, साधनात्मक रहस्यवाद कई नामों से अभिहीत किया । अज्ञेय इस अपने से बड़े कुछ को साक्षात्कार का नाम देते है जो हर कविता में नया व अलग होता है । उसकी कोई पुनरावृत्ति नहीं होती । वह उसी कविता विशेष के चौखटे के भीतर का सत्य होता है उससे बाहर का नहीं । वे मानते है कि अपने से इत्तर अपने से बड़ा कुछ है जिसे पहचान सकना एक उपलब्धि है, जीवन की समृद्धि है । इसकी पहचान के बाद जो उसमें डूब जाते है वे लिखना छोड़ते देते है इसलिए यहाँ कवि बजाए इसमें डूबने के वह इस ज्ञान की संभावना को दूसरे तक पहुंचता है । इसी आधार पर वे कवि को दृष्टा कहते है जो ऋषि से उन्नीस है । लेकिन अपने अनुरक्त ज्ञान-सत्य को दूसरे तक पहुंचना अपने आप में एक साधना है । इसी दृष्टि से कवि एक साधक अवश्य है ।

हिन्दी आलोचना में 'असाध्य वीणा' पर हुई इन पक्षापक्ष टिप्पणियों तथा अज्ञेय की प्रतिक्रिया से यह परिणाम लक्षित होता है कि इस कविता में जरुर कोई महत्त्वपूर्ण बात है तभी वह इतनी अर्थान्वेषी व्याख्याओं का केंद्र बनी । किसी आलोचक ने 'आधुनिक परिवेश के साथ समझौते का सूचक माना', 'किसी ने हिन्दू मानसिकता की उपज', इतना ही नहीं अधिकांश समीक्षकों ने इस कविता में विलायती सन्दर्भ खोजते हुए मात्र नकल कह कर ख़ारिज कर दिया । बहरहाल पूर्वग्रहों से बचते हुए यदि कविता का पुनर्पाठ किया जाए तो इसकी असाध्यता को जाँचा जा सकता है । बदलते समय एवं

[1] अज्ञेय - आत्मनेपद, पृ० सं०- 42

समाज से कविता का पाठक भी बदलता गया है उससे जुड़े सन्दर्भ भी अपना नया अर्थ ग्रहण करते रहे है और आने वाले समय में ओर कुछ नए सन्दर्भ जुड़ जाएगें । पाठकवादी आलोचना के इस दौर में किसी पाठ के बहुअर्थ निकले, यह स्वाभाविक ही है क्योंकि आज का पाठक आलोचक की तरह ही सजग व सृजनशील है ।

व्यक्ति जब किसी अन्य देश, समाज एवं साहित्य से जुड़ता है तो निश्चित रूप (नकारात्मक-सकारात्मक) प्रभावित अवश्य होता है । कवि अज्ञेय भी 1957-58 के जापान प्रवास के बाद 1961 में असाध्य वीणा कविता लिखी । जापान-यात्रा तथा साहित्य से प्रभावित होकर ही कवि ने 'हाइकू' शैली में कुछ कविताएँ लिखी । इस तरह 'असाध्य वीणा' की परिकल्पना चीन के ताओवाद के एक कथानक 'वीणावादन' और जापान के कलाप्रेमी कजुओ आकोकुरा की पुस्तक 'The book of tree' में संकलित 'Taming of the Harp' कहानी के आधार पर की गई है । अज्ञेय ने इसे शुद्ध भारतीय धरातल पर रख सृजन-सम्प्रेषण की समस्या को कविता के निहितार्थ के रूप स्थापित किया है ।

इस कविता की शुरुआत नाटकीय ढंग से होती है, जिसकी सहमति समीक्षकों के साथ-साथ स्वयं कवि ने भी दी है -

"आ गए प्रियवंद! केशकम्बली! गुफा-गेह!
राजा ने आसन दिया । कहा;
कृतकृत्य हुआ मैं तात! पधारे आप ।
भरोसा है अब मुझ को
साध आज मेरे जीवन की पूरी होगी!"[1]

प्रियवंद के प्रवेश की सूचना उनके व्यक्तित्व का परिचय - एक तपस्वी साधक जिसके लम्बे बाल है, वनों पर्वतों की गुफाओं में रहने वाला है । अज्ञेय ने चीनी कथा के पेईवोह राजकुमार की बजाए गुफाओं में रहने वाले साधक को चुना है । भारतीय परम्परा के अनुसार साधक-तपस्वी की साधना राजकीय परिवेश से दूर प्रकृति की गोद में रहकर

[1] अज्ञेय - सदानीरा (खंड-2), असाध्य वीणा, पृ० सं०- 116

होती है। केशकम्बली साधक के आने से राजा कृतकृत्य हो उठे। उनकी बरसों की आस प्रियवंद द्वारा पूरी होगी। असाध्य वीणा लाकर प्रियवंद को सौंप दी गई। सभासदों की उत्सुकता वीणा और प्रियवंद पर एक टक जा बंधती है। तभी कवि अचानक दृश्य बदल देता है और पूर्वदीप्ति शैली में 'वीणा' के पश्चिम की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अभिव्यक्त होती है।

"यह वीणा उत्तराखंड के गिरी-प्रान्तर से

-घने वनों में जहाँ तपस्या करते है व्रतचारी-

बहुत समय पहले आई थी।

*** * * * ***

वज्रकीर्ति ने मन्त्रपूत जिस

अति प्राचीन किरीट-तरु से इसे गढ़ा था -"[1]

इस किरीट तरु का फैलाव इतना व्यापक था कि वह पाताल को बादलों के पार आकाश से जोड़ता था। इस तरु के कानों में हिम-शिखर अपने रहस्य कहा करते थे, बादल उसके कंधो पर सोते थे। उसकी छाया में असंख्य जीव-जन्तु आश्रय पाते, कोटरों में भालू बसते, वल्कल से शेर कंधे खुजलाते थे। ऐसे विराट तरु से निर्मित वीणा बनाकर वज्रकीर्ति ने अपनी साधना एवं जीवन-लीला दोनों पूर्ण की। इस अभिमंत्रित वीणा को आज तक कोई न बजा सका, इसके बरसों के मौन को कोई खंडित नहीं कर पाया -

"मेरे हार गए सब जाने माने कलावंत

सब की विद्या हो गई अकारथ, दर्प-चूर

कोई ज्ञानी गुणी आज तक इसे न साध सका!"[2]

---

[1] अज्ञेय - सदानीरा (खंड-2), असाध्य वीणा, पृ० सं०- 115

[2] अज्ञेय - सदानीरा (खंड-2), असाध्य वीणा, पृ० सं०- 115

जाने-माने कलावन्तों के प्रयासों के बावजूद असाध्य वीणा के प्रति राजा की आस्था टूटी नहीं है। काल अनंत है, प्रत्येक कार्य का निर्माता व संहारक निश्चित है। इस वीणा की असाध्यता साधने वाला भी कोई अवश्य आएगा। इसी भरोसे के साथ राजा वीणा प्रियवंद को सौंपता है, तो प्रियवंद बड़े आदर से वीणा स्वीकार कर प्रणाम करते हुए विनम्रतापूर्वक कहता है - कलावंत हूँ नहीं, शिष्य साधक हूँ।

प्रियवंद ने कम्बल खोलकर बिछाया, उस पर वीणा रखी और नेत्र मूंद, तारों पर मस्तक टिका दिया। अपने आस-पास की दुनिया को भूल साधक ने स्वयं को उस विराट तरु के समक्ष लीन कर दिया। अपने मन की अटल गहराइयों के सघन एकांत में अपने आपको ध्यानमग्न कर देता है -

"कम्बल पर अभिमंत्रित एक अकेलेपन में डूब गया था

*** * * * ***

करता था, नीरव एकालाप प्रियवंद।"[1]

यह कविता बहुत सादगी से जिस जीवन-सत्य और कला-सत्य को पेश करती है वह यही है कि दम्भ या अंहकार जीवन-सत्य और कला-साधना के मार्ग की सबसे बड़ी रुकावट है। प्रियवंद यह जीवन-सत्य भली-भांति जानता है, इसलिए स्वयं को समर्पित कर तरु का आवहान करता है कि ओ विशाल तरु, कितने वसंतो और पतझड़ों ने तेरा रूप सँवारा है। कितनी बरसातों में जुगनुओं ने तुम्हारी आरती उतारी है। दिन में भौरें तुम्हें गुंजरित करते है और रात में झींगुर मंगलगान सुनाते है। किरीटी-तरु को 'तात, सखा, गुरु, कहकर सम्बोधित करता है। प्रियवंद की इस गुहार में कवि अज्ञेय की काव्य-प्रतिभा, भाषा, बिम्ब, लय, नाद-सौन्दर्य आदि का अनूठा प्रयोग देखा जा सकता हैं। इस स्मरण में ही इस कविता का ऐश्वर्य और उत्कर्ष निहित है। इसके माध्यम से कवि ने प्रकृति के विविध रूपों का, विभिन्न समयों बदलावों का जो चित्र खींचा है वह अपनी अमूल्य परम्परा के विस्तार और वैविध्य से नए साक्षात्कार का प्रतीक है। जिससे साक्षात् होकर ही प्रियवंद वीणा के अस्तित्व में दम भरता है। इस आत्मशोधन की प्रक्रिया में प्रियवंद के

[1] अज्ञेय -सदानीरा (खंड-2), असाध्य वीणा, पृ० सं०- 117

माध्यम से अज्ञेय ने एक से एक सुंदर ध्वनि-दृश्य बिम्बों एवं प्रतीकों की झड़ी लगाई है। एक ओर वन के सौन्दर्य एवं अनूठे उपमानों को जोड़ा है तो दूसरी ओर वन के विभीषक क्रूर रूप को पेश किया है -

"बदली-कौंध पत्तियों पर वर्षा-बूंदों की पट-पट
घनी रात में महुए का चुप-चाप टपकना।
चौकें खग-शावक की चिहुंक।
*** * * * * ***
भरे शरद के ताल, लहरियों की सरसर ध्वनि।
कूंजों का क्रेंकार। काँद लम्बी टिट्टिभ की।"[1]

यहाँ कवि अज्ञेय ने नाना प्रकार की ध्वनियों का प्रयोग किया है - पट-पट , टपकना, चिहुंक, काल-निनाद, भाप,ढाप, ठेका, कुकरन, झरना, सरसर, क्रेंकार काँद, झंकार, सांय-सांय आदि तीव्र व मंद ध्वनि-शब्द है। इसी तरह से वन का दूसरा चित्र भयानक दृश्यों व ध्वनियों से खींचा हैं -

"दूर पहाड़ो से काले मेघों की बाढ़
हाथियों का मानों चिघाड़ रहा हो यूथ।
*** * * * * * ***
झंझा की फुफकार, तप्त,
पेड़ों का अररा कर टूट-टूट कर गिरना।
*** * * * * ***
बंधे समय वन-पशुओं की नानाविध आतुर-तप्त पुकारें :
गर्जन, घुर्घुर, चीख, भूंक, हुक्का,चिचिचाहट ।"[1]

[1] अज्ञेय - सदानीरा (खंड-2), असाध्य वीणा, पृ० सं०- 119

यहाँ चिघांड, घरघराहट, फुफकार, अररााना, गर्जन, घुर्घर, चीख, भूंक आदि डरावनी ध्वनियों का प्रयोग कर दृश्य को सजीव बनाया हैं । इतना ही नहीं कवि अज्ञेय मिट्टी के रिसने और घावों को सहलाने तक की सूक्ष्म ध्वनियों को सुनने व सुनाने की क्षमता रखते हैं । इस कविता में यथा-स्थान संस्कृत शब्दों द्वारा अपने सम्प्रेषण में एक अद्‌भुत् चमक व रंग भरने का प्रयास किया है । जिसे प्राय: समीक्षकों ने या तो अनदेखा किया है या मात्र दिखावे या ढोंग कहकर लताड़ा है । उद्धरण की आरंभिक पंक्तियों में तत्सम् शब्दों के साथ तद्भव का प्रयोग नया सौन्दर्य प्रस्तुत करता है - 'बदली-कौंध, पत्तियों पर वर्षा-बूंदों की पटपट'..... ।' इसमें बदली, कौंध, पत्तियां, बूंदें, आदि प्रचलित तद्भव है किन्तु कूँज(कांच पक्षी), कांद(क्रन्दन) अप्रचलित तद्भव शब्द निर्मित किए है । 'कुंजो का क्रेंकार । कांद लम्बी टिटिय की... ।' यहाँ तद्भव के साथ तत्सम् का सुंदर प्रयोग किया है ।

वीणा को साधते-साधते केशकम्बली प्रकृति जीवन के हर सूक्ष्म-गूढ़ स्वर को सुनता है और यह 'हर स्वर-कम्पन लेता है मुझको मुझसे सोख' । अर्थात् वह 'मैं' अपने आप को भूल गया है, बस स्वर-शब्द सुन रहा है, अपने अस्तित्व से परे जाकर । वह जीवन की, तरु की विराटता में लीन हो गया है । वह कहता है- **'मैं नहीं, नहीं! मैं कही नहीं!'**[2] तन्मयता, एकाग्रता, अहं के विलयन प्रकृति के कण-कण से तदाकार हो जाने की इस प्रक्रिया को अधिकांश-समीक्षकों ने जापानी जैन बौद्ध दर्शन के 'सातोरी' की अवस्था से जोड़ा है । यहाँ पहुँच साधक का 'मम' से 'ममेत्तर' का भेद मिट जाता है । साधक जिस विराट के प्रति उन्मुख है, आलोचकों ने उसे रहस्यवाद, नव-रहस्यवाद, साधनात्मक रहस्यवाद ना जाने कितने नामों से पुकारा है । किन्तु अज्ञेय इस उन्मुखता को अपरिमेय मानते है जिसमें कोई दैवीय चमत्कार नहीं है । इसमें सृजनात्मकता उस विराट की निकटता में एक स्पन्दित सन्नाटा या एकांत है । इसी एकांत में जीवन-प्रकृति की सारी विविधता, संघर्ष-गति घुल-मिल जाते है । प्रियवंद इसी जीवन-सत्य को आत्मशोधन कर प्रस्तुत कर रहा है । वह इन पंक्तियों में संगीत भरने के लिए किरीट तरु से गुहार लगाता है -

---

[1] अज्ञेय - सदानीरा (खंड-2), असाध्य वीणा, पृ० सं०- 119-120

[2] अज्ञेय - सदानीरा (खंड-2), पृ० सं०- 121

"तू उतर बीन के तारों में
अपने से गा
अपने को गा –
*** * * * * ***
अपने जीवन-संचय को कर छन्दयुक्त,
अपनी प्रज्ञा को वाणी दे!
तू गा, तू गा –
तू सन्निधि पा - तू खो
तू आ - तू हो - तू गा ! तू गा!"[1]

जीवन को कण-कण से उत्पन्न स्वर में विलीन कर देना चाहता है । इससे वह भी नया रूप-अस्तित्व ग्रहण करेगा । इन पंक्तियों में अज्ञेय ने छंद, लय, ताल का सुंदर प्रयोग किया है । साधक के स्वयं को तिरोहित-समर्पित करते ही वीणा से संगीत फूट पड़ता है और उससे झंकृत स्वर सृष्टि का अद्‌भुत् संगीत है । जिसे सभा में उपस्थित प्रत्येक सहृदय अपने अलग ढंग से सुनते है -

राजा ने अलग सुना :
जय देवी यश: काय
वरमाल लिए
गाती थी मंगल गीत
*** * * * ***
रानी ने अलग सुना :
तुम्हारे ये मणि-माणिक, कण्ठहार, पट-वस्त्र,
*** * * * * ***
सब अन्धकार के कण है ये! आलोक एक है

[1] अज्ञेय - सदानीरा (खंड-2), पृ० सं०- 121

प्यार अनन्य ! उसी की

*** * * * ***

किसी एक को नई वधू की सहमी-सी पायल ध्वनि ।

किसी दूसरे को शिशु की किलकारी

एक किसी को जाल-फंसी मछली की तड़पन ।"[1]

इस तरह – 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ।' अर्थात् अपनी-अपनी क्षमता व आकांक्षा अनुरूप सभी ने संगीत सुना । इस समष्टि-संगीत के अवतरण में सभी एक साथ डूबते जरुर है लेकिन अलग-अलग तिरते जाते है, प्रत्येक व्यक्ति की पृथक-पृथक इयत्ता जगती है -

'सब डूबे, तिरे, झिपे, जागे,
हो रहे वंशवद, स्तब्ध
इयत्ता सबकी अलग-अलग जागी
संघीत हुई । पा गई विलय!'[2]

अनेक स्वरों में झंकृत वीणा मौन हो जाती है । राजा की साध पूरी होती है । रानी अपनी सतलड़ी हार अर्पित करती है । यहाँ आकर साधक अपनी साधना का मंत्र बतलाया है कि -

'श्रेय नहीं कुछ मेरा ;
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में -
*** * * * ***
सुना आपने जो वह मेरा नहीं ;
न वीणा का था ;

---

[1] अज्ञेय - सदानीरा (खंड-2), पृ० सं०-122-123

[2] अज्ञेय- सदानीरा (खंड-2), पृ० सं०- 124

वह तो सब कुछ की तथता थी –

महाशून्य \ वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्दहीन \ सब में गाता है ।'[1]

इस महाशून्य-महामौन को समीक्षकों ने महायान की शून्यवादी शाखा से जोड़ा है । किन्तु अज्ञेय का यह महामौन मनुष्य के भीतर ही व्याप्त है, इसकी खोज किसी ईश्वर ओर उन्मुखता में नहीं हो सकती । इसे पाने के लिए अपने अस्तित्त्व, मैं, अहं को विलीन करना होगा, तभी इस अविभाज्य, शब्दहीन सत्ता से साक्षात्कार पाया जा सकता है । अंत में आकर कवि कहता है – **'उठ गई सभा । सब अपने-अपने काम लगे । / युग पलट गया ।'**[2] इन पंक्तियों माध्यम से कवि ने अपने साक्षात्कार-सत्य को सम्प्रेषित कर पुन: पाठक को अपने वर्तमान जगत में ला पटका है । इस विराट सत्य के साक्षात् के लिए वह पाठक को अपने साथ उसके अंतर्जगत के महामौन की यात्रा कराता है । जहाँ प्रत्येक व्यक्ति के भीतर अपना राग-संगीत ध्वनित है । आज के युग में इस कविता की प्रांसगिकता ओर अधिक बढ़ जाती है क्योंकि आज व्यक्ति जीवन की, केरियर की दौड़ में अंधे की तरह लीक पीट रहा है । उसके भीतर की उथल-पुथल इतनी तीव्र है कि वह इस शोरगुल की भागम-भाग में भीतर का मौन सुनने के लिए खाली ही नहीं है । अज्ञेय की यह कविता आज व्यक्ति को उसके अहं से परे हटकर कुछ क्षणों के लिए ही सही उसके भीतरी जगत से जोड़ने का प्रयास करती है ।

भूमण्डलीकरण के दौर में प्रकृति से कटता मनुष्य यहाँ आकर कुछ पल के लिए प्रकृति के सुंदर उपादानों-स्वरों से वाकिफ हो जाता है । इस कविता को लेकर आलोचकों में इतनी चुहलबाजियाँ हुई कि कुछ समीक्षकों ने अपनी पहली स्थापित धारणाओं को ही बदल दिया है । यह बदलाव कुछ में समय के चलते आए, कुछ में अपने दल के साथियों के पिछग्गलू बनकर । विशेष तौर पर अज्ञेय के जन्मशती समारोह में सीधे-सीधे तीर

---

[1] अज्ञेय -सदानीरा (खंड-2), पृ० सं०- 124

[2] अज्ञेय - सदानीरा (खंड-2), पृ० सं०- 125

चलाने वाले, अपने हथियार डालते दिखाई दिए। दूसरी ओर कुछ प्रगतिवादी आलोचकों का नजरिया पहले से मुलायम हो गया। 'आलोचना' पत्रिका के अज्ञेय केन्द्रित अंक में **डा० शम्भुनाथ** ने पुराने प्रगतिवादी-गैर-प्रगतिवादी आलोचकों को नसीहत देते हुए 'असाध्य वीणा' कविता के पुनर्पाठ की माँग की है। उन्होनें अब तक इस कविता को कहे गए विश्लेषणों को एकांगी मानते हुए इसे 'आधुनिकीकरण के क्रिटीक' के रूप में पढ़ने की सलाह दी है। वे 'असाध्य वीणा' को आधुनिक शोर, विघटन और हिंसा के युग में 'हार्मोनी की कविता' कहते है।[1] उनके विचार-विश्लेषण की यह कोमलता स्पष्टत: एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है जिससे पाठक उलझने की बजाए कविता के अर्थ को समझने में सफल होता है।

कविताओं के साथ-साथ कवि अज्ञेय ने नाटक लिखने का भी प्रयास किया है। नाटक रचने के प्रेरणा के सन्दर्भ में **कवि अज्ञेय** का मानना है कि, 'कभी-कभी नाटकीय संवाद सूझे, पर मैनें बार-बार दुत्कार दिया क्योंकि बरसों से ठान रखा था कि नाटक नहीं लिखूँगा, नहीं लिखूँगा – इधर मेरी गति नहीं है और बिना जीवित रंगमंच के हो भी नहीं सकती। निरा पाठ्य दृश्य-काव्य लिखना किसी-न-किसी को जरुर धोखा देना है - अपने को या दूसरे को, जो जैसा मान ले। अंत में मानो नाटक ने मूर्त होकर कहा है कि देखो, अगर तुम मुझे सचमुच प्रकट करना चाहते हो तो यह मेरा रूप है, इसी में मैं आविर्भूत हो सकता हूँ, किसी दूसरे में नहीं।...और मैनें बाध्य होकर मान लिया है कि ..नाटक मुझे लिखना ही होगा। क्योंकि वस्तु और वस्तु-रूप कला में अलग-अलग कभी नहीं होते और जब वस्तु ऐसी 'अनन्याश्चिन्त्यन्ती' होकर आती है तब कौन उसकी अवज्ञा कर सकता है? - मैनें ठान रखा था कि नाटक कभी नहीं लिखूँगा पर लिखे बिना रह न सका।'[2]

---

[1] आलोचना त्रैमासिक अंक-41, अप्रैल-जून 2011 (लेख- आधुनिकीकरण और अज्ञेय की चिंताएँ- शम्भुनाथ), पृ० सं०-61

[2] अज्ञेय –आत्मनेपद, (जो न लिख सका), पृ० सं०- 50

2.4 काव्य-नाटक : उत्तर प्रियदर्शी

1967 में कवि अज्ञेय ने **उत्तर प्रियदर्शी** नाटक लिखा । 'कविता से रागात्मकता और नाटक से वस्तु की नाटकीयता लेकर काव्य-नाटक की रचना होती है । इसलिए आधुनिक काल के समृद्ध कवियों ने प्राय: काव्य-नाटकों की रचना की है ।'[1] भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार काव्य-नाटक, पद्य नाटक, नाट्य काव्य, भाव-नाट्य, गीति नाट्य, संगीतिका, रूपक आदि अनेक भेद-प्रभेद किए गए हैं । इस नाटक के काव्य-रूप को लेकर समीक्षकों में प्राय: मतभेद मिलता है। कुछ समीक्षकों ने इसे गीति-नाट्य माना है तो कुछ ने नाट्य-काव्य । प्राचीन काल से विद्वान काव्य और नाटक को अभेद मानते आए हैं । यहाँ तक कि **'काव्येषु नाटकं रम्यम्'** कहकर नाटक को काव्य का श्रेष्ठतम रूप माना गया । यथार्थवादी आन्दोलन से पूर्व नाट्य का अर्थ काव्य माना जाता था अत: नाट्य, काव्य ही है, यह मान्यता पश्चिम में यथार्थवादी आन्दोलन के पहले भी थी और आज भी बनी हुई है ।'[2] टी.एस.इलियट ने भी काव्य और नाटक के मिश्रित प्रयोग को 'लिरिकल ड्रामा' ना कहकर 'काव्य-नाटक' या 'नाट्य-काव्य' ही कहा है । वे मानते है कि 'All Poetry tends towards drama and all drama towards poetry' ।[3] जबकि गीति नाट्य में गीतों की प्रधानता होती है और ये गीत संगीत की स्वीकृत सरणियों से अनुशासित होते हैं । साथ ही 'इसमें बाह्य संघर्ष की अपेक्षा आंतरिक संघर्ष की प्रधानता होती है।'[4]

'नाट्य-काव्य' और 'गीति-काव्य' दोनों में नाट्य विधान महत्त्वपूर्ण है । 'समस्या गीति या काव्य पर रहती है - गीति(गीत) में उन्मुक्त प्रवाह, सहज भावानुभूति रहती है परन्तु काव्य में प्रबंधात्मकता एवं मुक्तता । गीति में कथा का अभाव होता है परन्तु

---

[1] सं धीरेन्द्र वर्मा –हिन्दी साहित्य कोश (साहित्य रूप- डॉ ब्रजेश्वर वर्मा), पृ० सं०- 848

[2] Heartnal – The Oxford Companian to the Theatre, pg- 747

[3] T.S Eliot –Selected Essays , pg- 52

[4] बच्चन सिंह – हिन्दी नाटक , पृ० सं०- 6

नाटक में कथ्य जरूरी है ।'[1] इस अंतर को समेटते हुए **डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा** का कहना है कि, "आलोचकों को तथाकथित गीति-नाट्यों से यही शिकायत रही है कि उनमें काव्यात्मकता नाटकीयता पर हावी हो गई है । यदि ऐसा है तो फिर उन्हें गीति-नाट्य मानकर 'नाटक' की स्थापना करने का दुराग्रह क्यों? क्यों न उन्हें सीधे ढंग से नाटकीय काव्य या नाट्यकाव्य कहा जाए? ऐसा करने से 'गीति' और 'नाटक' के पारस्परिक विरोध से भी बचा जा सकता है तथा उक्त कृतियों के साथ न्याय भी किया जा सकता है ।"[2] कवि अज्ञेय के इस प्रयोगात्मक नाटक के प्रेरणा स्रोत, कथानक, पात्र, संवाद, वातावरण आदि के मूल्यांकन से ही यह स्पष्ट हो सकता है ।

नाटक की 'प्रेरणा'(शीर्षक) में **कवि अज्ञेय** ने लिखा है, "पांचवी शती के चीनी यात्री फ़ाहयान ने बताया है कि पाटलिपुत्र की नगर-सीमा के बाहर उसने एक दीवार देखी थी जो अशोक के बनवाये हुए नरक की प्राचीर बतायी जाती थी । अशोक पहले प्रचंड स्वभाव का क्रूर शासक था । उसने एक परम् नृशंस व्यक्ति को खोज कर एक नरक बनवाया ; इस नरकाधिपति को उसने आश्वासन दिया कि नरक-सीमा में उसकी सत्ता सर्वोपरि होगी - यहाँ तक कि राजा भी उसके भीतर आ जाए तो उसके नियम से अनुशासित होगा । घटना-चक्र में राजा को 'राज-मर्यादा' की रक्षा के लिए वहाँ आना पड़ा । सातवीं शती के दूसरे चीनी यात्री ह्युएन त्याड. ने नरक संबंधी इस कथा की पुष्टि की है । उन्नीसवीं शती के अंतिम दिनों में अंग्रेज सैनिक पुरातत्व प्रेमी वैडेल ने पाटलिपुत्र में जो खुदाई करायी थी, उसमें उसे ऐसे स्थलीय अवशेष मिले थे जो फ़ाहयान और ह्युएन त्याड. के वर्णन से मेल खाते थे ।"[3]

नाटक का प्रमुख पात्र प्रियदर्शी सम्राट अशोक है । मंत्री, घोर(यम), भिक्षु, चार-पांच संवादक सहायक पात्र हैं । संवादक किसी व्यक्ति की प्रतीति नही कराते, वे यंत्रवत कथा जोड़ने, बुद्ध के उपदेशों का स्मरण कराने का कार्य करते हैं । नाटक की कथा इस

---

[1] सं स्नेहलता शुक्ला –अज्ञेय : दृष्टि और सृष्टि,(लेख–उत्तर प्रियदर्शी : सार्थक नाट्य काव्य, डॉ हुकुम चन्द्र राजपाल),पृ० सं०- 242

[2] डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा – नयी कविता के नाट्यकाव्य , पृ० सं०- 59

[3] अज्ञेय – उत्तर प्रियदर्शी , प्रेरणा, पृ० सं०- 7-8

प्रकार है – सम्राट अशोक अपने पूर्व जन्म में जब बालक थे और रास्ते में धूल से खेल रहे थे, तब शाक्य-बुद्ध उधर से, भिक्षा माँगते हुए निकले । बालक अशोक ने मुट्ठी भर धूल उठाकर मुस्कुराते हुए बुद्ध के हाथ में दे दी –

"मुट्ठी-भर धूल उठा कर
शिशु स्मितमुख, उदार,
देता है :"[1]

बुद्ध ने धूल ग्रहण की और उसे नीचे धरती पर डाल दिया । इस दान के परिणामस्वरूप अशोक कालांतर में जम्बू द्वीप के राजा बने । सम्राट अशोक ने कलिंग पर विजय प्राप्त करने के लिए समरभूमि में खून की नदी बहा दी । विजय के उन्माद में जब वह अपने बंदी जनों और चारणों से अपना यशोगान सुनने में लीन थे तभी उन्हें असंख्य स्वरों का चीत्कार सुनाई पड़ता है । उन्हें पराजित ध्वस्त, शत्रुओं के प्रेतों का दल अपनी ओर द्वार तोड़कर बढ़ता हुआ दिखाई देता है । वह अपने मंत्रियों को आज्ञा देते है कि ऊँची दीवारों से घिरे एक ऐसे नरक का निर्माण किया जाए जिसमें प्रेत शत्रुओं को नरक-यातना दी जा सके । राजा पैशाचिक स्वभाव और कार्यों वाले दीर्घकाय विकराल परम राक्षस व्यक्ति के रूप में नियुक्त करता है और आज्ञा देता है कि यदि मैं स्वयं भी नरक की सीमा में प्रवेश करूं तो मुझे भी अन्य दुष्टों की भांति कठोर कष्ट दिया जाए । घोर नरक की भयंकरता का चित्रण करता है -

"मैं महाकाल! मैं यम! अपनी सीमा में
मैं आत्यांतिक, नियति-नियंता, शास्ता दुर्निवार!
मैं घोर, मेरे शासन में
नहीं व्यतिक्रम! दया-द्रोह है! दंड्य!
यह मेरा संसार नरक है

[1] अज्ञेय – उत्तर प्रियदर्शी , पृ० सं०- 21

सत्ता की मुट्ठी में जकड़ी यहाँ
कल्पना तोड़ रही है साँस !"[1]

नाटक की कथा यहाँ नया मोड़ लेती है जब एक भिक्षु भिक्षा माँगता हुआ नरक सीमा में प्रवेश कर जाता है । नरक के गणों ने उसे पकड़ लिया और यन्त्रणा देने चले । भिक्षु ने थोड़ा अवकाश माँगा कि वह भोजन कर ले । नरक के गण उसे पकड़कर खौंलते कड़ाह में फैंक देते हैं । आग बुझ जाती है और कड़ाह ठंडा हो जाता है और बीच में एक कमल खिल उठता है । राजा इस समाचार की सूचना प्राप्त कर गणों के आग्रह पर नरक में प्रवेश करता है । घोर के आदेश पर नरक के गणों द्वारा यन्त्रणा से पीड़ित राजा घोर की सत्ता को चुनौती देता है । घोर राजा को उसी की आज्ञा की याद दिलाता है और उसको दंड भोगने का आह्वान करता है -

"नरक
स्वयं तू ने माँगा था ।
'मुझ को नरक चाहिए!' ले,
प्रियदर्शी, परमेश्वर!"

घोर के प्रहार से पीड़ित राजा भिक्षु के समाने गिरता है, घोर का उठा हाथ रुक जाता है । भिक्षु के धर्म उपदेश से राजा के मन में करुणा उत्पन्न होती है वह बंधन से मुक्त हो जाता है । भिक्षु कहता है –

"पारमिता करुणा को नमन करो
उस परम बुद्ध को शरण करो!"[2]

अज्ञेय ने इस कथा के एतिहासिक तथ्यों ने थोड़ा बदलाव किया है । फ़ाहयान के उपलब्ध विवरण में सम्राट अशोक के नरक यातना झेलने के कोई प्रमाण नहीं मिलता । अज्ञेय ने यह परिवर्तन आधुनिक युगबोध में कालचक्र की लीला प्रदर्शन हेतु किया है ।

---

[1] वही , पृ० सं०- 48

[2] अज्ञेय – उत्तर प्रियदर्शी, पृ० सं०- 64

कथानक संक्षिप्त, सुगठित, सीधा और सपाट है । इतने से ही इसे नाट्यकाव्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि नाटकीयता के लिए जो जटिलता, मनोद्वंद्व तथा मोड़ सहज रूप से आने चाहिए उसका सर्वत्र अभाव है । इस सन्दर्भ में नाटक समीक्षक **डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा** का मानना है कि, 'प्रस्तुत नाट्य काव्य में उस कटाव का अभाव है, जिससे उसके उत्कृष्ट नाटकीय एवं काव्यात्मक रूप की पुष्टि होती है । कथानक में कई स्थलों पर जटिलता और मनोद्वंद्व की स्थिति उभारने की गुंजाइश थी किन्तु कवि उन सारी सम्भावनाओं का उपयोग नहीं कर सका है । प्रियदर्शी के प्रेत शत्रु उसके तन में फुरहरी जागकर रह जाते है, मन पर उनकी कोई गंभीर प्रतिक्रिया नहीं होती ; परन्तु एतिहासिक सन्दर्भों की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति सांकेतिक रूप में अवश्य हुई है ।'[1] इसी तरह इस नाटक का विश्लेषण करते हुए **श्रीमती गिरीश रस्तोगी** का मानना है कि, "'उत्तर प्रियदर्शी' आज की जीवंत और सशक्त काव्यधारा के प्रमुख कवि अज्ञेय की इसी क्रम की एक रचना है, एक काव्य-नाटक जो ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित एक प्रतीक-कथा है, जो हिन्दी के अन्य काव्य-नाटकों की तरह हमें निराश ही करती है । ...न अच्छी कविता है, न सुगठित नाटक, न दृश्यकाव्य की पूरी पहचान बल्कि यह एक सरलीकृत व्यवस्था है । ...आधुनिक भी नहीं है । न प्रयोग के स्तर पर ही उसमें कोई नवीनता है । उसमें कथाभूमि है, तथ्य है, कविता है, नाटक है, विचार है, प्रश्न है लेकिन काव्यत्व और नाट्यत्व का सामंजस्य नहीं है । वह समग्र प्रभाव नहीं है जो नाट्य कृति को सार्थक बनाता है ।"[2]

नाटक में नरक यन्त्रणा अशोक के भीतरी नरक की है या बाहरी इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं मिलता । कथानक में भिक्षु का प्रसंग और नरक का निर्माण भी अलौकिकता लिए हुए है जो आधुनिक युग में अविश्वसनीय तथा कल्पित प्रतीत होता है । समीक्षकों ने **'भिक्षु'** पात्र को सहज मानवीय दुर्बलताओं से परे माना है । जबकि इसी परम्परा में रचित (नाट्य-काव्यों में) 'अंधा-युग' में कृष्ण पर मानवीय आक्षेप, 'एक कंठ विषपायी' में शिव विलापी और क्रोधी तथा 'संशय की एक रात' में राम संशयी मानव के रूप में आए

---

[1] डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा – नयी कविता के नाट्यकाव्य, पृ० सं०- 322

[2] सं विश्वनाथ प्रसाद तिवारी – अज्ञेय (लेख – नाटक-उत्तर प्रियदर्शी – श्री मती गिरीश रस्तोगी) , पृ० सं०- 231-234

हैं। वास्तविक रूप से ध्यान दिया जाए तो भिक्षु को अलौकिक, चमत्कारिक, काल्पनिक न मानकर इस दृष्टि से भी देखा जा सकता है कि भिक्षु के पास न धन-धान्य है न राज-पाट, न किसी प्रकार का दंभ-अहंकार और न उसने किसी युद्ध में विजयी हेतु लाखों लाशों के ढेर लगाए हैं। बल्कि, वह तो जीवन के प्रति समर्पित, मोह-माया से परे, स्वयं ही मानवीय दुर्बलताएँ त्याग चुका एक भिखारी है जो पाप-पुण्य का भेद पा चुका है और यह नरक द्वार दम्भी-अंहकारी-पापी व्यक्ति को दंड व मुक्ति देने के लिए निर्मित हुआ है। इस पात्र को नाटक में जीवन के मुक्ति-सत्य को तथा कथा को एक नयी गति व दिशा देने के लिए पेश किया है।

'घोर' का चरित्र स्वाभाविक और सशक्त है। इसके संवाद एवं क्रिया-व्यापार ही कृति में नाटकीयता एवं काव्यमयता लाते है। घोर नियति नियंता दुर्निवार है, उसका शासन आत्यंतिक है। भिक्षु को नरक यातना देने में असफल होने पर वह सम्राट अशोक को ही नरक पाश में बाँध यन्त्रणा देने को बढ़ता है। तभी भिक्षु का मूल-मंत्र सुन घोर का बढ़ा हाथ रुक जाता है और घोर हतबुद्धि होकर अदृश्य होता हुआ कहता है – **'प्रियदर्शी अशोक। ओ-मुक्तिस्रोत का वरण करो।'** पात्रों का यह हृदय परिवर्तन मात्र चमत्कारिक घटनाओं एवं स्थितियों से कराने का आरोपण-सा लगता है। इसके लिए नाट्य काव्य में लौकिक धरातल की अपेक्षा होती है जिसका यहाँ अभाव है। अंत में संवादक (गौण पात्र) अपने संवादों द्वारा बार-बार भगवान बुद्ध के 'पारमिता करुणा' का संदेश दुहराते रहते है जो वातावरण निर्माण में सहायक है। इनके संवाद प्रारंभ में इतिवृत्तात्मक और गद्यात्मक है। साथ ही इन संवादों में नाटकीय व्यापारों की काव्यात्मक सम्वेदनाओं से युक्त बिम्बात्मक योजना नहीं हैं। आरंभिक 15 पृष्ठों तक के संवाद मात्र प्रियदर्शी और बुद्ध के चरित्र को ही प्रकाशित करते हैं। 'उत्तर प्रियदर्शी' के 'संवादों की सहज विलम्बित गति गद्य और कविता के मध्य प्रवाहित होती हुई नाट्य काव्य की मूल कारुण्य धारा के अनुरूप सिद्ध हुई है।'[1] इसमें 'प्रमुख पात्रों के वचनों और क्रिया-व्यापारों को अस्वाभाविक रूप से सीमित रखा गया है ऐसा सम्भवत: इसलिए किया गया है कि

[1] डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा – नयी कविता के नाट्यकाव्य , पृ० सं०- 327

जिससे प्रत्येक पात्र को प्रतीकात्मक अर्थ दिया जा सके । इस प्रतीकात्मकता के फेर में पड़कर ही प्रियदर्शी के मन का अन्तर्द्वन्द्व न तो प्रेत-शत्रुओं से आक्रांत होने पर उभर पाता है और न ही घोर द्वारा यन्त्रणा दिए जाने पर ।'[1]

इन प्रमुख पात्रों की प्रतीकात्मकता लक्षित करने के लिए समीक्षकों ने इन्हें सत् और असत् पात्रों में विभाजित किया है । हृदय परिवर्तन से पूर्व अशोक को 'दर्पस्फीत अहंता की विकृतियों' एवं 'आतंकवादी आक्रान्ता' के प्रतीक के रूप में और घोर को आत्यन्तिक दुर्निवार शास्त्रा नियति नियंता के रूप में असत् पात्र क्यों न माने? जबकि हृदय परिवर्तन के बाद अशोक परमेश्वर, सर्वदम प्रियदर्शी के रूप में और प्रतिक्रिया स्वरूप महाकाल घोर भी 'लोक सापेक्षता' का प्रतीक सत् पात्र बन जाते है । सत् पात्रों में भिक्षु निर्विकार करुणाप्लावित स्थितप्रज्ञ मानव की आदर्श भावना का प्रतीक है । मंच पर अदृश्य महात्मा बुद्ध पारमिता करुणा के मुक्ति स्रोत के प्रतीक है । 'प्रेत-उपद्रव' वर्तमान राष्ट्रीय सामाजिक जीवन की विसंगति दुष्प्रवृतियों, शोषण, संत्रास और आतंकवादी मनोवृत्तियों का प्रतीक हैं । नाटक में कही-कही शब्द प्रतीकों तथा एक शब्द प्रतीक के विरोधी दूसरे शब्द प्रतीक की योजना भी की गई हैं । जैसे – नारकीय यन्त्रणा के प्रतीक 'खौलते कड़ाहों' और 'उत्तप्त कड़ाहों' को पारमिता करुणा के प्रतीक 'कोकनद कमल' के साथ रखकर उत्कृष्ट भावाभिव्यंजना की है । इसी तरह 'पारमिता करुणा' को कवि ने 'पद्मकोश' के प्रतीकार्थ रखा है । यहाँ 'पद्मकोश' पारमिता करुणा के सिंहासन का प्रतीक बन गया है । प्रतीकों के साथ-साथ कवि ने रूप, रंग, गंध, स्पर्श, ध्वनि, क्रिया का विविध आयामों द्वारा बिम्बों की सुंदर सृष्टि की हैं । अज्ञेय की रूचि रंग बिम्बों में अधिक रमी हैं । जैसे- **'ओ सौंध शिखर के स्वर्ण-कलश, रक्ताग्नि स्यात'**[2] में रूप को रंगीन रूप में पेश किया है । साथ ही वे एक से अधिक रंगों के मेल से नए रंग बनाते है- जैसे –

---

[1] डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा – नयी कविता के नाट्यकाव्य , पृ० सं०- 324-325

[2] अज्ञेय – उत्तर प्रियदर्शी , पृ० सं०- 50

"है यह चीवरों का रंग –

मैली धारयित्री धूल, उजली तारयित्री धूप का

यह मिश्रवर्णी रंग ।"[1]

इसी तरह 'उमड़ा आता है चीत्कार असंख्य स्वरों का' में ध्वनि और क्रिया को मूर्त रूप दिया गया है । कही-कही गंध, स्पर्श और क्रिया का गत्यात्मक बिम्ब अंकित किया है । जैसे-

"क्यों एक सुगन्धित शीतल/ दुलराती-सी सांस

तुम्हारे चारों ओर बह रही है/ जीवन कवच सी"[2]

इसमें कोमल और कठोर तत्वों का एक साथ समाहार किया गया है । भिक्षु के चारों ओर बहती हुई सुंगधित, शीतल, दुलराती सी-सांस कोमल होते हुए भी अपने प्रयोजन में जीवंत कवच के समान कठोर है । बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से कवि ने इसकी भाषा को भी कई आयाम दिए हैं । 'मुट्ठी-भर धूल उठाकर', 'घंटियाँ निरंतर गुंजा रही है', 'एक फुरहरी जगा रहे है' आदि में बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया गया हैं । इसके अतिरिक्त 'धरती, अटारियाँ, मिट्टी, धूल, चीवर, आदि तद्भव शब्दों का प्रयोग हुआ हैं । दोहरे तथा समतुकांत सहयोगी शब्दों में – धीरे-धीरे, घर-घर, तोड़-तोड़, खा-खा, तथा सुख-दुःख, सृष्टि-लय, परितोषण-उत्पीडन आदि हैं । संस्कृत गर्भित भाषा के साथ मुहावरों का भी सुंदर प्रयोग किया गया है - 'गगन गूंजना, मिट्टी से खेलना, हाँक लाना, सांस टूटना आदि ।

पात्रों के अनुरूप भाषा बदलती जाती है, प्रियदर्शी अशोक की क्रूरता और उसके अहंकार व्यंजना के लिए उसके अनुरूप अर्थवती भाषा, तत्सम् शब्दावली का प्रयोग

---

[1] वही , पृ० सं०-34

[2] वही , पृ० सं०- 60

किया हैं । भिक्षु के आगमन के साथ उसके स्वभाव अनुरूप कोमलकांत शब्दों को चुना गया हैं । यथास्थान नाटक में कर्ण-कटु काव्य विरोधी शब्दों की भी बहुलता हैं । जो पाठकों और अभिनेताओं के लिए बोलने व समझने में मुश्किल है । जैसे- 'निर्मर्याद प्लवन', 'उल्लम्बबाहु', 'रक्ताग्नि-स्यात', 'अनुल्लन्घ्य', 'महार्ह' आदि । अज्ञेय ने 'हिन्दी के ऐसे कई शब्दों का निर्माण किया है, जो हिन्दी शब्द-कोश में भी नहीं मिलते ।'[1] जैसे – कवि अज्ञेय ने 'पताका' शब्द की जगह 'पताक' शब्द प्रयोग किया है । नाटक में कुछ रंग-निर्देश भी प्राय: रचनाकार स्वयं देता है । अज्ञेय ने चीवरधारी भिक्षु, संवादकों, ऊँचे स्तम्भ-पीठ पर पदम् की व्यवस्था, पार्श्व में मन्दिर-कलश की झलक आदि का स्पष्ट संकेत दिया है । पात्रों की वेशभूषा का उल्लेख भी किया गया है । इस कृति का सफल मंचन 6 मई, 1967 को नयी दिल्ली में त्रिवेणी कला संगम के खुले रंगमंच पर हुआ था । इसमें उस तरह से गीतों की योजना नहीं मिलती, जिससे इसे 'गीति-नाट्य' कहा जाए । साथ ही इसमें गीति सरीखी लय एवं तुक का अभाव सर्वत्र व्याप्त है । इतने पर भी स्वयं रचनाकार ने इसे 'गीति-नाट्य' कहा है । रचनाकार ने इस नाटक में काव्यात्मक एवं नाटकीय स्थितियों का सम्यक निर्वाह नही किया है, लेकिन नाट्य काव्य की सीमाओं को दृष्टिपात करते हुए इसकी कथा नाट्य काव्य परम्परा के अनुरूप है । अर्थात् 'उत्तर प्रियदर्शी' को 'नाट्य-काव्य' काव्य-रूप की कोटि में रखना सार्थक है । अज्ञेय की इस कृति पर समीक्षकों के कोई ज्यादा मतभेद नहीं मिलते । इस नाट्य-काव्य विधा का प्रयोग कर अज्ञेय ने साहित्य जगत में अपनी रचनाशीलता का एक ओर नमूना पेश किया है । जिसे साहित्य विद्वानों के दरकिनार करते हुए भी हिन्दी नाटक इतिहास में स्थान मिला है ।

अज्ञेय ने आरंभ से अपने लेखन में नए प्रयोगों पर बल दिया हैं । परम्परा, काल, सम्प्रेषण, समाज, संवेदना, शब्द, भाषा, छंद, लय आदि को लेकर अपना नया दृष्टिकोण व्यक्त किया है । यह नया दृष्टिकोण उन्होंने यथास्थान अपने वक्तव्यों, भूमिकाओं, कविताओं आदि में ढालकर प्रस्तुत किया हैं । अज्ञेय के ये विचार कही-कही उनके विरोध का भी कारण बने हैं क्योंकि आलोचक जैसे ही उनके एक विचार को उनकी कविताओं में

[1] रामचन्द्र वर्मा – मानक हिन्दी कोश (तीसरा खंड), पृ० सं०- 376

खोजता है, अज्ञेय आगे चलकर उस विचार को ही बदल देते है या नकार देते हैं। यह मानव स्वभाव है, इसमें आलोचक तथा कवि किसी का दोष नहीं है। समय के साथ-साथ व्यक्ति की सोच-समझ विकसित हो जाती है जिससे विचारों में परिवर्तन स्वाभाविक है। लेकिन यह समझते हुए भी कुछ आलोचकों ने अज्ञेय को अतिवादिता के घेरे में रखा है जिसके चलते उन पर कुछ बेमानी आरोप लगाए गए हैं। उनकी कविताओं के मूल्यांकन के बाद ज्ञात होता है कि उनमें एकरसता और बांझपन खोजने वाले समीक्षक अपनी संकुचित दृष्टि का प्रमाण स्वयं दे जाते हैं। वही कुछ ओर समीक्षक संगोष्ठियों को उनके मुद्दे से भटकाने हेतु या सभागणों-विद्वजनों के बीच अपनी उपस्थिति दर्ज कराने की कोशिश में रहते हैं।

अत: 'कवि अज्ञेय' की कविताओं पर लगे आरोपों के पक्ष-विपक्ष तथा उस पर स्वयं कवि की प्रतिक्रिया के साथ-साथ उनकी कविताओं के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि कुछ आरोप पूर्वग्रहों के चलते भी मढ़े गए और खारिज़ भी किए गए। आज के समय में भी अज्ञेय के विचार-कविताएँ अपनी प्रांसगिकता बनाए हुए है क्योंकि वर्तमान पीढ़ी यानी 'व्यक्ति' जिस चक्रजाल या उलझन का शिकार है, उसे कवि अज्ञेय कई साल पहले अपनी कविताओं का केंद्र बना चुके थे। आज कवि अज्ञेय व उनकी कविताएँ नयी दृष्टि व सोच की माँग करती हैं।

तीसरा अध्याय
अज्ञेय के कथा-साहित्य का मूल्यांकन

अज्ञेय के कथा-साहित्य का मूल्यांकन

3.1 अज्ञेय के उपन्यास : पाठ, बहस और मूल्यांकन

3.1.1 शेखर : एक जीवनी

3.1.2 नदी के द्वीप

3.1.3 अपने-अपने अजनबी

3.2 अज्ञेय की कहानियाँ : पाठ, बहस और मूल्यांकन

3.2.1 पाठ, सन्दर्भ और विचार

3.2.2 रचना-शिल्प

अज्ञेय के कथा-साहित्य का मूल्यांकन

3.1 अज्ञेय के उपन्यास : पाठ, बहस और मूल्यांकन

हिन्दी कथा-साहित्य में व्यक्ति के चेतन और अवचेतन मन के अध्ययन की शुरुआत स्पष्टत: जैनेन्द्र के कथा-साहित्य से होती है । इस दौर के उपन्यासकारों ने मनोविज्ञान के अधिकांशत: मूल सिद्धान्तों को कथात्मक रूप में प्रयोग किया हैं । यहाँ कहानी का क्षेत्र वस्तु से अधिक व्यक्ति का है । स्थिति से अधिक गति का है । ये कथाकार विश्व के छोटे से खंड को लेकर ही अपना चित्र गढ़ते हैं, जिसमें अपने सत्य का वर्णन कर ; पाठक को उस सत्य का दर्शन कराने का भी सामर्थ्य रखते हैं । कथा-साहित्य की इस बदलती पृष्ठभूमि को अज्ञेय ने नए दृष्टिकोण के साथ आगे बढ़ाया हैं ।

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासकारों का मूल उदेश्य मनोरंजन था । प्रेमचन्द ने अपने कथा-साहित्य में समसामयिक युग-जीवन की समस्याओं और संवेदनाओं को सामाजिक परिपेक्ष्य में प्रस्तुत किया । 1934-36 के आस-पास कथाकारों की संवेदना में मौलिक अंतर आना शुरू हुआ । प्रेमचन्द के अंतिम दौर के कथा-साहित्य में उनकी सम्वेदना में बदलाव दिखाई देता हैं । 'पूस की रात', 'कफ़न', 'गोदान' तक आते-आते प्रेमचन्द की सम्वेदना और रचना-प्रक्रिया में भारी अंतर आ चुका था । 'इन कृतियों के अंत में विराम-चिन्ह की जगह प्रश्न-चिन्ह लगा हुआ है, इनमें समाधान का संतोष न होकर समस्या का असंतोष है, आधुनिकता की चुनौती का साक्षात्कार हैं ।'[1] प्रेमचन्द ने आधुनिकता की चुनौती को जहाँ सामाजिक धरातल पर स्वीकार किया, वही परवर्ती कथाकारों (जैनेन्द्र, इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय, आदि) ने वैयक्तिक अनुभूति व सम्वेदना के रूप में उसका साक्षात्कार किया । जैनेन्द्र कुमार, इलाचंद्र जोशी के कथा-साहित्य में स्थूल आदर्श के विरुद्ध जिस सूक्ष्म और प्रकृत यथार्थ का विद्रोह मिलता हैं, उसकी चरम परिणति अज्ञेय के कथा-साहित्य में दिखाई देती हैं । इस सन्दर्भ में **डॉ० देवराज** का कहना है कि, "सम्वेदना के सूक्ष्म अंकन में, और कहीं-कहीं, भावनात्मक प्रवेग में (यह

[1] डॉ० इन्द्रनाथ मदान - आज का हिन्दी उपन्यास , पृ० सं०- 9

विशेषता 'शेखर' में अधिक प्रतिफलित हो सकी है) 'अज्ञेय' उक्त दोनों लेखकों (प्रेमचन्द और जैनेन्द्र कुमार) से बाज़ी ले जाते हैं।"[1]

अज्ञेय भारतीय विचारकों के साथ-साथ पाश्चात्य उपन्यासकारों, कवियों, चिंतकों से पूर्णत: वाकिफ़ थे। उनके सृजन में ब्राउनिंग, डी.एच.लारेस, कीर्क गार्द, जेम्स ज्वायस, रोम्याँ रोला, फ्रायड, युंग, एडलर, मार्क्स, सार्त्र आदि के विचारों का प्रभाव स्पष्टत: लक्षित होता हैं। हिन्दी कथा-साहित्य में उनके उपन्यास एवं कहानियों में मुख्य तौर से इनकी विचारधाराओं को आधारस्वरूप इस्तेमाल किया गया है । उपन्यास के इस बदलते आधुनिक स्वरूप पर **अज्ञेय** का कहना है कि, "आधुनिक उपन्यास नया उपन्यास है, लेकिन उसका नयापन न तो विषय-वस्तु का नयापन है, न विधान का, न रूपाकार का, वह मूलतः जीवन के प्रति दृष्टिकोण का नयापन है। यद्यपि वस्तु-शैली, विधान, कथा आदि का नयापन इसमें हो सकता है और होता भी है, तथापि आधुनिकता की कसौटी वह नहीं है कसौटी उसका नया दृष्टिकोण ही है।"[2]

इस नए दृष्टिकोण से अज्ञेय ने तीन उपन्यास लिखे, जिनमें अलग-अलग तीन नई विचारधाराओं को प्रस्तुत किया गया हैं । अज्ञेय का पहला उपन्यास **'शेखर : एक जीवनी'** है, जो क्रांतिकारी जीवन की कथा पर लिखा गया है । अज्ञेय को इसमें बड़ी दिलचस्पी थी कि आतंकवादी का मन कैसे बनता है? आत्मकथात्मक शैली में लिखे गए इस उपन्यास के दो भाग हैं। पहला भाग सन् 1941 में दूसरा भाग 1944 में प्रकाशित हुआ। लेखक ने भूमिका में इसको घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए 'विजन' को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न कहा है। 'शेखर' उपन्यास का केन्द्रीय पात्र है, जिसके जीवन के आरंभिक खंड लेखक ने अपने जीवन से चुने है। शेखर के जीवन की कथा वहाँ से शुरू होती है, जब उसे फांसी लगने वाली है । वह अपने अतीत के क्षणों को दोहराता हुआ कथा बतलाता है। 'शेखर : एक जीवनी' का पहला भाग शेखर के व्यक्तित्व-निर्माण की कथा है। इस भाग को पुन: 4 खंडों में- 'उषा और ईश्वर', 'बीज और अंकुर', 'प्रकृति और पुरुष', 'पुरुष और परिस्थिति' में बांटा गया हैं। पहले खंड में शेखर के शिशु-मानस की

[1] डॉ० देवराज - प्रतिक्रियाएँ , पृ० सं०- 113

[2] अज्ञेय – हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य , पृ० सं०- 79-80

विविध जिज्ञासाएँ प्रकट होती हैं। जैसे - उसका जन्म कैसे परिवार में हुआ? बच्चे कहाँ से आते है? कैसे मरते है? मरकर क्या होता है? ईश्वर है या नहीं? आदि प्रश्नों का यह समाज सही समाधान नहीं करता। उसे हमेशा एक ही उत्तर मिलता - 'तुम बच्चे हो, जाओ खेलो, जाओ पढों, जाओ काम करो।'

दूसरे खंड में शेखर का मन गांधीवाद के ओर झुकने लगता है तथा विदेशी वस्तु-भाषा के प्रति घृणा करने लगता है। शेखर से जुड़ें अन्य प्रमुख पात्रों - सरस्वती, शारदा, शशि, शांति, माँ, पिता, आदि का परिचय मिलता है। जब उसकी माँ को एक बेटी होती है तो शेखर के मन में जन्म सम्बन्धी प्रश्न पुन: जाग उठते है। सरस्वती से अपनी जिज्ञासा का सही निवारण माँगता है किन्तु ठीक उत्तर नहीं जान पाता। इस खंड के अंत तक शेखर के मन में काम-भावना का बीजवपन होने लगता है। तीसरे खंड में सरस्वती उसकी एक मात्र हितेषी-शुभचिंतक बन जाती है। यहाँ शेखर को नारी एवं पुरुष के सम्बन्ध-रहस्य का ज्ञान मिलता है। जिसके परिणामस्वरूप वह शारदा-शांति आदि से प्रेम करने लगता है। शारदा उसकी पड़ोसन की लड़की है। शांति टी.बी की मरीज है। प्रेम की सिरहन महसूस कर शेखर स्वयं को एक सम्पूर्ण मुक्त और पुरुष समझने लगता है।

अंतिम खंड में शेखर घर की चारदीवारी छोड़ समाज के सम्पर्क में आता है। जहाँ कॉलेज? बोडिंग? नए मित्र? आदि नए प्रश्न सामने खड़े होते हैं। कॉलेज में शेखर की मित्रता कुमार से इतनी प्रगाढ़ हो जाती है कि शेखर को लगने लगता है कि उनके बीच इस दुनिया में तीसरा कोई नहीं है। इस तरह शेखर उपन्यास का पहला भाग मद्रास शारदा के देश से विदा लेता है। इस भाग में बाल-मनोविज्ञान को विश्लेषित-निरुपित किया गया है।

उपन्यास का दूसरा भाग भी 4 खंडों में बंटा है। 'पुरुष और परिस्थिति', 'बंधन और जिज्ञासा', 'शशि और शेखर', 'धागे, रस्सियाँ, गुंझर'। इस भाग में शेखर के संघर्षमय जीवन का चित्रण है जो दक्षिण छोड़ उत्तर दिशा में बढ़ता है। श्री नगर की गली-गली छान वह पाता है कि सौन्दर्य निरी कल्पना है। यही उसे शशि का तीन पंक्ति

का पत्र मिलता है कि शशि के पिता की मृत्यु हो गई है। दुःख-सुख से अछूता शेखर शशि के घर पहुँच गहरी संवेदना से भर जाता है। इसी बीच स्वयंसेवक के रूप में वह जेल भी जाता है। जेल में शेखर का परिचय मदन सिंह, मुहम्मद मोहसिन से होता है। बाबा मदन सिंह से शेखर कई जीवन-सूत्र सीखता है। उनके स्वर चित्रों एवं जीवनानुभव से बहुत प्रभावित होता है। जेल में ही शेखर को शशि का पत्र आता है कि मेरी शादी की बात चल रही है। शेखर चाहकर भी कुछ कर नहीं पाता, अंततः शशि की शादी हो जाती है। जेल में ही राम जी नाम का एक अन्य साथी मिलता है। जो गाने गा-गाकर शेखर का मन बहलाता है। जेल से छूटने के बाद शेखर पढ़ाई छोड़ देता है। जीवनचर्या के लिए लेखन-कार्य शुरू करता है लेकिन प्रकाशकों से तंग-निराश होकर आत्महत्या की सोचता है। शशि के घर वह बराबर आता-जाता है। शेखर को निराश देख शशि एक रात उसके घर ठहर जाती है। पति रामेश्वर की शक की दृष्टि उसे घर से लात मार कर बाहर कर देती है। लेखन-कर्म से हताशा शेखर पेंटर का काम शुरू कर शशि की देख-रेख करता है। क्रांतिकारी दल में शामिल हो शेखर शशि की मृत्यु के बाद लाहौर चला जाता है। शशि के जाने बाद शेखर के मन का संघर्ष और अधिक करुण और दारुण हो जाता है।

इस उपन्यास के दो भागों के अतिरिक्त तीसरे भाग की सूचना भी मिलती हैं। किन्तु वह कुछ परिस्थितिवश प्रकाशित नहीं हो सका। इसलिए दोनों भागों में सिमटी यह कथा अपना अलग-अलग अस्तित्व भी रखती हैं।

अज्ञेय का दूसरा उपन्यास **'नदी के द्वीप'** सन् 1951 में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास के कथात्मक गठन में हर पात्र के पास अपने-अपने नाम के अध्याय हैं। इन अध्यायों में पात्रों का अपना अलग-अलग दृष्टिकोण और संसार व्यक्त हुआ हैं। चरित्रसंज्ञक - 'भुवन', चंद्रमाधव', 'गौरा', 'रेखा', 'भुवन', 'चन्द्रमाधव', 'रेखा', 'गौरा' तथा व्यक्तियों के बीच व्यवधान 'अंतराल' के सेतुओं से पूरित है। 'अन्तराल' शीर्षक दो अध्यायों में पत्राचार हैं, जिसमें उनकी परस्परता की निहित निजी मंशाएँ, लक्ष्यहीनताएं, लक्ष्य और उनका संधान-जिसकी जैसी वृत्ति, चयन और निर्णय अनावृत्त होते हैं। उपन्यास का आरम्भ

(भुवन खंड) ट्रेन के दृश्य से होता है। प्लेटफार्म की भीड़, चलती ट्रेन में भुवन का चढ़ना, रेखा द्वारा उसकी कुहनी पकड़कर ठेलना आदि वर्णन लेखक द्वारा प्रत्यक्ष न होकर भुवन के मनोजगत में उभरने वाले भावों के रूप में प्रकट हुए हैं। लखनऊ में चन्द्रमाधव के माध्यम से मिले दो व्यक्ति 'भुवन-रेखा' अपने-अपने विचारों से अपना व्यक्तित्व स्पष्ट करते चलते हैं। वैज्ञानिक भुवन कॉफ़ी हॉउस में बैठे-बैठे ही रेखा से जीवन नदी पर पुल बाँधने की बात कहता है। लेकिन रेखा ऐसी कल्पना भी नहीं कर सकती, क्योंकि वह स्वयं को इस प्रवाह में तैरने वाले छोटे-छोटे द्वीपों की तरह मानती हैं। दूसरा खंड 'चन्द्रमाधव' का है, जहाँ वह पत्रकार होने के रुबाब को सभी पर जताता है। वह यह भी बतलाता है कि कैसे एक पत्रकार समाज में अपने वस्त्रों, खान-पान, पैसा आदि से प्रतिष्ठा पाता है।

तीसरा खंड 'गौरा'- भुवन की शिष्या, मित्र या मित्र से अधिक कुछ चाह रखने वाली स्त्री है। उसके जीवन में भुवन का महत्त्व, स्थान, चुहल आदि सभी पहलू एक-एक कर के खुलते जाते है। यूरोप में युद्ध का आरम्भ हो चुका है, यह इसी खंड में चन्द्रमाधव-गौरा के पत्रों में पता चलता है। 'अंतराल' खंड में सभी पात्र, पत्रों के द्वारा अपने सम्बन्ध बांधें रखते हैं। दिल्ली के कुदसिया बाग के अँधेरे में टहलते रेखा-भुवन एक-दूसरे को टटोलते हुए अपने प्रणय की गाड़ी आगे बढ़ाते हैं। रेखा का स्टेशन पर भुवन की प्रतीक्षा करना, नैनिताल तक छोड़ने आना, कापी में अपनी बातें लिखकर कहना, नैनिताल छोड़ भुवन का साततात की ओर बढ़ना आगामी प्रणय-मिलन की यात्रा है। रेखा के बार-बार प्रत्यक्ष समर्पण पर भी भुवन का जान बूझकर दूरी बनाना उसके प्रणय-समर्पण पर को प्रबल का जरिया है। तुलियन झील पर प्रणय-समर्पण पर भुवन की कृतज्ञता से रेखा 'फुलफिल्ड' है, यह अंत तक गूंजता रहता है। चन्द्रमाधव का रेखा-गौरा को अपने प्रेम का चारा डालना, और दोनों से अस्वीकृति पाना, उसके आत्मविश्वास को तोड़ देता है। जब कुछ उसके हाथ नहीं लगता तो विवाह से भागने वाला चन्द्र मुम्बई में किसी अभिनेत्री से विवाह कर लेता है।

रेखा, भुवन के बच्चे की माँ बनने वाली है । भुवन-रेखा के रिश्ते में पनपी खाई उनकी उलझन है । इस बीच हेमेन्द्र (रेखा का पति) की चिठ्ठी रेखा के बीनकार-सर्जन को नष्ट करने की वजह बनती है । भुवन द्वारा समाज की भयत्ता को देख किया गया विवाह-प्रस्ताव रेखा ठुकरा देती है । तथा कलकत्ता अपनी मौसी के यहाँ चली जाती है । इस घटना के बाद मानसिक पीड़ा से गुजरता हुआ भुवन सेना में जा शामिल होता है । सभी से सम्बन्ध-सूत्र तोड़ एकांत में डूब जाता है । रेखा कलकत्ता में किसी डा० रमेशचन्द्र से विवाह कर लेती है । गौरा भटकते भुवन को अपने स्नेह की राह देती है । अंत में लेखक ने भुवन को युद्ध में सिपाही की भूमिका में पेश किया है । जहाँ वह रेखा के साथ बिताए क्षणों, गीतों की याद में डूबा रहता है । गौरा को पत्र लिखकर उसे अंतिम प्रेम सम्बोधन, प्रतीक्षा के क्षणों की बात कहता है । इस तरह पात्र स्वयं को नदी के द्वीप की भांति अलग-अलग रखकर एक-दूसरे से जुड़ते हुए कहानी गढ़ते हैं ।

अज्ञेय का तीसरा उपन्यास **'अपने-अपने अजनबी'** 1961 में प्रकाशित हुआ । नाम, शैली, समस्या, संघर्ष, पात्र-परिवेश आदि सभी दृष्टियों से यह पहले दोनों उपन्यासों से अलग हैं । यह उपन्यास पहले 'नाटक' विधा में लिखा गया था जिसकी स्वीकृति स्वयं लेखक ने दी है । उपन्यास में दो ही प्रमुख पात्र है- सेल्मा और योके । इस उपन्यास की कथा तीन खंडों में बंटी है- 'योके और सेल्मा', 'सेल्मा', 'योके' । पहले खंड में योके और सेल्मा की विभिन्न दृष्टियों का परिचय मिलता हैं । बर्फ से ढके हुए एक काठ के घर में सेल्मा और योके दब जाती है । सेल्मा के लिए यह कोई नई बात नहीं है लेकिन सैलानी योके के लिए यह मुसीबत जैसा है । योके जीवन जीना चाहती है, वह निरंतर मृत्यु के भय से पीड़ित दिखाई देती है । दूसरी ओर बूढी सेल्मा केंसर पीड़ित है । वह मृत्यु की प्रतीक्षा में जीवन-सत्य को बतलाती है । 'दूसरे खंड' में नदी के पुल पर बसे एक बाज़ार का चित्र है, जो बाढ़ की चपेट में आकर आधा टूट चुका है । सारी दुकानें, रेहेड़ियाँ, नावें बाढ़ के बहाव में बह गई है । नदी के पानी में जानवर व जानवरों की लाशें दुर्गन्धयुक्त ज़हर बन गई है । सभी पात्र मानसिक पीड़ा एवं मृत्यु भय से आंतकित है । दृश्य के अंत में सेल्मा की मृत्यु दिखाई है । तीसरे खंड में 'योके' की जीवन-दृष्टि की दुखद परिणति प्रस्तुत की है । जर्मन सैनिकों ने शहर पर अपना अधिकार जमा लिया हैं ।

जहाँ योके वेश्यावृत्ति की शिकार होती है, यह संकेतों द्वारा बताया गया हैं। तथा अंत में एक आरोप आदमी जगन्नाथम को वरण कर आत्महत्या कर लेती है। योके के प्रेमी पॉल की भूमिका सांकेतिक दर्शायी गयी है।

इस प्रकार अज्ञेय के ये तीनों उपन्यास अलग-अलग शैली-विचारधारा, दृष्टिकोण को पेश करते है। इसके अलावा अज्ञेय ने दो ओर उपन्यास लिखे है – छाया मेखल और बीनू भगत। ये अज्ञेय के अधूरे उपन्यास हैं। शेखर : एक जीवनी – मनोवैज्ञानिक-मनोविश्लेषणवादी दृष्टि, नदी के द्वीप - प्रेम-विवाह-सहजीवन, निर्णय की स्वतन्त्रता को लेकर, अपने-अपने अजनबी- अस्तित्ववाद से प्रभावित है। इन उपन्यासों पर आलोचना जगत में कई विवाद हुए। किसी ने शैली पर प्रश्नचिन्ह लगाया ; किसी ने वस्तु पर। किसी को पाश्चात्य उपन्यासों की नकल-अनुवाद लगे ; तो किसी को मात्र लेखक की निजी जीवन की व्यथा-कथा।

3.1.1 शेखर : एक जीवनी

- **मनोविज्ञान के सिद्धांतों की नकल व अनुवाद**

अज्ञेय का पहला उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' पर आलोचकों का प्रमुख आरोप यह लगाया गया कि यह **फ्रायडीय पद्धति एवं मनोविज्ञान** के सिद्धांतो से प्रभावित हैं। जिस समय यह उपन्यास हिन्दी साहित्य में आया तब आलोचक-पाठक वाकिफ़ नहीं थे। कई आलोचकों ने तो इस तरह के उपन्यासों को उपन्यास मानने से ही इंकार कर दिया। इन्हें मात्र मनोविज्ञान के सिद्धांतों की नकल व अनुवाद घोषित कर दिया। ऐसे उपन्यासों के लक्षण को परिभाषित करते हुए **डॉ० देवराज उपाध्याय** कहते है कि, "मनोविज्ञान का अर्थ, जहाँ तक उपन्यास-कला का प्रश्न है, अनुभूति का विषयीगत तथा आत्मनिष्ठ रूप (Subjective aspect of experience) है। यदि किसी उपन्यास में घटना या अनुभूति के आत्मनिष्ठ रूप की अभिव्यक्ति पाएगें तो हम उसे मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहेंगे।...पात्रों के भावों के उत्थान-पतन को तथा मानसिक प्रक्रिया को विस्तृत

रूप से पाठकों के सामने रखना, यही उपन्यास में मनोवैज्ञानिकता कहलाती है ।"[1] अज्ञेय के उपन्यास मनोवैज्ञानिक संचेतना से जुड़े है इस विषय में आलोचकों की क्या राय हैं? यह जान लेना भी अतिआवश्यक हैं । **नंददुलारे वाजपेयी** ने 'शेखर : एक जीवनी' का विश्लेषण करते हुए इस पर कई आरोप लगाए हैं , तथा मुख्य रूप से निंदा इस बात को लेकर की कि, "इसमें एक ही पात्र का चरित्र चित्रित है और वह भी नितांत एकरस है । ...लेखक मनोविज्ञान का पंडित है,..किन्तु शेखर के प्रति उसकी वैयक्तिक निष्ठा, कला-निर्माण और चरित्र निर्माण दोनों ही कार्यों में बाधक सिद्ध हुई । ...शेखर मनोवैज्ञानिक प्रयोगों का पुतला है, जीवन के अनुभव और आस्थाएँ वहाँ स्थान ही नहीं पाती ।"[2]

इसी तरह प्रगतिवादी आलोचक **शिवदान सिंह चौहान** और **रामविलास शर्मा** ने भी इस उपन्यास को मनोविश्लेषणवाद की उपज माना हैं । अज्ञेय ने फ्रायड के सिद्धांतों को ही अपने पात्रों के साँचे में ढाला हैं । **शिवदान सिंह** तो यहाँ तक कह जाते है कि, 'इन सिद्धांतों को जिन्हें अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए चुना गया है, उसमें नैतिक मूल्यों को तिजांजलि देकर अवसरवादी बनाया गया हैं ।'[3]

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य में मनोविज्ञान का अध्ययन-मनन करने वाले **डा० देवराज उपाध्याय** का मानना है कि, 'अज्ञेय का शेखर हिन्दी का प्रथम उपन्यास है, जिसमें शिशु मानस को (फ्रायड के शब्दों में – Pleasure principle) आनंद-प्रधान जीवन की झांकियों को, उसके कौतूहल और जिज्ञासाओं को तथा उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर समाज तथा माता-पिता के व्यवहार व Reality principle के सम्पर्क से उत्पन्न दमन को, मानसिक ग्रंथियों को तथा उनके जीवन व्यापी प्रभाव को कथा-क्षेत्र में लाने का प्रयत्न किया है ।'[4]

---

[1] डॉ० देवराज उपाध्याय - आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान, पृ० सं०- 14

[2] नंददुलारे वाजपेयी - आधुनिक साहित्य, पृ० सं०- 219-224

[3] शिवदान सिंह चौहान- साहित्यानुशीलन, पृ० सं०- 40

[4] डा० देवराज उपाध्याय – आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान, पृ० सं०- 162

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों पर विशेषकर अज्ञेय के इस उपन्यास का विश्लेषण करते हुए एक ओर समीक्षक **डा० धनराज मानधाने** का मत है कि, 'पात्रों के मानसिक संघर्ष, उनके मुख, इंगितों, शारीरिक मुकदमों तथा अनुभवों का चित्रण अज्ञेय के शेखर : एक जीवनी में देख सकते हैं। इस मत की पुष्टि हेतु उदाहरण भी पेश करते है कि शशि को जब ऐसा लगता है कि अब वह अधिक दिन तक जीवित नहीं रह सकती, तो वह शेखर को अपने पास बुलाती है - (शशि ने अपनी ठोढ़ी उठाई, उसकी आँखे, अर्ध-निमीलित थी और होंठ अधखुले, वह निश्चय मुद्रा बोलती नहीं थी...) जहाँ शेखर इसका आशय होंठ चूमना समझ बिना झिझके चूम लेता है । इस तरह के बहिरंग चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में उतने अधिक नहीं मिलते, जितने शेखर : एक जीवनी में इसके कई उदाहरण मिल जाते हैं।'[1]

फ्रायड ने पारिवारिक रोमांस के जो सिद्धांत दिए है - पिता का पुत्री के प्रति, भाई का बहन के प्रति, माता का पुत्र के प्रति, यौन-प्रणय व्यापार को देख लेने की उत्सुकता और उसे देख लेने में सफल होना आदि मानसिक प्रतिक्रिया का सुंदर और कलात्मक वर्णन शेखर : एक जीवनी उपन्यास से अधिक कही नहीं मिलता। डॉ० नगेन्द्र, जगदीश पाण्डेय, सत्यपाल चुघ, ओमप्रभाकर आदि समीक्षकों ने भी इसी सुर में सुर मिलाते हुए एकमत दिया है कि अज्ञेय ने हिन्दी कथा-साहित्य में फ्रायड, एडलर और युंग के मनोविज्ञान का सम्मिश्रित प्रभाव को कुछ व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया हैं।'[2] शेखर : एक जीवनी इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

इस तरह शेखर : एक जीवनी पर फ्रायड के मनोविश्लेषणवादी सिद्धांत का प्रभाव है, इस पर अधिकांशत: आलोचकों की राय एक ही है। फर्क यदि कही है तो उनके विश्लेषण तथा टिप्पणी करने के अंदाज में। कोई समीक्षक इस प्रभाव को सहजता से स्वीकारता है तो कई मुँह-नाक सिकोड़कर आरोपित करते हैं। बहरहाल इस विषय में स्वयं लेखक अज्ञेय की क्या राय है यह जान लेना भी जरुरी है। आधुनिक उपन्यास साहित्य में मनोवैज्ञानिक तथा मनोविश्लेषणात्मक प्रभाव को स्वीकारते हुए **अज्ञेय** कहते

---

[1] डा० धनराज मानधाने - हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास, पृ० सं०- 332-333

[2] डॉ० नगेन्द्र - विचार और विश्लेषण, पृ० सं०- 63

है कि, "नये वैज्ञानिक अनुसंधान और ज्ञान ने उपन्यासकार की दृष्टि बदल दी । उसका लिखना ही बदल गया क्योंकि उसकी दृष्टि बदल गयी । उसके बाद एक ओर बहुत बड़ा परिवर्तन फ्रायड के साथ आया । उसकी मनोविश्लेषण-पद्धति ने व्यक्ति-मानस और व्यक्ति-चेतना की गहनताओं पर नया और तीखा प्रकाश डाला । इससे उपन्यासकार को व्यक्ति मानस को समझने में बड़ी सहायता मिली, बल्कि एक नयी दृष्टि और पैठ मिली, जिसके सहारे वह विशेष व्यक्ति के मन के भीतर होने वाले संघर्ष को पहचान सका । चेतना-प्रवाह (स्ट्रीम ऑफ कांशसनेस) अथवा स्वगत-भाषण (इन्टर्नल मोनोलाग) के उपन्यास इस दृष्टि के परिणाम हैं और आधुनिक उपन्यास में मानसिक संघर्ष का विश्लेषण विशिष्ट महत्व रखता है ।"[1]

मनोविश्लेषणवाद के कारण 'नए मूल्यों की खोज ने अनेक दिशाएँ ग्रहण की है ।' अज्ञेय के अनुसार उनमें से कुछ इस प्रकार है -

1. सहज बोध बनाम बुद्धि-मन के विरूद्ध 'रक्त' का सहारा ।
2. काम-सम्बन्धों के क्षेत्र में - 'सेक्स' की नयी परिभाषा, जो उसे न निरा शरीर-सम्बन्धी मानती है, न केवल सामाजिक बंधन या व्रत बल्कि एक 'गतिशील सम्पृक्त भाव' ।[2]

लेखक ने अपने इस उपन्यास में इन मूल्यों को नए प्रयोगों के साथ पेश किया हैं । उपन्यास के भाग-1 में कथा नायक शेखर के शैशव तथा उसकी किशोरावस्था का मनोविश्लेषणात्मक चित्रण किया है । दूसरे भाग में वयस्क शेखर के मानसिक संघर्ष व द्वंद्व को चित्रित किया गया है । फ्रायड के सिद्धांतानुसार बचपन के निर्मित संस्कार और भाव-प्रौढ़ावस्था में उसके जीवन का संचालन करते हैं । उपन्यास में अज्ञेय ने इस सिद्धांत को प्रमुखता दी है । साथ ही शिशु-मानस की महत्ता को कई तरह से प्रस्तुत भी किया है

[1] अज्ञेय – हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० सं०- 82-83

[2] अज्ञेय – हिन्दी साहित्य :एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० सं०- 78-79

।[1] बालक शेखर की आयु जैसे-जैसे बढ़ती है, उसकी बाल-सुलभ जिज्ञासाएँ भी बढ़ती जाती हैं । शेखर के इन प्रश्नों-समस्याओं-जिज्ञासाओं का समाधान न उसे उसके परिवार से मिलता है न इस बंधनयुक्त समाज से । जिसके चलते शेखर का मानसिक व्यक्तित्व अनेक ग्रन्थियों से जकड़ जाता है ।

फ्रायड ने मानव-मन के तीन भाग किए है –

1. चेतन (conscious)
2. उपचेतन या अवचेतन (pre-sub conscious)
3. अचेतन (unconscious mind) ।

इसमें अवचेतन की अवस्था व्यक्ति के दमित भावों का संग्रह-कोष हैं । जिन्हें व्यक्ति इस नियम बंध-नैतिकता से घिरे समाज के सामने न खुलकर बोल सकता है, न पूछ सकता है । इसके अलावा फ्रायड ने 'लिबिडो' (libido) व 'काम-भावना को मानव-प्रकृति का मूल प्रेरणा-स्रोत माना है । मनुष्य की प्रवृत्तियाँ अधिकांशत: इसी 'काम-भावना' की विकृत व परिष्कृत क्रिया-प्रतिक्रियाओं की प्रतिरूप मात्र होती हैं । शेखर की जिज्ञासाएँ, प्रश्न आदि यौन-भावनाएँ जब सटीक समाधान नहीं पाती, तब अवचेतन मन में जाकर दबती नहीं है, अपितु निरंतर अपनी जिज्ञासा पूर्ति के लिए प्रयासरत रहती है ।

आलोचकों ने फ्रायड के 'आडिपस काम्पलेक्स' (पुत्र का माँ के प्रति आकर्षण) तथा 'इलेक्ट्रा काम्पलेक्स' (पुत्री का पिता के प्रति) सिद्धांत का प्रभाव भी लक्षित किया हैं । जबकि अज्ञेय ने इस सिद्धांत को विपरीत ढंग से प्रस्तुत किया हैं । शेखर के मन में अपनी माँ के प्रति घृणा का भाव अत्यंत सघन है । इसका कारण है कि उसे अपनी माँ से अपेक्षित स्नेह न मिलकर बार-बार डाँट-फटकार और अविश्वास ही मिला है । जिसके चलते वह माँ के प्रति विमुख और विद्रोही हो जाता है । 'पिता आवेश में आततायी और माँ आवेश की कमी के कारण निर्दयी है । पिता की क्रोध-वर्षा के बावजूद वह सखा-भाव

---

[1] अज्ञेय – शेखर:एक जीवनी, पृ० सं०-48-49, (उपन्यास का अंश – "शिशु शायद जिस समय एक आकारहीन मांसपिण्ड भर होता है, तभी से वह एक अमिट छाप ग्रहण करने लगता है, जो उसको उत्पन्न करने वाली तात्कालिक शक्तियों की ही नहीं होती, वरन उससे पहले हुई असंख्य घटनाओं और बाद में होने वाले असंख्य परिवर्तन की भी होती है....यह छाप पड़ जाती है और पड़ी रहती है, व्यक्त नहीं होती.....।")

का अनुबोधन करता है । किन्तु माँ जब कुछ नहीं कहती थी तब उसे लगता था कि वह मीठी आँच पर पकाया जा रहा है ।'[1] माता-पिता दोनों से पिटने के बावजूद भी वह पिता को पूजता है जबकि माँ के प्रति विद्रोह भाव व्यक्त करता है । फ्रायड के इस सिद्धांत को अज्ञेय अपने ढंग से पेश करते हुए इसका कारण बतलाते है कि -

"माँ की ओर आकर्षित पुत्र और पिता की ओर आकर्षित कन्या साधारणता की ओर, सामान्यता की ओर जाते है, ओर पिता की ओर आकृष्ट पुत्र, माता की ओर आकृष्ट कन्या, असाधारण होते है। .....दूसरी में मिलेगें प्रतिभावान लेखक और कवि, देश और संसार को बदल देने वाले सुधारक, क्रांतिकारी, डाकू, जुआरी, पतित-से पतित मानवता से प्रेत.... । शेखर साधारण नहीं था । और वह अपने पिता का उपासक था ।"[2]

इस तथ्य से लेखक ने फ्रायड के सिद्धांत से अलग अपने दृष्टिकोण को इस्तेमाल कर अपने पात्र को असाधारण बनाया है । अज्ञेय पर यह प्रभाव कहीं भी आरोपित, ओढे हुए या अतिरिक्त जोड़ की तरह नहीं लगते बल्कि, ये सिद्धांत अज्ञेय ने अपने अनुसार तोड़-मरोड़ कर हिन्दी साहित्य जगत् में पेश किए हैं ।

- **पात्र शेखर : बहस और प्रतिक्रिया**

इस असाधारण व्यक्तित्व के निर्माण हेतु कई भावों का समावेश किया गया, जिनमें प्रेम, स्वप्न, वासना, सेक्स, कल्पना, स्मृति, घृणा, अहं, स्वतंत्रय-चेतना, भय आदि प्रमुख हैं । इन विभिन्न भावों से निर्मित **पात्र शेखर के असाधारण व्यक्तित्व** पर आलोचकों ने कई प्रश्नचिन्ह भी लगाए । जहाँ कोई आलोचक शेखर की विद्रोह-शक्ति को खोखला कहता है तो कोई अहं से भरी । किसी को उसमें प्रेम-वासना की भूख दिखाई देती है तो किसी को पौरुषहीनता की ग्रन्थि व भोग में असमर्थ व्यक्तित्व । इस तरह से समीक्षकों के कई आरोप-प्रत्यारोप मिलते है जिनमें कुछ इस प्रकार है - शेखर के व्यक्तित्व पर टिप्पणी करते हुए **डा० रामविलास शर्मा** का मत है कि, "शेखर एक ऐसा

---

[1] अज्ञेय- शेखर: एक जीवनी, भाग-1, पृ० सं०-121

[2] अज्ञेय- शेखर: एक जीवनी, भाग-1, पृ० सं०- 123-124

मानवद्रोही है, जिस पर किसी का विश्वास नहीं टिक सकता । शेखर पश्चिम की पूंजीवादी संस्कृति से प्रभावित हिन्दुस्तान के उन निक्कमें लोगों में से है जो एक तरफ तो विद्रोह की लम्बी-चौड़ी बातें करके हीन भावना संतुष्ट करते है, दूसरी तरफ आत्मपीड़ा के अभिनय से अपने अस्तित्व को सार्थक कर नारी से करुणा की भीख माँगते हैं । उनका विद्रोह और आत्मपीड़ा-दोनों ही उनके निक्कमें व्यक्तित्व के दो पहलू हैं ।"[1]

इसी तरह **शिवदान सिंह चौहान** शेखर को 'व्यक्तिवादी' और अहंवादी' के कटघरे में खड़ा करते हैं ।[2] इसी आरोप को आगे बढ़ाते हुए एक समीक्षक **श्री माहेश्वर** 'आलोचना' पत्रिका में यह टिप्पणी की है कि, "...शेखर पाखंडी और प्रवंचक ही नहीं, हद दर्जे का अहंमन्य और दाम्भिक भी हैं । वह एक बहुत ही छिछली उच्च मध्यवर्गीय श्रेष्ठता की भावना और आत्मरति से भी पीड़ित है । उसका अहंकार और आत्म-श्लाघा ही एक दूसरा पक्ष है,जहाँ वह सब कुछ से घृणा करने वाला निहिलिस्ट हो जाता है ।...चरम व्यक्तिवाद और विमूढ़ता के सामंजस्य से शेखर के मानसिक जगत का निर्माण हुआ है ।..कितना पाखंडी और मक्कार है....शेखर कितना मानवद्रोही और फासिस्ट । कितने दूषित है इस पलायनवादी, आत्मपूजक नासिर्सिस्ट के विचार, जिसे जीवन जगत आमूल दूषित लगते है । कुछ यही है शेखर का विप्लवी चरित्र ।"[3]

शेखर में कमजोरियाँ तलाशने वाले समीक्षक यहाँ तक कहते है कि, 'शेखर के द्वारा 'आधुनिक अहं' (Modern Ego) का प्रथम साक्ष्य हिन्दी उपन्यास साहित्य में शेखर : एक जीवनी में मिलता है ।'[4]

---

[1] श्री लाल शुक्ल – अज्ञेय कुछ रंग, कुछ राग, पृ० सं०- 50

[2] शिवदान सिंह चौहान – साहित्यानुशीलन, पृ० सं०- 261

[3] आलोचना (पत्रिका) जनवरी मार्च 73, नवांक-24 , पृ० सं०- 84

[4] संपा० परमानन्द श्री वास्तव –शेखर : एक जीवनी का महत्त्व, (लेख- शेखर : एक आधुनिकता का प्रतिभू-भोलाभाई पटेल), पृ० सं०- 90 (भोलाभाई पटेल का मत है कि – " शेखर स्वयं अपना चौकीदार है । वह आत्मान्वेशी है। प्रतिपद पर वह अपनी मूर्ति उकेरता रहता है। शेखर में कमजोरियाँ भी है लेकिन वह अपनी कमजोरियाँ पहचानता है। वह जैसा कि अज्ञेय ने कहा है है कि 'जागरूक आत्मा' है। वास्तव में शेखर के द्वारा 'आधुनिक अहं' का प्रथम साक्ष्य हिन्दी उपन्यास साहित्य में शेखर : एक जीवनी में मिलता है।")

भीष्म साहनी संपादित पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास' में शेखर एक जीवनी पर चर्चा करते हुए **तारकनाथ बाली** मानते है कि, 'यह कृति एक उलझी हुई अहंवादी संवेदन की अर्थहीन फैंटेसी बन गई है । यह मूलतः रोमानी कृति है । शेखर प्रेम करता है, असंख्य नारियों से प्रेम करता है । मगर वह भोग में असमर्थ है । यही असमर्थता, पौरुषहीनता की ग्रन्थि उसके उच्छृंखल प्रणय और क्रान्ति को जोड़ती है । दम्भ शेखर के चरित्र की प्रधान विशेषता है ।'[1]

'शेखर : एक जीवनी' को रोमंटिक उपन्यास तथा 'शेखर' को रोमांटिक विद्रोही भी कहा गया । इसी सन्दर्भ में **विजयमोहन सिंह** का मानना है कि, "शेखर यदि सही अर्थों में क्रांतिकारी होता तो उसके लेखक का विकास अमूर्त समस्याओं की दिशा में नहीं होता । नियतिवादी 'रोमांटिक' विद्रोही ही रहस्यमयता, अलौकिकता, आध्यात्मिकता और इन सबके माध्यम से अमूर्तता की ओर मुड़ता है.... ।"[2]

इसके विपरीत **डा० बच्चन सिंह** का मानना है कि, "शेखर रोमांटिक विद्रोही नहीं, निहिलिस्ट विद्रोही है ।....वह ऐसा निहिलिस्ट नहीं जिसमें नाश और निर्माण का अन्तर्द्वन्द्व मिलता है, ऐसा निहिलिस्ट है जिसमें नाश का आग्नेय उत्साह है ।"[3] साथ ही एक जगह वे कहते है कि, 'वह कहना क्या चाहता है, इसका पता नहीं । वह केवल बिगाड़ना जानता है । ध्वंस करना जानता है क्योंकि संघर्ष से उसे प्रेम है । शेखर की बुर्जुआ संस्कृति की समस्त बौद्धिक उपलब्धियां मिली हैं किन्तु डी० एच० लारेंस की भांति वह इन्हीं बौद्धिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों को उन्हीं के विघटन का उपकरण बनाता हैं ।'[4]

---

[1] संपा० भीष्म साहनी – आधुनिक हिन्दी उपन्यास, पृ० सं०- 67

[2] संपा० गंगाप्रसाद विमल –अज्ञेय का रचना संसार, 1967 , पृ० सं०- 111

[3] संपा० परमानन्द श्री वास्तव –शेखर : एक जीवनी का महत्त्व, पृ० सं०- 10-11

[4] आलोचना अंक 13, उपन्यास विशेषांक, (मध्यवर्गीय वस्तु तत्व का विकास – बच्चन सिंह), पृ० सं०- 130

इन दोनों आलोचकों के मतों से एक कदम आगे बढ़कर **डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी** ने इस उपन्यास व उसमें व्याप्त शेखर के विद्रोह को रोमांटिक मानते हुए भी इसे राग के अतिरेक से अलग व आगे बढ़ने का उपक्रम कहा है ।'[1]

हिन्दी साहित्य-कोश (भाग-2) में **कुँवर नारायण** ने शेखर : एक जीवनी का विश्लेषण करते हुए शेखर पर टिप्पणी की है कि, "एक असाधारण व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज़ है, यद्यपि इसे व्यक्ति के युग-संघर्ष का प्रतिबिम्ब भी बनाने की चेष्टा की गई है । इस उपन्यास के अन्य चरित्र भी शेखर की स्मृति में घटनाओं की तरह घटित होते है, जीवित नहीं हो पाते । वह अपनी सारी सम्वेदनशीलता से अपने को देखता है, अपने से बाहर नहीं- मानो सारा बाह्य जगत केवल उसकी अपेक्षा है, उसके बावजूद नहीं ।"[2]

शेखर के व्यक्तित्व पर उठने वाले इन सवालों के खिलाफ भी कुछ समीक्षकों ने अपनी राय दी हैं । शेखर के 'अहं' और 'असामाजिक' होने के आरोप को खारिज़ करते हुए **डा० चन्द्रकांत वांदिवडेकर** का मत है कि, "जेल में विद्याभूषण से विचार-ग्रहण करने में शेखर का 'अहं' बाधक नहीं बना, मदन सिंह के सामने झुकने में शेखर ने शर्म महसूस नहीं की, मोहसिन के फक्कड़पन ने उसके अहं पर चोट की और उसके अनोखे व्यक्तित्व के सामने शेखर श्रृद्धा से झुक गया - जहाँ उसे महानता दिखाई दी, वहां वह झुका, जहाँ ऊँचाई दिखी, वहाँ नत हुआ । उसका अहं भी विवेक से अनुशासित है, संकल्प शक्ति उसमें असाधारण है ।"[3]

इसी तरह शेखर की व्यक्तिवादिता को अलग रख उसमें सामाजिकता के मूल्य खोजते हुए समीक्षक **विश्वम्भर मानव** का कहना है कि, "शेखर व्यक्ति से परिवार, परिवार से

---

[1] श्री लाल शुक्ल- अज्ञेय कुछ रंग, कुछ राग, पृ० सं०- 40-41 (रामस्वरूप चतुर्वेदी का कथन- "रोमांटिक भावधारा से विद्रोह की वृत्ति प्राय: सर्वत्र जुड़ी मिलती है। अज्ञेय के कृतित्व में विशेषत: रचनाकाल के पूर्वाद्ध में रोमांटिक वृत्तियों की ही अधिकतर अभिव्यक्ति हुई है। पर लेखक की तुष्टि इतने से नहीं होती, और वह आगे बढ़ने का उपक्रम करता है। इस प्रकार शेखर का विद्रोह यों सामान्यत: रोमांटिक प्रकार का ही है पर उसमे राग के अतिरेक से अलग होने की चेष्टा भी दिखाई देती है।")

[2] कुँवर नारायण – हिन्दी साहित्य कोश भाग-2, पृ० सं०- 568

[3] डा० चन्द्रकांत वांदिवडेकर – हिन्दी और मराठी के सामाजिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० सं०- 419

समाज, समाज से देश की ओर बढ़ा है और अपने चिंतन में तो वह सबसे बढ़कर देश कालातीत हो गया है ।"[1]

इसी पक्ष में एक ओर समीक्षक **श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय** का मत उल्लेखनीय है, "इस चरित्र-प्रधान उपन्यास में शेखर के अनुभवों के जो वृत्तांत आए है वे वैयक्तिक होते हुए भी नितांत व्यक्तिगत नहीं है और उनकी सामाजिकता में कोई संदेह नहीं प्रकट किया जा सकता ।"[2]

इन आरोपों-प्रत्यारोपों के रहते एक ओर आरोप लगाया गया कि शेखर एक अराजक पात्र है, जो एक पूर्ण स्वच्छंद जीवन जीना चाहता है । किसी भी तरह के अनुशासन का विरोध करता है । वास्तव में यह आरोप आलोचकों ने शेखर पर ही नहीं लेखक पर भी लगाया हैं । इस तरह शेखर के व्यक्तित्व पर लगने वाले इन आरोपों पर अज्ञेय ने भी यथास्थान प्रतिक्रिया दी है । उपन्यास की भूमिका तथा अपने निबन्ध-लेखों में अज्ञेय शेखर के व्यक्तित्व को लेकर कई सिफारिशें करते हैं । उपन्यास की भूमिका में ही **अज्ञेय** लिखते है कि, "शेखर कोई बड़ा आदमी नहीं है, वह अच्छा भी आदमी नहीं है । लेकिन वह मानवता के संचित अनुभव के प्रकाश में ईमानदारी से अपने को पहचानने की कोशिश कर रहा है ।.....लेकिन जागरूक और स्वतंत्र और ईमानदार हाँ घोर ईमानदार ।"[3]

यह जागरूक, स्वतंत्र, घोर ईमानदार शेखर बंधन स्वीकार नहीं करता । बचपन में ही स्कूल के बंधन-शिक्षा- कान्वेंट स्कूल की सिस्टर की उपेक्षा उसके शुरूआती विद्रोह के लक्षण हैं । शेखर को कोई मास्टर पढ़ा नहीं पाता । कोई उससे सिर लड़ा कर भागता है कोई अपमानित होकर, तो कोई बेवकूफ बनकर । शेखर के आस-पास के बंधन ही उसे प्रकृति-प्रेमी बना देते हैं । जहाँ वह ऐसे संसार की कल्पना करता है जिसमें कोई रोक-टोक नहीं है । जहाँ सोचने-खेलने, प्रेम करने सभी की अबाध स्वतन्त्रता है । जहाँ बस एक मात्र नियम है कि 'वही हो ओ जो कि तुम हो ।' जबकि सच्चाई इसके विपरीत है तो

---

[1] आलोचना (पत्रिका) अंक-13, उपन्यास विशेषांक, पृ० सं०- 99

[2] लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय – हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ, पृ० सं०- 45

[3] अज्ञेय –शेखर : एक जीवनी भाग-1, भूमिका से, पृ० सं०- 12

इस सामाजिक स्थितियों-परिस्थितियों के रहते ही वह विद्रोही बनता है । यही विद्रोह ही उसमें 'अहं' का निर्माण करता है । लेकिन यह 'अहं' अपने को सुरक्षित रखने अर्थात् अपने अस्तित्व को स्वतंत्र व अडिग रखने के लिए निर्मित होता है । उपन्यास में ऐसे कई प्रसंग मिलते हैं, जहाँ शेखर का अहं अपने चरम पर दिखाई देता हैं । एक जगह जब उसकी माँ कलम के लिए शेखर को पीटती है और पिटता हुआ शेखर कहता है -

"नहीं दूँगा, कह दिया नहीं दूँगा, चाहे जान से मार डालो ।"[1]

इसी तरह लेटरबाक्स के ऊपर खड़े होने का प्रसंग, सरस्वती से मूर्ति पूजक चाहिए वाला प्रसंग, कालेज सहपाठी कुमार के साथ समलिंगी सम्बन्ध -इस सम्बन्ध में शेखर का प्रेम ही अहं रूप में सामने आता है ।

वह कहता है, **"....कुमार , यदि मेरे अतिरिक्त तुम और किसी के हुए, तो मैं तुम्हारा गला घोंट दूँगा ।"[2]**

उपन्यास में कई स्त्रियों के प्रेम-आकर्षण, यौन-भाव में भी उसका अहं ही आगे रहता है । इसलिए वह केवल आदान चाहता है प्रदान नही । लेकिन वास्तविकता इसके विपरीत है । वह मूर्तिपूजक चाहता है लेकिन वह स्वयं मूर्तिपूजक बनकर अपने जीवन में आने वाली सभी स्त्रियों को निहारता-पूजता है । वह प्रेम में लेना ही नही देना भी जानता है । शेखर के जीवन में जितनी भी स्त्रियाँ आती हैं, उनमें से उसका मन अपनी मौसरी बहन शशि के प्रति ही आसक्त होता है । क्योंकि शेखर को जिस मूर्तिपूजक की खोज है वह एक मात्र शशि ही बन पाती हैं । शेखर में मात्र वासना व सेक्स की भूख खोजने वाले शायद कुछ अंशों को देख नहीं पाते । उपन्यास में उन अंशों पर यदि ध्यान दिया जाए जहाँ शेखर किसी स्त्री से आकर्षित होता है या किसी स्त्री से अपना प्रेम व्यक्त करता है, तो कही भी कोई स्त्री ऐसी नहीं मिलती जिससे शेखर को शारीरिक होने के लिए कोई संघर्ष करना पड़े । फिर भी शेखर की दृष्टि उसके सुंदर कोमल अंगों की बनावट तक आकर ही थम जाती हैं उससे आगे कही कोई सीमा नहीं लांघती । प्रेम के

---

[1] अज्ञेय – शेखर : एक जीवनी, भाग-1, पृ० सं०- 127

[2] अज्ञेय - शेखर : एक जीवनी, भाग- 1 पृ० सं०-197

एक पड़ाव वासनात्मक भी होता है जो मानव शरीर की एक जरूरत मात्र हैं । शेखर के प्रेम में मात्र वासना-सेक्स की लपटें नहीं है, उसमें त्याग और मौन का भी अनूठा मिश्रण हैं । उसके भीतर भी कही किसी कोने में समाज का डर भी बसता है जो उसे विद्रोही होते हुए भी यह सीमा लांघने से रोकता है । अपनी इन भावनाओं की क्षति-पूर्ति वह दिवास्वप्नों में ही करता हैं । फ्रायड ने प्रेम में दबी इस वासना को 'इन्सेस्ट बैरियर'[1] कहा हैं । स्वयं लेखक ने इसे स्वीकार किया है लेकिन शेखर की वासनाएं उस तरह से भी दबी हुई नहीं दिखाई देती जैसाकि फ्रायड अपने सिद्धांतों में प्रस्तुत करते हैं ।

'इन्सेस्ट बैरियर' में वासना का शमन ऊपर से दिखाई देता है किन्तु वह कही बहुत नीचे अचेतन में जाकर दब जाती हैं । चेतन जगत में व्यक्ति रिश्ते-नाते, समाज के नियमों से बंधा रहता है, लेकिन अचेतन में उसके भाव टकराते हैं । सरस्वती (बड़ी बहन) के साथ शेखर को ऐसी भावनाओं की अनुभूति होती हैं जिसे पाने के लिए वह स्वप्न में अपने हाथ बढ़ाता हैं । इसी तरह शशि और शेखर भी एक सीमा तक इसी 'इन्सेस्ट बैरियर' के शिकार हैं । लेकिन फ्रायड के इस सिद्धांत को भी अज्ञेय ने अपने ढंग से प्रयोग किया हैं । उपन्यास में आगे जाकर शशि और शेखर का प्रेम रिश्ते-नातों से परे पहुंच जाता हैं । इन्सेस्ट बैरियर अचानक टूट जाता है जिससे शशि अपना वैवाहिक जीवन सब कुछ जानते-समझते हुए भी नष्ट कर लेती है, क्योंकि यही उसके प्रेम को पाने का अंतिम मार्ग हैं। जीवन के अंतिम क्षणों में शशि और शेखर का अचेतन प्रेम पाठक के सामने स्पष्टतर होते हुए भी अपने प्रेम की पवित्रता बनाए रखता है । अचेतन में गहरे दबी उनकी वासना मौका पाकर एक-दूसरे पर जानवर की तरह टूट नहीं पड़ते, अपितु वे अपने संयम की रेखा बनाए हुए अपनी भावनाएं सामने रखते हैं ।

---

[1] 'An incestuous love strikes repression, the emotional and the sensual components are separated, and the only emotional component persists in consciousness, ouring to its apparent desexualization. The original love transferred to a new feminine object which resembles the former, but the link between sexual emotion and genial sexuality is not re-established.' – Psycho Analyatical Method and the doctrine of Freud, Vol. I. DALBEZ, P.134

प्राचीन कवियों का मानदण्ड अपनाते हुए समाज की धारा में अज्ञेय अहं का विलयन करते चलते हैं । अहं की अभिव्यक्ति ही उससे मुक्ति का मार्ग है, स्वयं को सार्वजनीन बनाने का तरीका है । यह सही है कि जहाँ शेखर महानता देखता है वहाँ अहं नहीं, उसकी श्रृद्धा दिखाई देती है । लेखक इसी अहंवादिता के रहते व्यक्तिवादी-असामाजिक भी कहा गया, किन्तु वैयक्तिक विकास की प्रमुखता अज्ञेय के समस्त साहित्य में लक्षित होती हैं । इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि उनके पात्र असामाजिक है, जिनका समाज-परिवार से कोई लेना-देना नहीं है । वह व्यष्टि के साथ-साथ समष्टि की मुक्ति चाहता है ।

शेखर का यह स्वातंत्र्य-विद्रोह किशोरावस्था में 'मैं' से 'ममेत्तर' की ओर उन्मुख होता है । शेखर का जेल जाना, गरीब विद्यार्थियों के लिए रात्रि पाठशाला खोलना, बूढ़ी औरत को पीठ पर लादकर अस्पताल ले जाना, अछूतों के लिए लड़ना, एंटीगोनब क्लब की स्थापना और उसके द्वारा युवा समाज और स्त्रियों में एक जागरूकता लाने का प्रयास, 'हमारा समाज' नामक पुस्तक लिखना आदि प्रसंग सभी उसकी सामाजिक भागीदारी लक्षित करते है । लेखक स्वयं भी कहता है कि, "शेखर नि:संदेह एक व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज़ A Record of personal suffering है, यद्यपि वह साथ ही उस व्यक्ति के युग संघर्ष का प्रतिबिम्ब भी है । इतना और ऐसा वह निजी नहीं है कि उसके दावे को आप 'एक आदमी की निजी बात कहकर उड़ा सके, मेरा आग्रह है कि उसमें मेरा समाज और मेरा युग बोलता है कि वह मेरे और शेखर के युग का प्रतीक है ।"[1] बिना युग-समाज को शामिल किए किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण एवं विकास असम्भव है ।

आलोचकों ने शेखर के विद्रोह की प्रकृति को लेकर भी सवाल उठाए हैं । किसी ने रोमांटिक विद्रोही कहा है तो किसी ने निहिलिस्ट । तो कोई इन दोनों से परे जाने की बात कहता है । उपन्यास में आरंभ से ही शेखर का विद्रोह उस समाज, धर्म, परिवार, सत्ता, अर्थव्यवस्था से रहा है जो मनुष्य के व्यक्तित्व की परिपूर्णता के विकास में बाधक

[1] अज्ञेय – शेखर : एक जीवनी, भूमिका पृ० सं०- 10

है । वह बंधन लगाने वाली उस हर व्यवस्था को तोड़ना चाहता है जो मानव से उसकी स्वतन्त्रता छीनती है । उस रूढ़ियुक्त समाज व छोटी सोच को जड़ से उखाड़ना चाहता है और एक ऐसे लोक-समाज की कल्पना करता है जहाँ सब बराबर हो, जो जैसा है वह वैसा ही रहे । इसलिए शेखर वैसा निहिलिस्ट विद्रोही नहीं है जो विनाश ही विनाश सर्वोपरि माने, वह निर्माण भी चाहता है किन्तु बंधन मुक्त समाज की स्थापना के साथ । शेखर ठीक अराजकतावादी भी नहीं है, लेकिन अनुशासन की वह आदर्श स्थिति वह स्वेच्छा से स्वीकारता है, जिसमें समष्टि का कल्याण निहित हो । राष्ट्रीय कांग्रेस की माँग पर विशेष राजनीतिक जागृति व रूचि न होने पर भी शेखर स्वयंसेवकों के दल में अपना नाम लिखवाता है क्योंकि ड्रिल के नियमाचरणों से उसे शांति मिलती थी ।

उपन्यास में आदि से अंत तक यह विद्रोह - प्रेम, वासना, भय, अहं, बंधन, घृणा आदि सभी भावों के साथ रोमांटिक रूप में ही व्यक्त हुआ है, लेकिन इसमें एक गैर-रोमांटिक कल्पना भी दिखाई देती है, जब शेखर कहता है - "मैं उस दिन की कल्पना करता हूँ कि जिस दिन हमारे देश के, हमारे संसार के क्रांतिकारी कहलाने वाले व्यक्तियों में ऐसी प्रखर किन्तु शीतल बौद्धिक घृणा जागेगी...क्योंकि विद्रोह अनंत है, नित्य है, क्योंकि उसके उपकरणों में प्रेम के बाद सबसे बड़ा अमोघ अस्त्र है यही बौद्धिक घृणा... ।"[1]

उपन्यास के अंत तक आते-आते यह विद्रोह रागेत्तर स्वरूप की ओर बढ़ता जाता है । जब शेखर शशि से कहता है - "मैं जो कुछ लिखता हूँ, उबलकर लिखता हूँ, पर मुझे लगता है कि यह अच्छा नहीं है । बल्कि कभी यह भी लगता है कि उदेश्य भी उसमें नहीं क्योंकि वह उबाल है और उदेश्य के लिए तो नक्शा बनाकर संयम से चलना चाहिए ।"[2] 'उबाल' पर संयम' को महत्त्व देना, रोमांटिक विद्रोह से आगे बढ़ने का प्रयास ही है ।

कुछ आलोचकों ने इसकी तुलना पाश्चात्य उपन्यासों एवं पात्रों के साथ कर उपन्यास की मौलिकता पर प्रश्नचिन्ह लगाया हैं । कोई शेखर को उपन्यासकार का

---

[1] अज्ञेय – शेखर : एक जीवनी, भाग-2 पृ० सं०- 30

[2] अज्ञेय – शेखर : एक जीवनी, पृ० सं०- 150

प्रतिरूप व उपन्यास को लेखक की आत्मकथा कहता है तो कोई जेम्स ज्वायस, तुर्गनेव आदि के जीवन से प्रभावित मानता है । शेखर के विद्रोह का मॉडल तुर्गनेव के उपन्यास 'पिता और पुत्र' का नायक बाजरोव को लेकर तैयार किया गया है । इस सन्दर्भ में **बच्चन सिंह** का कथन है कि, "अज्ञेय ने बाजारोव को नियतिवादी और शेखर को सम्पूर्ण मानव की दिशा में अग्रसर होने वाला कहा है । स्वतंत्र तो वह चरम कोटि का है किन्तु मानव तो वह आधा अधूरा भी नहीं है । बाजारोव कला, संस्कृति, धर्म आदि के पारस्परिक मूल्यों को नकारता है । नकार उसका भी अमोघ है । पर वह नकार एक अस्थायी दृष्टिकोण है, समय सापेक्ष है न शेखर का चिरंतन फलसफ़ा ।"[1]

इस टिप्पणी पर अज्ञेय अपनी प्रतिक्रिया देते हुए स्पष्ट कहते है कि, "शेखर पर बाजारोव का प्रभाव, मैं समझता हूँ बिल्कुल नहीं है । बाजारोव रुसी निहलिज्म की देन है । तुर्गनेव निहलिस्ट नहीं था, लेकिन उसने युग की प्रवृत्तियों को पहचाना और विश्लेषण करके इस प्रवृत्ति का चरम रूप सम्मुख रख दिया । मैं भी आतंकवादी दल से सम्बंद्ध रहकर भी 'कन्विंसड' आतंकवादी नहीं रहा, पर मुझे इसमें बड़ी दिलचस्पी रही कि आतंकवादी का मन कैसे बनता है । शेखर की रचना इसी से आरम्भ हुई ।...बाजारोव नियतिवादी है ..शेखर नियतिवादी नहीं है...।"[2]

अज्ञेय की इस प्रतिक्रिया पर अपनी सहमति देते हुए **डा० भारतभूषण अग्रवाल** का मत है कि, "दोनों में अधिक चित्रण भेद है ।"[3] स्पष्ट है कि 'शेखर' और 'बाजारोव' का चरित्र आधारभूत भिन्नता लिए हुए हैं । इसलिए शेखर पर 'बाजारोव' का प्रभाव ढूढ़ना व्यर्थ है ।

शेखर एक जीवनी की तुलना रोम्याँ रोला के उपन्यास से भी की गई । इस सन्दर्भ में **मोहन राकेश** का मत है कि, "अज्ञेय का शेखर किसी भी भूमि की उपज हो सकता है । ऐसे सार्वभौम चरित्रों के साथ सम्वेदनशील हृदय निजत्व का सम्बन्ध

---

[1] आलोचना पत्रिका, अंक 13, उपन्यास विशेषांक : मध्यवर्गीय वस्तु तत्व का विकास, बच्चन सिंह, पृ० सं०- 130

[2] अज्ञेय – आत्मनेपद (शेखर एक प्रश्नोत्तरी), पृ० सं०- 55

[3] भारतभूषण अग्रवाल – हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव, पृ० सं०- 395

स्थापित नहीं कर पाता । अधिक-से-अधिक वे देव-प्रतिमाओं की तरह उसकी आस्था के विषय हो सकते है । रोम्यां रोला का ज्यां क्रिस्ताफ भी, जिससे शायद लेखक ने शेखर की रचना की प्रेरणा ली है, शेखर की अपेक्षा कही अधिक अपने देश की मिट्टी का बना हुआ चरित्र है । उसके शरीर में जर्मनी का खून खौलता है और वह फ़्रांस में रहकर भी अपनी इस भिन्नता को छिपा नहीं सकता ।"[1]

इस प्रभाव को लक्षित करते हुए एक ओर आलोचक **डा० भोलाभाई पटेल** इसके समर्थन में कहते है कि, "किशोरावस्था और युवावस्था के चित्रण में भी कुछ साम्यता के अंश दिखाई पड़ेंगें । किशोर शेखर एक बार घर से भाग जाता है, क्रिस्ताफ भी एक बार घर से भाग कर रातभर बाहर रहता है । 'ज्यां क्रिस्ताफ' में क्रिस्ताफ का उसके मित्र 'ओटो' के प्रति समलैंगिक आकर्षण दिखाया गया है, शेखर में भी 'कुमाराप्पा' के प्रति शेखर का समलैंगिक आकर्षण है ।"[2]

यथास्थान कुछ प्रसंगों में शेखर से क्रिस्ताफ की साम्यता मिलने के कारण परोक्ष प्रभाव माना जा सकता है । इसके अलावा भोलाभाई पटेल ने 'मार्सेल प्रूस्त' के उपन्यास 'रिमेंबरेस आफ द थिंग्स पास्ट' से भी समता खोजने का प्रयास किया है । इस उपन्यास का मूल फ्रांसीसी नाम है - 'आला रिशर्च घु ता पघ्रू' यानि 'खोये हुए समय की खोज में' । इस उपन्यास का नायक 'मार्सेल' भी शेखर की तरह जीवनी लिखने बैठता है । शेखर का अपनी माँ के प्रति लगाव मार्सेल की अपेक्षा नगण्य है । अज्ञेय और प्रूस्त की रचनादृष्टि में अंतर तो है पर शैशव की घटनाओं के माध्यम से चरित्र विकास और अतीत के अवलोकन में समानता भी है । शेखर फांसी की सजा में बैठा जीवन तलाश रहा है तो मार्सेल खोये हुए समय में ।[3]

---

[1] आलोचना (पत्रिका) अक्तूबर 1954 , उपन्यास अंक, पृ० सं०- 22

[2] भोलाभाई पटेल – अज्ञेय : एक अध्ययन , पृ० सं०- 170-171

[3] भोलाभाई पटेल – अज्ञेय : एक अध्ययन , पृ० सं०- 172 (भोलाभाई पटेल का कहना है कि – ".....लेकिन दोनों नायकों की परिस्थिति में एक बहुत बड़ा फर्क है। अपनी जीवन-यात्रा के मध्य तक पहुँचते-पहुँचते प्रूस्त के कथा-नायक के अनेक भ्रमों का निरसन होता है, विशेषकर समाज और प्रेम-विषयक, लेकिन एकमात्र कला के बारे में उसकी आस्था किसी दैवी प्रेरणा से बनी रहती है, जो उसे अपनी कथा लिखने में प्रवृत करती है।")

कुछ आलोचकों ने शेखर : एक जीवनी पर 'जेम्स जायस' के 'पोट्रेट आफ द आर्टिस्ट एज़ ए यंगमैंन' उपन्यास का भी प्रभाव बताया है । तो किसी ने नायक 'स्टीफन' पर जायस की और 'शेखर' पर अज्ञेय की छवि खोजी है । जिस तरह लखनऊ में एक घोड़े की लयबद्ध गति से शेखर को 'एपिफिनी' का बोध होता है, उसी तरह एटीफेन को जलप्रवाह के मध्य एक स्थिर एक कन्या को देखकर एपीफिनी होती है । स्टीफन पर माँ का प्रभाव है ; शेखर पर पिता का । इस तरह साम्य-वैषम्य निकालते हुए पाश्चात्य प्रभाव लक्षित किया गया है । इसके साथ ही 'एडविन प्यू' का भी शेखर पर प्रभाव माना गया है । इस प्रभाव को स्वयं लेखक **अज्ञेय** ने स्वीकृति दी है कि, "आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि मुझ पर अंग्रेजी के एक ऐसे साधारण लेखक का प्रभाव है जिसका नाम भी कम ही लोग जानते होगें । वह है पहले महायुद्ध के आस-पास का लेखक 'एडविन प्यू' । उसका उपन्यास है – थ्रू द आइज़ आफ़ ए चाइल्ड'... । शेखर : एक जीवनी के निर्माण में इसका भी हाथ है ।"[1]

बीसवीं सदी के प्रख्यात कवि-उपन्यासकार डी.एच लारेस के 'संस एंड लवर्स' उपन्यास का प्रभाव भी शेखर पर लक्षित होता हैं । इस प्रभाव का स्पष्टीकरण देते हुए **डा० भारतभूषण अग्रवाल** का कहना है कि, "इस उपन्यास के साथ शेखर : एक जीवनी का साम्य कम महत्त्वपर्ण नहीं है । दोनों ही कृत्तियाँ आत्मकथात्मक है और दोनों में चरितनायक के शैशव और यौवन के क्रमिक विकास का वर्णन है ।"[2]

शेखर : एक जीवनी पर पाश्चात्य कवियों जैसे शैले, कीट्स, बायरन आदि का स्पष्ट प्रभाव हैं । **अज्ञेय** स्वयं इस प्रभाव को यथास्थान मानते हुए कहते है कि, "...और फिर यह भी सोचिए कि शेखर है कौन? जिस वर्ग का प्रतीक पुरुष वह है, वह क्या सचमुच अंग्रेजी के प्रभाव को स्वीकार करना अनिवार्य नहीं है?"[3]

---

[1] नई धारा (पत्रिका) अप्रैल 1967 ,(लेख- रामवचन राय – ठाठ फकीरी के उद्घोषक : अज्ञेय के साथ'), पृ० सं०- 80-81

[2] डा० भारतभूषण अग्रवाल – हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव, पृ० सं०- 58

[3] अज्ञेय – आत्मनेपद, पृ० सं०- 68

इस प्रकार अनेक प्रभावों के बावजूद भी **भारतभूषण अग्रवाल** का यह मत सभी प्रभावों का एक निचोड़ बनकर शेखर की मौलिकता प्रस्तुत करता है कि, "एक भाव-प्रवण युवक की जीवन-गाथा के माध्यम से 'शेखर' में भारतीय नवजागरण का, युगीन परिस्थितियों का, दार्शनिक जिज्ञासा और सामाजिक संघर्ष का एवं पारिवारिक सम्बन्धों के खोखल तोड़कर एक महत्त्वकांक्षी व्यक्तित्व के विकास और वैयक्तिक प्रेम की अतिशयता और उदारता का ऐसा सर्वांगीण, मार्मिक एवं प्रभावपूर्ण प्रक्षेपण है कि यह अपूर्ण कृति भी वीनस की मूर्ति की भांति अनन्य सौन्दर्य से मंडित हो गयी है।"[1]

अत: शेखर का व्यक्तित्व चाहे किसी से भी प्रभावित व समता रखता हो, लेकिन उसका अंतर्मन युगीन परिस्थितियों से ही गढ़ा गया हैं। उपन्यास के दोनों भागों में अज्ञेय के पात्र परिस्थितियों के अनुरूप अपना व्यक्तित्व निर्मित करते हुए अन्य पात्रों को भी प्रभावित करते हैं।

- **भाषा-शिल्प के नए प्रयोग**

यह उपन्यास आधुनिक युग के बदलावों के साथ-साथ नए प्रोयौगिक दौर में लिखा गया है, जिससे उपन्यास के **शिल्प-शैली** पर भी सवाल उठने संभव थे। स्वच्छंदतावादी समीक्षक **नंददुलारे वाजपेयी** ने इस उपन्यास के शीर्षक तथा उपन्यास-विधा को लेकर ही प्रश्न उठाया है। उनका मानना है कि, "इसे हम उपन्यास भी नही कह सकते, क्योंकि इसमें एक ही पात्र का चरित्र चित्रित है....आरंभ से ही उसका चरित्र जिस ढांचे में ढल गया है, अंत तक वही साँचा दिखलाई देता है। किन्तु जीवनी में बहुत से स्थल औपन्यासिक भी है, विशेषत: दूसरे भाग में...जीवनी में एक विशालता अवश्य है किन्तु औपन्यासिक विशालता नहीं। घटनाओं, परिस्थितियों और चरित्रों का संघर्ष किसी बड़े पैमाने पर नहीं पाया जाता।"[2]

---

[1] डा० भारतभूषण अग्रवाल – हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव , पृ० सं०- 142

[2] नंददुलारे वाजपेयी – आधुनिक साहित्य, पृ० सं०- 226

उपन्यास-विधा के साथ यह नया प्रयोग शिल्प-पक्ष पर अधिक टिका हुआ दिखाई देता हैं। कथा की जगह आत्मनिरीक्षण तथा तकनीकी-शिल्प शैली को यूरोप में काफी प्रतिष्ठा मिल चुकी थी। इस सम्बन्ध में **देवराज उपाध्याय** टिप्पणी करते हुए कहते है कि, "आजकल औपन्यासिकों का एक ऐसा दल है जिसने कथा भाग को अपने यहाँ से निष्कासित कर दिया है। यदि छोटी-सी कथा है भी तो उसे इतना पीटा गया है, इतना धुना गया है कि वह घटना न रह कर मानसिक जगत की लहर मात्र रह गई है। जेम्स ज्वायस, मार्सल प्रूस्त, वर्जीनिया वुल्फ आदि इसी श्रेणी में आएगें। ....कथा-साहित्य में आत्म-निरीक्षणता के 'प्राबल्य' तथा 'टेकनीक' की दृष्टि से प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में शेखर : एक जीवनी इसी कोटि की रचना है।"[1]

कथा तत्व की क्षीणता को रेखांकित करते हुए समीक्षकों के मत प्राय: एकमत ही हैं। **श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय** का मानना है कि, "शेखर में कहानी का एकांत अभाव है, बिखरी-बिखरी, उखड़ी-उखड़ी असंबन्द्ध श्रृंखलाओं से उसे जोड़ने-तोड़ने का प्रयत्न किया गया है।"[2]

अज्ञेय के उपन्यास में स्थूल कथानक नहीं है कि कथा एक नियत बिंदू से शुरू होकर परिणति तक पहुंचें। यहाँ मानव जीवन की घटनाएं ही कथा की गति निर्धारित करती हैं। वह सूक्ष्म-तंतुओ से बुनी जाती हैं। 'अज्ञेय के उपन्यासों का कथानक न तो (प्रेमचन्द-परम्परा के कथाकारों की भांति) स्थूल होता है, न सीधा या सपाट ही। बल्कि सच तो यह कि इनके कथानकों में एक विशेष प्रकार का आंतरिक आवर्तन-प्रत्यावर्तन होता है।'[3]

लेखक ने कथा को विभिन्न शैलियों में प्रस्तुत किया हैं। मुख्य रूप से कथा की शुरुआत स्मृति से होती है। जहाँ उपन्यास का केन्द्रीय पात्र अपनी जीवन-यात्रा के अंतिम पड़ाव में आकर बीते पलों को समेटता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ (शेखर : एक जीवनी) **पूर्व दीप्ति (फ्लैश बैक)** की पद्धति पर निर्मित है। चूंकि स्मृतियाँ सुसम्बंद्ध रूप में उदित नहीं होती ;

---

[1] आलोचना (पत्रिका), उपन्यास अंक अक्तूबर 1954

[2] गंगाप्रसाद पाण्डेय – हिन्दी कथा साहित्य, पृ० सं०- 186

[3] नंदकुमार राय- अज्ञेय की औपन्यासिक संचेतना, पृ० सं०- 96

अतएव शेखर की इन स्मृतियों में भी कोई निश्चित श्रृंखला नहीं है । वे अधिकतर विश्रृंखल है । शेखर का मानस इतना तरल रहा है कि जीवन की छोटी-से छोटी घटना की भी उसके भीतर एक विशेष प्रतिक्रिया होती है, उसी प्रकार जैसे एक क्षुद्र कंकरी भी जल को तरंगायित कर देती है ।'[1]

उपन्यास का पहला भाग दृश्यों से भरा पड़ा है । **दृश्य विधान शैली** के प्रयोग से पात्रों का चारित्रिक विकास अधिक स्पष्ट लक्षित हुआ हैं । जबकि दूसरे भाग में दृश्यों की संख्या अपेक्षाकृत कम दिखाई देती है । यहाँ कथानक **विवरण शैली** द्वारा गति पकड़ता है । इस सन्दर्भ में एक आलोचक **डा० पुरुषोत्तम दुबे** का मानना है कि, 'उपन्यास के दूसरे भाग में कथा-काल विपर्यय शैली का प्रयोग किया गया है । इस पद्धति में न तो कथा के विकास क्रम में स्वाभाविकता रहती है और न ही पात्रों के चरित्र का विकास सीधी गति से हो पाता है ।[2] साथ ही इस 'उपन्यास में एक ओर चिंतन, विश्लेषण और वर्णन का योग है, वही दूसरी ओर उसमें कथोपकथन की भी अच्छी योजना है ।'[3]

संवादों में पात्रों ने **उद्धरण-शैली** का भी प्रयोग किया हैं । जहाँ पात्र अपनी भावनाएँ, विचार दूसरे कवियों-लेखकों की पंक्तियों के द्वारा उद्धरणस्वरूप व्यक्त करते हैं । इसके अलावा उपन्यास में चेतना-प्रवाह शैली का भी प्रयोग किया गया है । इस शैली में मन उठने वाले भावों की अव्यवस्थित स्थिति को बिना परिवर्तन के ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत किया जाता है । असम्बन्द्ध भावनाओं का एक निरंतर प्रवाह सदा मन में बहता रहता है और वह पात्र के व्यक्तित्व तथा बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित रहता है । इस तरह लेखक ने इस उपन्यास में इन सभी शैलियों का प्रयोग यथास्थान किया हैं ।

शेखर : एक जीवनी की **भाषा** को लेकर भी आलोचकों ने कई सवाल उठाए हैं । ये सवाल मूलतः अज्ञेय के समस्त कथा-साहित्य पर उठाए गए हैं । वह यह

---

[1] शिवनारायण श्रीवास्तव – हिन्दी उपन्यास, पृ० सं०- 289

[2] डा० पुरुषोत्तम दुबे – व्यक्ति-चेतना और स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास, पृ० सं०- 217 (पुरुषोत्तम दुबे का मत है - "इस पद्धति में कथा-विकास के स्वाभाविक क्रम अथवा पात्रों के चरित्र विकास की सीधी गति को उलट-पुलट कर प्रस्तुत किया जाता है।")

[3] सत्यपाल चुघ – प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० सं०- 303

है कि अज्ञेय की भाषा बौद्धिक और आभिजात्य वर्ग की भाषा है । प्राय: सभी लेखक अपनी भाषा पात्रानुकूल एवं प्रसंगानुकूल प्रयोग करते आए है व करते है । चूंकि अज्ञेय के उपन्यास के पात्र आधुनिक, शिक्षित एवं बौद्धिक वर्ग से चयनित है तो साधारणत: उनकी भाषा-शब्द भी उनके व्यक्तित्व एवं वातावरण अनुरूप ही प्रयोग किये जाएगें ।

आलोचकों द्वारा लगाए गए इस आरोप पर **अज्ञेय** अपना विचार स्पष्ट देते हुए कहते है कि, "मैं समझता हूँ कि आत्माभिव्यक्ति से भी ज्यादा महत्त्व की बात है दूसरे तक पहुँचना यानी सम्प्रेषण । अगर मैं दूसरे तक पहुँचना चाहता हूँ तो किस माध्यम से पहुंचूगा यह मेरे सोचने की बात है.....मैं जो भाषा लिखता हूँ ये तो अभियोग मैं बिल्कुल स्वीकार नहीं कर सकता कि वह अभिजात वर्ग की भाषा है । अभिजात वर्ग की भाषा आज या तो अंग्रेजी या तो एक खिचड़ी भाषा है, जिसमें अंग्रेजी में हिन्दी और संस्कृत के या हिन्दी में अंग्रेजी के शब्द जरूरी तौर पर आते है । अभिजात वर्ग तो ओर कोई भाषा जानता ही नहीं । मैं जो भाषा बोलता हूँ, उसमें तो कोई भी शब्द त्याज्य नहीं है.....वह संस्कृत का है कि फारसी, अरबी का है कि देशज है कि ग्राम्य है कि क्या है, मुझे इसकी चिंता नही है ।....ऐसे बहुत से शब्द जोकि अभिजात वर्ग का ही नही जोकि उनके वर्ग का आदमी भी लिखते हुए भी थोड़ी देर झिककता है । जब वे ऐसे शब्द पाते है तो कहते है कि ये तो सजावट के लिए देहात से कुछ शब्द उठा कर रख लिए गए है ।....अगर मेरी रचना में...जहाँ जो शब्द सही और सटीक है वही रखा गया है....इसकी चिंता नहीं होनी चाहिए कि वह कहाँ से आया है ।"[1]

अज्ञेय का यह मत 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास की भाषा के सम्बन्ध में सटीक है । उपन्यास की भाषा संस्कृत, तत्सम्, तद्भव, फ़ारसी, अरबी तथा अंग्रेजी शब्दों से बुनी गयी हैं । जिस वर्ग से पात्र चुना गया है उसकी भाषा भी उसी के अनुकूल रखी है । उपन्यास में अलंकारों, प्रतीकों, मुहावरों-सूक्तियों आदि का भी प्रयोग बहुलता से किया गया हैं । शिल्प के इस नएपन पर आलोचकों ने जितने व्यंग्य-टिप्पणियाँ की ; उन सभी आरोपों-शंकाओं के स्पष्टीकरण में **अज्ञेय** कहते है कि, "शिल्प-शैली की चकाचौंध के

[1] संपा० कृष्णदत्त पालीवाल – अज्ञेय से साक्षात्कार, पृ० सं०- 19

कारण हम कई नई कृतियों को वह महत्त्व देने लगे है, जिनकी वे वास्तव में पात्र नहीं है और जो भविष्य उन्हें नहीं देगा ।"[1]

जिस युग में अज्ञेय यह उपन्यास लिख रहे थे, उस समय उनके ये विचार भारतीय समाज-संस्कृति के नियमों के विपरीत थे । किन्तु बदलते सम्बन्धों एवं व्यक्ति की अंतर्व्यथा का यह नया रूप दबा-छिपा सा ही सही, लेकिन कहीं-न कहीं मौजूद जरुर था । जिसे कथाकार अज्ञेय ने बेहद करीब से समझा-परखा और अपने उपन्यास का कथानक निर्मित किया । व्यक्ति के अंतर्मन की परतों जैसा विश्लेषण उपन्यासकार अज्ञेय ने शेखर के व्यक्तित्व के द्वारा किया, वैसा सूक्ष्म चित्रण अन्य हिन्दी कथाकारों के यहाँ दुर्लभ प्रतीत होता हैं । उस दौर में कुछ कृतियों के समक्ष रख इस उपन्यास को दरकिनार कर दिया गया था । मूल्यांकन की दृष्टि से इस उपन्यास में कई त्रुटियाँ निकाली गयी थी, साथ ही पाठकों के समक्ष इसकी छवि कमत्तर आँक कर प्रस्तुत की गई, लेकिन भविष्य ने इसे इसकी महत्ता प्रदान की हैं । वर्तमान युग में 'शेखर : एक जीवनी' में उठाए गए मुद्दे अपनी प्रांसगिकता स्वयं लक्षित करते हैं । अज्ञेय के वे विचार जिन्हें उनके समय में पाठकों ने नाक-भौं सिकोड़ कर नकार दिए थे, वे सभी आज की युवा पीढ़ी के गले आराम से उतर जाते हैं । आज आलोचकों के साथ-साथ पाठक समुदाय भी इस उपन्यास की मूल्यवत्ता को नयी अर्थवत्ता के साथ स्वीकार कर पाया है ।

3.1.2 नदी के द्वीप

- **कथ्य का स्वरूप व स्वतंत्र सत्ता**

अज्ञेय के दूसरे उपन्यास 'नदी के द्वीप' को आलोचकों ने पृथक व स्वतंत्र मानते हुए भी इसे अवान्तर व अंतिम रूप में 'शेखर : एक जीवनी' का ही विकास व प्रकारांतर से प्रस्तावित तीसरा भाग माना है । कुछ समीक्षकों ने कहा है कि शेखर : एक जीवनी की समस्त संभावनाएं पूंजीभूत होकर 'नदी के द्वीप' में परिलक्षित व अनुभूत होती हैं । साथ ही वे 'शेखर' के व्यक्तित्व का विकसित व परिपक्व रूप 'भुवन' को मानते

[1] अज्ञेय – आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० सं०- 92

हैं। इस परिपेक्ष्य में **रामस्वरूप चतुर्वेदी** का कहना है कि, 'नदी के द्वीप' उपन्यास शेखर : एक जीवनी का ही परिशिष्ट व प्रस्तावित तीसरा भाग है।'[1] इसी मत के साथ अपनी सहमति रखते हुए एक अन्य आलोचक **डा० इन्द्रनाथ मदान** का मानना है कि, "रेखा शशि का विकसित रूप है और भुवन शेखर का परिशिष्ट रूप, जो शेखर के अभाव को पूरा करता है।"[2]

इसके विपरीत कुछ समीक्षकों ने इसे एक काव्यात्मक उपन्यास कहा हैं। उपन्यास की प्रकृति-आकृति काव्यनुभूतियों की ही संरचना है, जिसमें देशी-विदेशी कवियों की काव्य-भावनाओं का यथास्थान प्रयोग किया गया हैं। 'नदी के द्वीप' अज्ञेय की काव्यानुभूति का औपन्यासिक रुपान्तरण है। इस सन्दर्भ में **डा० केदार शर्मा** का मत उल्लेखनीय है, " 'नदी के द्वीप' नामक बहुचर्चित कविता में उन्होनें जो कहा है उसे इस उपन्यास में एक जीवन दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया है। द्वीप की उपमानगत प्रतीकात्मक सीमा को जितना विस्तार अज्ञेय को देना था वह कविता में न दिया जा सका। उसकी विवृत्ति इस उपन्यास में है। वह द्वीप का प्रतीक कविता से अधिक व्यापक अर्थों में उपन्यास के कथ्य को अपने में समेटे हैं।"[3]

आलोचकों के ऐसे मतों के चलते पाठक के समक्ष 'नदी के द्वीप' उपन्यास की स्वतंत्र सत्ता कटघरे में लक्षित होती है। 'नदी के द्वीप' को शेखर : एक जीवनी का प्रस्तावित तीसरा भाग मान लेना संकुचित दृष्टिकोण का प्रमाण है, क्योंकि 'नदी के द्वीप' उपन्यास एक अलग कालखंड में लिखा गया उपन्यास है, जिसमें लेखक ने विभिन्न वर्ग केन्द्रित पात्र चुने हैं। यहाँ घटनाएँ कथा का रूप नहीं लेती, अपितु पात्रों की मानसिक क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ ही कथा गढ़ती चलती है। शेखर की भांति यहाँ किसी परिवार एवं सदस्यों-सम्बन्धों की कथा नहीं चलती, बल्कि यहाँ चार प्रमुख वर्ग लक्षित व्यक्तित्वों की संवेदना के माध्यम से प्रेम, विवाह, सहजीवन, बौद्धिक-नैतिक विचारधारा, निर्णय की

---

[1] रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिन्दी नवलेखन, पृ० सं०- 99

[2] इन्द्रनाथ मदान - आज का हिन्दी उपन्यास, पृ० सं०- 51

[3] डा० केदार शर्मा – अज्ञेय के उपन्यास : प्रकृति और प्रस्तुति, पृ० सं०- 59

स्वतन्त्रता आदि की प्रधानता सर्वोपरि हैं। साथ ही शिल्प के क्षेत्र में किए गए नए प्रयोग भी इसे शेखर : एक जीवनी उपन्यास से अलग रखते हैं।

'नदी के द्वीप' उपन्यास से पहले अज्ञेय ने इसी शीर्षक से एक कविता भी लिखी है। कविता का कथ्य और उपन्यास में पात्रों के संवादों का निचोड़ व स्थिति के बीच सामंजस्य आलोचकों को यह कहने को बाधित करता है कि यह उपन्यास इसी कविता की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है।

इस विषय में स्वयं **लेखक अज्ञेय** का मानना है कि, 'इस नाम की मेरी एक कविता भी है, पर दोनों में विशेष सम्बन्ध नहीं है।'[1] लेकिन शीर्षक व उपन्यास के कथ्य की प्रतीकात्मकता के स्तर पर यह सम्बन्ध स्पष्ट देखा जा सकता है। एक स्तर पर नदी और उसके मध्य स्थित द्वीपों के सह-अस्तित्व को रूपायित करता है तो दूसरी ओर समाज और व्यक्ति के आपसी सम्बन्द्ध को। शीर्षक दो अलग-अलग रूपकों के साथ व्यक्त हुआ है, पहला – 'नदी' समाज का प्रतीक है, 'द्वीप' अस्मितायुक्त इकाई व्यक्ति का। जिस प्रकार नदी में अनेक द्वीप होते है और उनका अपना-अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है उसी प्रकार समाज में अनेक व्यक्ति होते है और सभी का अपना स्वरूप बनता-बिगड़ता है, वैसे ही 'व्यक्ति' भी समाज में रहकर अपनी अलग अस्मिता कायम रखता है।

दूसरा रूपक – 'नदी' काल का प्रतीक है तथा 'द्वीप' क्षण का। जिस प्रकार 'द्वीप' स्वयं को नदी में समाहित कर लेता है वैसे ही क्षण भी काल प्रवाह में स्वयं को मिला देता है। कविता और उपन्यास के बीच प्रतीकात्मकता के स्तर पर यह सम्बन्ध ओर गहराया जाता है। उपन्यास के पात्र भी यथास्थान स्वीकारते है कि हम द्वीप है और धारा में बहना हमारी नियति है। हम इस भूखंड रूपी समाज का हिस्सा है, जहां हमारा अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व खड़ा है। परिस्थितिवश यदि इस व्यक्तित्व का नाश हुआ तो यह भी द्वीप की भांति अपना नया स्वरूप खड़ा करेगा और इसी नदी रूपी समाज में रहकर संस्कार पाएगा। रेखा, भुवन, गौरा, चन्द्रमाधव सभी जीवन प्रवाह के बीच व्यक्ति रूपी

[1] अज्ञेय – आत्मनेपद (नदी के द्वीप : क्यों और किसके लिए), पृ० सं०- 58

द्वीप है, जिस पर जीवन की लहरें पछाड़ खाती और टकराती है । उनके स्वरूप और आकार को ये लहरें कांटती-छांटती आगे बढ़ जाती हैं । अज्ञेय की यह कविता मात्र प्रतीकात्मकता के स्तर पर ही उपन्यास के कथ्य से समानता रखती है ।

- **पाश्चात्य औपन्यासिक पात्रों से तुलना**

नदी के द्वीप उपन्यास पर आलोचकों ने कुछ **पाश्चात्य उपन्यासों का अनुकरण व प्रभाव** भी लक्षित किया है । साथ ही उनके पात्रों के साथ अज्ञेय के पात्रों की तुलना भी की हैं । जिनमें 'चार्ल्स मोर्गन' के 'द फाउन्टेन', 'आंद्र जींद' के उपन्यास 'स्ट्रेट इज़ द गेट', डी० एच० लारेंस के 'लेडी चैटर्लीज लवर' उपन्यास है । आलोचकों का मानना है कि इन उपन्यासों से प्रभावित होकर ही अज्ञेय ने 'नदी के द्वीप' की रूपरेखा, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन और प्रणय व्यापार को गढ़ा है । **डा० भारतभूषण अग्रवाल** तो यहाँ तक कहते है कि, "नदी के द्वीप की रूपरेखा का कुछ भाग उनके (चार्ल्स मोर्गन) 'द फाउन्टेंन' से ही प्राप्त हुआ प्रतीत होता है ।"[1] मोर्गन के प्रधान पात्र जैसे ही अज्ञेय के प्रधान पात्र है और उनका संवेदन-संसार भी मिलता-जुलता है । त्रिकोण-प्रेम की कथा दोनों उपन्यासों का आधार है, अंतर नदी के द्वीप में दो स्त्री पात्र है, जबकि 'द फाउन्टेंन' में दो पुरुष पात्र है । इसी तरह चार्ल्स मोर्गन के पात्रों से अज्ञेय के पात्रों का साम्य खोजते हुए **डा० भोलाभाई पटेल** का कहना है कि, "एलिसन और भुवन में बहुत साम्य है.....दोनों की अपने विषय के प्रति जिस प्रकार की रूचि और साहित्यिक अभिमुखता है, वह दोनों की मानसिकता में साम्य स्पष्ट करती है । जूली में हम एक साथ गौरा रेखा का संयोजन पाते है ।"[2]

अज्ञेय का कवि मन 'डी० एच० लारेंस' से काफी प्रभावित था । आलोचकों ने लारेंस के बहुचर्चित उपन्यास 'लेडी चैटर्लीज़ लवर' का भी 'नदी के द्वीप' पर प्रभाव माना है । लारेंस का आग्रह काम-भाव के प्रति एक स्वरूप व स्वतंत्र दृष्टिकोण अपनाने का रहा है । उपन्यास में यही भाव रेखा के 'फुलफिलमेंट' में लक्षित होता है । 'लारेंस' के

---

[1] डा० भारतभूषण अग्रवाल – हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव , पृ० सं०- 359

[2] डा० भोलाभाई पटेल – अज्ञेय : एक अध्ययन , पृ० सं०- 218

उपन्यास के पात्रों 'कोनी' और 'मिलर' में जब प्रथम देह-सम्बन्ध कायम होता है तो वे 'रेखा-भुवन' की तरह परस्पर प्रेम नहीं करते । 'मिलर भी कोनी में जो 'नारी' (female) है उसके प्रति समर्पित है, कोनी के व्यक्ति (person) के प्रति नहीं । भुवन रेखा के सिर्फ 'नारी' रूप के नहीं, समग्र व्यक्तित्व के प्रति समर्पित है ।'[1]

उपन्यास में भुवन रेखा से अपनी मुलाक़ात के शुरू में 'लारेंस' की पंक्ति कहता है – **"द पेन आफ़ लविंग यू इन आलमोस्ट मोर देन आई केन बीयर ।"[2]** लेकिन जब रेखा और भुवन के बीच बहुत कुछ बीत-घट चुका होता है तब यही पंक्तियाँ रेखा एक अलग दृष्टिकोण से कहती है – **"मुझे याद आती है, कॉफी हाउस की हमारी पहली ही बहस में हम सत्य की वेदनामयता की बात करने लगे थे और तुमने एक सन्दर्भ दिया था ; द पेन आफ लविंग यू इज आलमोस्ट मोर देन आई कैन बीयर.....उस दिन पहली पंक्ति में तुम 'डियरेस्ट' शब्द छोड़ गए थे....आज मैं एक शब्द छोड़ जाऊ 'आलमोस्ट' क्योंकि यह दर्द मेरी सहनशक्ति से परे है, मैं उसे नहीं सम्भाल सकती ।"[3]**

इस तरह आलोचक विद्वानों ने इस उपन्यास से जिन पाश्चात्य उपन्यासों का प्रभाव व साम्य दर्शाया है, उससे यह तात्पर्य नहीं है कि अज्ञेय ने अपने उपन्यास की रुपरेखा इन सभी के आधार पर गढ़ी है । अज्ञेय प्रारंभ से ही यह स्वीकृत करते रहे है कि प्रत्येक रचनाकार पर किसी-न–किसी बड़े-छोटे रचनाकार का प्रभाव अवश्य पड़ता है । जिससे प्रेरित होकर कवि-लेखक अपना विचार नए ढंग से प्रस्तुत करता है । उल्लेखित उपन्यासों से साम्य होते हुए भी 'नदी के द्वीप' उपन्यास का कथ्य आदि सर्जनात्मक प्रेरणा मात्र ही है । पाश्चात्य उपन्यासकारों में रूचि रखने वाले अज्ञेय ने उनके विचारों को अपने विचारों के साथ रखकर उन्हें नए दृष्टिकोण के साथ पेश किया है । इस प्रेरणा तथा प्रभाव के तहत् 'अनुकरण' जैसा आरोप बेमानी प्रतीत होता है । यह आरोप सीधे-

---

[1] भोलाभाई पटेल – अज्ञेय : एक अध्ययन , पृ० सं०- 230

[2] नदी के द्वीप, पृ० सं०- 13

[3] नदी के द्वीप , पृ० सं०- 269

सीधे किसी भी रचनाकार की सर्जनात्मक शक्ति पर प्रश्नचिन्ह खड़ा करता है, जबकि अनुकरण से लेखक का कोई सरोकार ही नहीं है।

- **व्यक्तिवादी उपन्यास**

अज्ञेय के उपन्यासों एवं उनके पात्रों पर अक्सर **घोर वैयक्तिक** तथा **समाज-विमुख** होने का दोषारोपण किया जाता रहा है। आलोचकों ने 'नदी के द्वीप' उपन्यास को आत्म-अस्मिता से सिंचित आत्मलीन उपन्यास कहा है। साथ ही इसके सभी पात्र आत्म-अस्मिता से ग्रसित माने है। 'उनकी अपनी पहचान स्वयं है। स्वयं के संसार में विचरण करने वाले हैं। कृति के सभी पात्र समाज विमुख हैं, घोर वैयक्तिक हैं। नदी के तरह बहते हुए जीवन को 'द्वीप' में विराम देते हैं। यह द्वीप भी उसका स्वयं का निर्मित किया हुआ है। इनका समाज व्यक्तिगत समाज है। एकान्तिक समाज है और अत्यंत एकान्तिक स्थिति भी खटकने वाली स्थिति ही होती है।'[1]

इस तरह **डा० भगवतशरण उपाध्याय** का मत है कि, " 'नदी के द्वीप' के पात्रों को हम पहचान नहीं पाते, क्योंकि समाज में हम उन्हें नहीं देखते। वे मानव-जनित मानव नहीं, उपन्यासकार की भाव सत्ता से, उसके जादू से उठ खड़े हुए है और जब हम उपन्यास पढ़कर उसे बंद कर देते है तब जैसे उस स्वप्न से जाग पड़ते है, जिसका लेश मात्र अवशेष भी अब हमें दृष्टिगोचर नहीं होता।"[2] इसी समाज-विमुखता को लक्षित करते हुए समीक्षक **विजयमोहन सिंह** का कहना है कि, "....नदी के द्वीप के पात्रों के सम्मुख समाज है ही नहीं, उनके सामने केवल नदियाँ है, पहाड़ है या फिर अपनी डायरी, किताबें और अपना मन है - एकोन्मुख और निश्चिंत। वे आसानी से समाज की ओर से पीठ मोड़कर खड़े हो जाते है ; एक ऐसे 'समाज' और 'साहित्य' के युग में जब केंद्र नैतिक समस्याओं से 'सामजिक समस्याओं' की ओर स्थानांतरित हो रहा था।"[3]

---

[1] डा० हरेन्द्र किशोर पाण्डेय –उपन्यासकार अज्ञेय (रचनाकार अज्ञेय : अदिक्तियता की खोज की दिशाएँ), पृ० सं०- 71

[2] डा० भगवतशरण उपाध्याय – समीक्षा के सन्दर्भ , पृ० सं०- 106

[3] विजयमोहन सिंह – अज्ञेय : कथाकार और विचारक (लेख- दुःख सबको मांजता है), पृ० सं०- 44

व्यक्ति समाज से असंतुष्ट होकर या तो समाज से टकराता है या वह एकोन्मुख व आत्मरत हो जाता है। जिस दौर में 'नदी के द्वीप' उपन्यास लिखा गया, उस समय के चरित्रों का विश्लेषण करते हुए **डा० रणवीर रांग्रा** का कथन है कि, "उस समय मनुष्य की आस्था अपने परिवेश, समाज, वर्ग तथा परिवार से हटकर अपने में ही केन्द्रित होती गई। उसकी बहिर्मुखता घटने लगी और वह अंतर्मुखी होता गया।"[1] उपन्यास में 'अंतराल' शीर्षक में सिमटें पत्राचार इसी एकोन्मुखता-आत्मसंघर्ष का परिणाम है।

इस सन्दर्भ में **रामदरश मिश्र** का मानना है कि, "ये पात्र बाहर बहुत कम जीते है, आत्ममंथन करते है और मंथन के फलस्वरूप जो सत्य उपलब्ध होते है, उन्हें कभी सूक्तियों के रूप में, कभी आत्मानुभूतियों के रूप में व्यक्त करते हैं।"[2]

'नदी के द्वीप' एक व्यक्तिवादी उपन्यास है और इसके पात्र समाज-विमुख है। इस तथ्य पर अधिकांशत आलोचकों के कथनों में एकता मिलती है। किन्तु इन मतों के स्पष्टीकरण हेतु लेखक ने भी अपना दृष्टिकोण पाठक के समक्ष प्रस्तुत किया है। **अज्ञेय** कहते है कि, 'उपन्यास को अनिवार्यत: सारे समाज का चित्र मानना गलत है। बल्कि उपन्यास समाज के जिस वर्ग का चित्र हो उसका वह सच्चा चित्र होना चाहिए। यही सच्चाई ही रचना की माँग होनी चाहिए, पूरे समाज का चित्र नहीं। और समाज के जिस अंग से नदी के द्वीप के पात्र आए है उसका वे गलत प्रतिनिधित्व नहीं करते। मेरे लिए उनकी उतनी सामाजिकता पर्याप्त है।'[3] व्यक्ति की सत्ता सर्वोपरि मानते हुए भी लेखक समाज के प्रति अपनी मोहता छोड़ नहीं पाता। उपन्यास में तथा उपन्यास के स्पष्टीकरण के लेखों में वह यथास्थान स्वीकारता है कि ये पात्र जिस समाज का अंग है उसके प्रतिनिधि बनकर अपनी सही भूमिका पेश करते हैं।

आलोचकों और लेखकों के मतों के विश्लेषण से यह मूल्यांकित करना अनिवार्य हो जाता है कि उपन्यास के पात्र समाज में रहते हुए भी कैसे अपनी वैयक्तिक

---

[1] डा० रणवीर रांग्रा – हिन्दी उपन्यास में चरित्र का विकास, पृ० सं०- 337

[2] रामदरश मिश्र – आज का हिन्दी साहित्य : संवेदना और दृष्टि , राजकमल प्रकाशन, पृ० सं०- 114

[3] अज्ञेय – आत्मनेपद (नदी के द्वीप का समाज), पृ० सं०- 67

भूमिका उसमें अलग रखते हैं। युगीन परिस्थितियों की माँग ने धीरे-धीरे उन पारम्परिक मूल्यों का ह्रास किया है जहाँ इन संस्कारों-मूल्यों को पूजा जाता था। इन परिस्थितियों की मार ने एक ऐसे वर्ग को जन्म दिया, जो पुरानी, रूढ़ मान्यताओं के ढर्रे को तोड़ना चाहता था। उपन्यास के पात्र भी इसी जड़ता के विरोधी है। वे ऐसे समाज को महत्त्व नहीं देते, जहाँ व्यक्ति पराधीन हो, और न ही वे उन आवश्कताओं के प्रति चिंतित है जो एक समाज देता है। नदी के द्वीप का समाज लेखक के मनोजगत की आकांक्षा है जिसे वह रचना भी चाहता है और उसके लिए स्वीकृति भी माँगता है। इस समाज में शालीनता, शिष्टता और विनय जीवन की औपचारिकता नहीं है, बल्कि व्यक्तित्व का गुण है।

इस समाज में रहने वाले व्यक्तियों को बिना पूर्व अनुमति के एक-दूसरे के जीवन में झाँकने की मनाही हैं। व्यक्ति की भावनाओं पर संयम तथा मूल वासनाओं पर इतना कड़ा रिजर्व है कि वह बौद्धिक अभिव्यक्तियाँ बनकर ही बाहर आती है। इस वर्ग के पात्र अपने सम्बन्धों को लेकर इतने सतर्क है कि कोई किसी को एक-दूसरे पर नहीं थोपता। वे केवल अपने व्यक्तित्व के प्रति ही इतने सजग है कि उनके सामाजिक जीवन में क्या होने वाला है, कोई महत्त्व नहीं रखता। इतने पर भी वे लेखक की तरह समाज की अवहेलना नहीं कर पाते। उपन्यास में रेखा-भुवन का बेखौंफ़ होकर साथ-साथ घूमना, सड़क व नदी के किनारे टहलना, काफी हॉउस जाना, पहाड़ों के एकांत में प्रणय करना आदि बातें समाज को नकारने वाली लगती है किन्तु इसी पहलू से जुड़ा यह पक्ष कि पात्रों का यह मिलन सामाजिक स्थानों से दूर एकांत में होता है, मेल-मुलाकातें महफिलों में नहीं, रात के अंधेरें सुनसान बगीचों व पार्कों में होती हैं। साथ ही रेखा के माँ बनने की खबर सुनकर भुवन का विवाह-प्रस्ताव करना, अपना प्रणय स्वीकार करने का दावा करना आदि सब समाज के भय से ही सामने आता है। उपन्यास के पात्र यथास्थान यह कहते दिखाई देते है कि - **"मेरे कर्म का - सामाजिक व्यवहार का नियमन समाज करे, ठीक है ; मेरे अतरंग जीवन का - नहीं। वह मेरा है। मेरा यानी हर व्यक्ति का निजी।"**[1]

[1] नदी के द्वीप , पृ० सं०- 253

उपन्यास के पात्र जब तक अपने जीवन में व्यस्त रहते हैं ; तब तक यह बतलाते चलते है कि हमारा अपना निजी जीवन है । अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व-व्यक्तित्व है जिसमें कोई समाज जैसी वस्तु तांक-झाँक नहीं कर सकती। किन्तु जब इनकी सत्ता समाज के नियम और संस्कार-रीति रिवाज़ों के भंवर में जा फँसती हैं, तब ये भी उसी समाज में अपना व्यक्तित्व खड़ा रखते है, अडिग खड़े रहते हैं। लेकिन जब नदी में भंयकर तूफ़ान आता है तो द्वीप उसी में समाहित हो पुन: नया रूप गढ़ता है।

उदाहरणस्वरूप – उपन्यास में 'रेखा' वर्तमान क्षणजीवी पात्र है जो स्वयं से ही संघर्षरत है । इस संघर्ष का भागी वह किसी को नहीं बनाती । वैवाहिक जीवन की प्रतारणा सहकर अकेले रहती है । भुवन से अभिभूत हो बिना किसी लोकापवाद की चिंता के उसके साथ (पहाड़ों के एकांत में, नौकुछिया ताल, तुलियन, कश्मीर आदि) प्रणय-मिलन करती है । जिस अद्वितीय क्षण को जीकर रेखा फुलफिल्ड होती है । उस बीनकार-सर्जन को स्वयं नष्ट कर डालती है । इसे नष्ट करने के पीछे स्पष्ट कारण मात्र हेमेन्द्र की चिट्ठी मिलती है, किन्तु उसमें क्या लिखा है यह पाठक तक नहीं आता । अपने इस बहुमूल्य रत्न को नष्ट करने का कारण – भुवन का अपमान, भविष्य-निंदा भी हो सकते है । लेकिन यह निंदा, अपमान होने का डर किससे है? जिसका एक मात्र स्पष्ट उत्तर 'समाज' ही है । जिसके डर से वह अपना अस्तित्व नष्ट कर एक नया रूप गढ़ती है । इस नए व्यक्तित्व में वह श्री मती रमेशचंद्र कहलाती है। रेखा के भीतर का स्त्री-मन यह जान जाता है कि वह भुवन का आखिरी पड़ाव नहीं है । वह मात्र उसके जीवन का एक छोटा-सा फूल हैं । स्त्री जीवन में कितनी भी आधुनिक एवं प्रतिष्ठित हो जाए, लेकिन जब वह किसी से प्रेम-समर्पण करती है तो वही प्रेम-समर्पण अपने लिए भी पाना चाहती हैं। रेखा जब भुवन की किसी ओर खोजती नजरें पहचान लेती है तब स्वयं ही पीछे हट जाती हैं। इसी तरह भुवन, गौरा दोनों भी वैयक्तिकता का जामा पहने हुए समाज से अलग दिखने - होने का दिखावा करते हैं, किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत ही लक्षित होती है।

उपन्यास में 'चंद्रमाधव' एक मात्र बहिर्मुखी व्यक्तित्व व सामाजिक पात्र है । वह देश से, समाज से, जीवन से अंतिम बूंद तक निचोड़ लेना चाहता है, बिना कोई प्रतिदान

किए । समाज में अपनी प्रतिष्ठा जमाने के लिए वह सनसनी की तलाश में रहता है । उसके व्यक्तित्व में सामाजिक जड़ता सदैव विद्यमान रहती है, लेकिन जब कुछ गलत व अनैतिक होता है तो वह शीघ्र ही समाज को धकेल निजी जीवन-पक्षी, व्यक्तित्व-स्वतन्त्रता का गान गाने लगता है । समाज, परिवार की रज़ा से हुए विवाह को विवाह नहीं मानता, जबकि उसे भोगता खूब है ।

अज्ञेय के ये पात्र समाज के शिष्ट व शालीन वर्ग से आए हैं । जो अपने नैतिक तथा बौद्धिक मूल्यों के सृजन में समाज की कोई सक्रिय भूमिका स्वीकार नहीं करते । **अज्ञेय** का मत है कि, "आदर्श अथवा अभिमूल्य प्रस्तुत करना व्यक्ति का क्षेत्र है और उनके अनुरूप सामान्य सामाजिक आचरण का नियमन समाज का क्षेत्र है ।"[1]

अज्ञेय की नीति समाज का पिछग्गल्लू बनने की नहीं हैं । वे समाज के बने-बनाए नीति नियमों, विचारों, तर्कों आदि का परम्परागत विधान हाशिए पर फैंक कर ; नए संस्कार, नीतियाँ, विचारधारा प्रयोगपरक रूप में चित्रित करते हैं । यहाँ व्यक्ति अपना निर्देशक-नियंता स्वयं बनता है । उपन्यास में अपने व्यक्तित्व के प्रति सजग प्रत्येक पात्र यथास्थान अपने नैतिक तथा बौद्धिक विचार प्रस्तुत करते चलता हैं जो उनकी मानसिक संवेदना को भी स्पष्ट करते हैं । अपनी अस्मिता का सर्जक वे समाज, देश या किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं बनाता, बल्कि स्वयं उसके भीतर का सत्व या आलोक ही उसे दिशा-दृष्टि देता है ।[2] व्यक्तिगत पहलू को महत्त्व देने हेतु इन पात्रों के नैतिक बौद्धिक

---

[1] अज्ञेय – स्रोत और सेतु, पृ० सं०- 119

[2] नदी के द्वीप (उपन्यास के अंश)

* भुवन रेखा से कहता है- "....उत्तर माँगने वाला कोई दूसरा है ही कौन? मैं ही तो मुझसे उत्तर माँग सकता हूँ? और अगर मैं अपने सामने अनुत्तरदायी हूँ तो उसका फल मैं भोगूँगा – यानि अपने अनुत्तरदायित्व का उत्तरदायी मैं हूँ।" पृ० सं०- 162

* भुवन गौरा से कहता है – " गौरा, कोई किसी के जीवन का निर्देशक करे, यह मैं सदा से गलत मानता आया हूँ , तुम जानती हो। दिशा निर्देशन भीतर का आलोक ही कर सकता है; वही स्वाधीन नैतिक जीवन है, बल्कि सब गुलामी है।" पृ० सं०- 119

* गौरा, चन्द्रमाधव को लिखती है – "....हमी तो अपने दृष्टिकोण से समाज बनाते है। मैं अपने आपको बद्ध नहीं मानती हूँ, और स्वाधीनता के लिए अपने मन को ट्रेन करती हूँ।....सब लोग यत्नपूर्वक अपने मन को स्वाधीनता के लिए ट्रेन करे तो शायद हमारा समाज भी स्वाधीन हो सके।" पृ० सं०- 77

* भुवन, रेखा से विवाह-प्रस्ताव करता है तो रेखा कहती है कि – " भुवन तुम समाज की दृष्टि से देखते हो; वह दृष्टि गलत नहीं है, अप्रांसगिक भी नहीं है। व्यक्ति को दबा कर इस मामले में जो भी निर्णय होगा- घृन्य होगा, असह्य होगा।" पृ० सं०- 253

विचार कई आलोचकों को अनैतिक प्रतीत होते हैं । इसके विचारों की यह अनैतिकता उस वर्ग के लिए आज कितनी अनैतिक है ; इसका अनुमान लगाना बेहद सरल है । क्योंकि आज के समय में पुरानी पद्धतियों में इतना परिवर्तन आया है कि आज पात्रों की इस स्वतंत्र विचारधारा के नमूने सर्वत्र बिखरे पड़े हैं, साथ ही कानूनन मान्यता प्राप्त है । विवाह-विवाहेत्तर पर-पुरुष या स्त्री के साथ घूमना, सफर करना, शारीरिक सम्बन्ध बनाना, जीवन व्यतीत करना आदि से इस वर्ग की नैतिकता का हनन नहीं होता । यहाँ स्त्री-पुरुष के संबंधो को लेकर एक 'उन्मुक्त मस्तिष्क' दिखाई देता है । इतना ही नहीं, अज्ञेय ने अपने कथा-साहित्य में 'समलैंगिक संबंधों' को भी स्थान दिया है । पति-पत्नी तक एक-दूसरे के प्रणय, जीवन में कोई दखलंदाजी नहीं करते । विवाह के बिना शारीरिक सम्बन्ध आदि एक निजी पहलू है, जहाँ व्यक्ति विशेष अपने कर्म का उत्तरदायी स्वयं है ।

कुछ आलोचकों ने इन विचारों को लेखक के निजी जीवन से जोड़कर टिप्पणियाँ की है कि प्रेम-विवाह-सहजीवन, निर्णय की स्वतन्त्रता के लिए अज्ञेय ने अपनी ही छिपी मानसिक मंशा को पात्रों द्वारा उजागर किया हैं । इसके अलावा आलोचकों ने उपन्यास में वर्णित प्रेम-मिलन प्रसंगो पर अश्लीलता का आरोप लगाया गया हैं । कुछ समीक्षकों ने इस आरोप को उचित मानते हुए यहाँ तक कह डाला कि यदि अज्ञेय ने रेखा और भुवन के प्रेमाकर्षण का इतना स्पष्ट चित्रण न भी किया होता तो भी उपन्यास की लोकप्रियता में कोई कमी न आई होती - इस चित्रणों के अभाव में भी उपन्यास की उतनी ही प्रशंसा होती जितनी कि आज हो रही हैं । लेकिन ऐसे आरोप वे स्पष्टत: नहीं दागते, मत-विमर्शों से बचते हुए अपनी बात अंततः स्वयं ही खारिज़ कर देते हैं । इसके विपरीत कुछ आलोचकों ने इस उपन्यास में काम-भावना को ही प्रधानता दी है । साथ ही इसके पात्रों की क्रियाओं को मात्र यौन भावना के शमन का साधन लक्षित किया है ।

उपन्यास की सारी विलास सम्पदा को अश्लील न मानते हुए भी इसमें कुछ अंश को अश्लीलता के दोष से केन्द्रित करते हुए **भगवतशरण उपाध्य्याय** तो स्पष्टत: इसे

'पके सुंदर फल में कीड़े' कहते है ।[1] जबकि **डॉ० केदार शर्मा** की नजर में अज्ञेय की प्रेम दृष्टि पके हुए फल में कीड़ा नहीं वरन् उसकी सुवास है उसके उक्ब होने का लक्षण है ।'[2]

इन आरोपों की पूर्व संभावना को लक्ष्य कर अज्ञेय ने पहले ही उपन्यास में पात्रों द्वारा स्पष्टीकरण दे दिया था - **"जो रस देती है, जीवन को उभारती है, उसे अश्लीलता नहीं कहना चाहिए ।"**[3] इसी तरह एक अन्य स्थान पर रेखा कहती है - **"वेदों की विवाह की ऋचाएँ है - सुंदर जानो तो सुंदर अश्लील मानो तो अश्लील ।"**[4]

अज्ञेय ने 'श्लील और अश्लील' निबन्ध में कहा है कि, "देखना अश्लील नहीं है, अधूरा देखना अश्लील है । इतना ही नहीं शिशु और माता एक-दूसरे के सम्मुख नग्नता-नंगापन या अश्लीलता नहीं है ; यह भी कि अनुरागबद्ध प्रणयी-युगल की एक-दूसरे के सम्मुख नग्नता भी नंगापन या अश्लीलता नहीं है । वहाँ अश्लीलता उसी को दीखती है ; जो अधूरा देखता है - जो केवल नंगापन देखता है, उसे औचित्य देने वाली पूर्णता को नहीं ।"[5]

अगर 'दृष्टि की पूर्णता' को मापक माना जाए तो प्रेम को, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को, प्रणय-मिलन आदि को इस सूक्ष्म और पवित्र स्तर पर ग्रहण और चित्रित करना अज्ञेय की उपलब्धि है । अज्ञेय अपने रचना साहित्य के लिए प्रारम्भ से ही पढ़े-लिखे, उन्मुक्त सोच वाले पाठक की माँग करते हैं । यह खुली मानसिकता ही इसे पूर्णता के साथ देखने व स्वीकार करने का सामर्थ्य रखती है । रेखा-भुवन के प्रणय चित्रों की अपेक्षा हेमेन्द्र और चन्द्रमाधव की मानसिकता अधिक विलासी और अश्लील लगती है ।

---

[1] संपा० देवीशंकर अवस्थी – विवेक के रंग (लेख- सुंदर पके फल में कीड़े), वाणी प्रकाशन, प्र० सं० 1995 ,पृ० सं०- 155-156

(भगवतशरण उपाध्याय का मत है- "एकांत का विलास उपन्यास में इतना व्यापक हो उठा है कि लगता है ...आदि से अंत तक उस विलास की उपन्यास में प्यास है।...विलासन्ध भुवन नौकुछिया के ताल में भी लखनऊ के वाजिद अली के तालाब के जलप्रछन्न कक्षों की भांति 'नौ कक्ष ढूढ़ता है, अश्लील होते भी उसे देर नहीं लगती। तुलियन में रसाप्लावन के बाद रेखा जब चांदनी में बैठती है तब उसे भुवन देखता है और वह लजा जाती है। पर खेमे में लौटकर कोक पंडित की कथा कहते वह नहीं लजाती। यह अस्वाभाविक तो है ही । अश्लील भी है।")

[2] डॉ० केदार शर्मा – अज्ञेय के उपन्यास : प्रकृति और प्रस्तुति, (लेख-नदी के द्वीप) पृ० सं०- 95

[3] नदी के द्वीप, पृ० सं०- 214

[4] नदी के द्वीप, पृ० सं०- 231

[5] अज्ञेय – आत्मपरक, पृ० सं०- 68

- **भाषा शिल्प के नए प्रयोग**

'नदी के द्वीप' **शिल्प** की दृष्टि से अधिक सराहा गया है । इसमें कथा की अपेक्षा 'पात्र' प्रमुख है, जिनकी सहायता से कथा व घटनाएँ प्रतिपादित होती हैं । कथा को खंडों में बाँट कर नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया हैं । कथा में सब काल खंड एक-दूसरे को काटते हुए, पुनसृर्जन और आवर्तन करते हुए अंततः उसी बिंदू पर लौट आते है, जहां से कथा शुरू हुई थी । इस आवर्तन के सम्बन्ध में **नंदकुमार राय** का मत है कि, "अज्ञेय के उपन्यासों का कथानक न तो (प्रेमचंद परम्परा के कथाकारों की भांति) स्थूल होता है, न सीधा या सपाट ही । बल्कि सच तो यह है कि इनके कथानकों में एक विशेष प्रकार का आंतरिक आवर्तन-प्रत्यावर्तन होता है ।"[1]

कथा को इस नए ढंग से पाठक के समक्ष रखने का प्रयोग अज्ञेय जैसे प्रयोगधर्मी कथाकार अपनी बौद्धिक क्षमता के प्रयोग से ही समझ सकता है, अन्यथा भटकने के कई मार्ग है । 'इस प्रकार स्वतंत्र रूप में प्रस्तुत किए हुए विविध कथा खंड-पत्र तथा अंतराल-शैली के माध्यम से एक श्रृंखला में जोड़े गए हैं ।'[2] इसी तरह **रामस्वरूप चतुर्वेदी** ने इसके शिल्प-संधान पर विचार करते हुए कहा है कि, 'नदी के द्वीप' विस्तृत कैनवस पर अंकित किए जाने वाले मानव-जीवन के एक सीमित अंग का 'डिटेल' है ।'[3] यूँ तो कथा संक्षिप्त है, पर सम्वेदनाओं के विस्तृत आयामों में विस्तार पाती चलती है । 'नदी के द्वीप' में आकर कथानक का विस्तृत परिवेश सूक्ष्म हो जाता है ।'[4]

इस उपन्यास के सिद्धांत पक्ष-कला पक्ष का विश्लेषण करते हुए **भगवतशरण उपाध्याय** का कहना है कि, 'सिद्धांत के पक्ष में - मेरे सामाजिक दृष्टिकोण से - अज्ञेय का ह्रास हुआ है, कला के पक्ष में उत्तरोतर विकास । उनकी कला मंज गयी है । कला की व्यवस्था प्रयोग-प्रधान है, रूपायित होकर ही विकसित होती है, मंजकर ही प्रौढ़ होती है

---

[1] डॉ० नंदकुमार राय – अज्ञेय की औपन्यासिक संचेतना, शारदा प्रकाशन, 1988, पृ० सं०- 96

[2] डॉ० प्रताप नारायण टंडन – हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास, हिन्दी साहित्य भंडार लखनऊ, 1959, पृ० सं०- 369

[3] रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिन्दी नवलेखन, पृ० सं०- 99

[4] डॉ० ओमप्रभाकर – अज्ञेय का कथा-साहित्य, पृ० सं०- 54

।....पर सिद्धांत पक्ष नगण्य अथवा विद्रूप होने के कारण 'नदी के द्वीप' महत्तर तो नहीं ही हो सका, उस स्तर से विप्रस्थित भी हो गया, च्युत । उसका कला-पक्ष अधिक गठा है, अधिक कोमल, अधिक तरल, अधिक द्रव, अधिक मोहक है ।"[1]

शिल्प का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है - **भाषा** । प्रयोगधर्मी रचनाकार अज्ञेय काव्य के साथ-साथ गद्य की भाषा का भी परिष्कार करते चलते हैं । भाषा के अभिनव प्रयोग में उन्होंने शब्द-प्रयोगों को मुख्य माना है । नए अनुभवों को व्यक्त करने के लिए वे नयी प्रणाली खोजते हैं । वे भाषा की नहीं बल्कि 'सही शब्दों की खोज' करते हैं ।[2] अज्ञेय के इस उपन्यास की भाषा पर कुछ आलोचकों ने आपत्तियां जताई हैं । इस परिपेक्ष्य में **विजयमोहन सिंह** का मानना है कि, "भाषा और शिल्प के क्षेत्र में अज्ञेय ने 'चयन', 'सतर्कता' और 'सयंम' का आश्रय लिया है और इस चयन की सर्तकता के परिणामस्वरूप ही उनके उपन्यासों ने सामान्य जीवन के दिग्दर्शन का अभाव है। 'चयन' की इस सर्तकता के कारण ही उनके उपन्यासों में क्रमबद्धता का अभाव दृष्टिगोचर होता है। 'नदी के द्वीप' में पात्रों की बातचीत उनके शब्द, व्यवहार, वस्त्र, भंगिमाओं, दृश्यों और यहाँ तक कि परिवेश में भी सर्तक योजना का सहारा लिया गया है । इससे उपन्यास का परिवेश एक कुशल तथा अत्यंत रूचि सम्पन्न व्यक्ति के द्वारा सजाए हुए ड्राइंग रूम जैसा हो गया है जो कृत्रिमता तथा तनाव उत्पन्न करता है ।"[3]

इसी तरह **सत्यपाल चुघ** ने इनकी भाषा की दुरुहता को लक्षित करते हुए कहा है कि, 'पात्रों की बौद्धिकता की अतिशयता उपन्यास की सबसे बड़ी कमज़ोरी पाठक समुदाय के स्तर पर आती है। एक तो उनके उपन्यासों में अंग्रेजी व कही बांग्ला व पंजाबी का उन्मुक्त प्रयोग हुआ है तो दूसरे गम्भीरता सांकेतिकता तथा उन्मुक्त प्रायोगिकता ने उन्हें ओर भी दुरूह बना दिया है । पात्रों के अंतर्मन के रहस्यों को खोलने

---

[1] संपा० देवीशंकर अवस्थी – विवेक के रंग (लेख- सुंदर पके फल में कीड़े), वाणी प्रकाशन, प्र० सं० 1995, पृ० सं०- 143

[2] अज्ञेय - सर्जना और सन्दर्भ , नेशनल पब्लिशिंग हॉउस , पृ० सं०- 188 (अज्ञेय का मत है – "केवल सही शब्द मिल जाए तो। लेखक के नाते, और उससे भी अधिक कवि के नाते मै अनुभव करता हूँ कि यही समस्या की जड़ है। मेरी खोज भाषा की खोज नही है, केवल शब्दों की खोज है। भाषा का उपयोग मैं करता हूँ लेकिन कवि के नाते जो मैं कहता हूँ वह भाषा के द्वारा नहीं केवल शब्दों के द्वारा ।")

[3] विजयमोहन सिंह – अज्ञेय : कथाकार और विचारक, पृ० सं०- 11

के लिए या उनके अवचेतन के अनावरण के लिए उन्होनें जिन प्रतीकात्मक स्वप्नों, मानसिक क्रिया-विधियों आदि का प्रयोग किया है, वे समुचित विवेचन के अभाव के कारण दुरूह हो गए हैं ।'[1]

अज्ञेय के औपन्यासिक भाषा- शब्दों को टकसाल से ढलकर नई चमक तथा व्यंजकता मिश्रित कहने वाले **डॉ० देवराज** का कहना है कि , "संस्कृत तथा हिन्दी के कोषकार अभी तक पयार्यवाची शब्दों से परिचित रहे हैं समानार्थक दीखने वाले शब्दों अर्थों से 'शेड्स' के कितने अंतर हो सकते हैं – कितने अंतरों को देखा और प्रेषित किया जा सकता है – यह अनुभूति 'नदी के द्वीप' के पाठकों को विशेष उपलब्ध होगी ।"[2]

अज्ञेय की भाषा की विशेषताओं को लक्षित करते हुए **भगवतशरण उपाध्याय** का मत है कि, 'उपन्यासकार की भाव-सम्पदा का उद्-घाटन उसकी अप्रतिम शब्द-शक्ति करती है । उसकी शब्द-सम्पदा इतनी व्यापक इतनी सम्पन्न है कि कंगाल भाषा भी निहाल हो उठती है । सूक्ष्म से सूक्ष्म अभिव्यंजना शब्द-वैभव से मूर्तिमान हो उठती है, भाव सनाथ, साकार ।.....में उसके शब्द-वैभव का अभिनन्दन करता हूँ ।"[3]

समीक्षकों की इस तरह की टिप्पणियां पाठक को असमंजस्य में डालती हैं , जिससे पाठक रचनाकार को पढ़ने से पहले ही मुश्किल व पेचीदा समझ किनारे कर देता हैं । यह बात सही है कि अज्ञेय की गहरी पैठ शब्द की आत्मा में हैं । वे शब्द के लक्षणा और व्यंजना शक्ति का अधिक प्रयोग करते हैं । वे परम्परा से मिले उपन्यास की भाषा को स्वीकार नहीं करते बल्कि, विशिष्ट पात्रों की विशिष्ट मन:स्थिति को व्यक्त करने के लिए एक अलग भाषा-शब्दों का निर्माण करते हैं । इनके पात्र भाषा को ओढ़ते

---

[1] सत्यपाल चुघ – अज्ञेय के उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० सं०- 173

[2] डॉ० देवराज - आधुनिक समीक्षा, पृ० सं०- 135

[3] देवीशंकर अवस्थी - विवेक के रंग (भगवतशरण उपाध्याय - सुंदर पके फल में कीड़ें), पृ० सं०- 145-146

नहीं, जीते हैं ।[1] इनकी भाषा के शब्द-विधान में तत्सम्, तद्भव, उर्दू, अंग्रेजी आदि चलते शब्दों की बहुलता हैं। उदाहरण के लिए –

(चन्द्र कहता है)- " रेखा जी, आप – यू आर वेरी गुड कम्पनी-'

रेखा ने भी अंग्रेजी में, पर हल्के स्वर में कहा, 'एंड दैट्स ए वेरी नाइस कॉम्प्लीमेंट!"[2]

जैसे - **".....अगर किसी को चट से 'फ्रिजिड वूमन' का बिल्ला दे दिया जा सकता हो तो उसे लेकर माथा-पच्ची कौन करें?"**

इस वाक्य में 'फ्रिजिड वूमन' अंग्रेजी शब्द के साथ 'बिल्ला' हिन्दी व चलताऊ भाषा का शब्द का अनूठा प्रयोग किया गया हैं। 'बिल्ला' शब्द की जगह 'टैग' शब्द भी प्रयोग किया जा सकता था, लेकिन यह अज्ञेय की कलात्मकता ही है जो ऐसे शब्दों को जोड़ने में अधिक दिखाई देती हैं।

इस सन्दर्भ में **डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी** का मानना है कि, "नदी के द्वीप में 'ठेठ खड़ी बोली और अंग्रेजी के तत्सम् शब्द-रूप के साथ-साथ प्रयोग' के कारण नयी अर्थ-क्षमता विकसित हुई है।"[3]

उनकी भाषा में ध्वनियों के उत्तार-चढ़ाव, प्रभाव तथा उनके भावों आदि का संबंध विशिष्ट ध्वनियुक्त शब्दों के चयन से होता हैं। अज्ञेय ने अपने आंतरिक व बाह्य संवेदनाओं को सटीक व स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने में ऐसे ही शब्दों का स्तर चुना है। जैसे – **'अस्तीफ़ा'[4]**

---

[1] सच्चिदानंद वात्स्यायन – आधुनिक हिन्दी साहित्य, राजपाल एंड संस , 1976, पृ० सं०- 185 (अज्ञेय का कथन है – " हम जो भाषा बोलते है उसके द्वारा हम वह संसार चुन लेते है। जिसमें हम रहते है - या इसी बात को उलट कर यों कहें कि हम जो भाषा बोलते है, उसके निमित्त से हम उस जीवन-व्यवस्था के द्वारा चुन लिए जाते है जिसके हम अंग है।")

[2] नदी के द्वीप, पृ० सं०- 51

[3] डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी – अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ० सं० - 111

[4] नदी के द्वीप, पृ० सं०- 24

इसके स्थान पर 'इस्तीफ़ा' शब्द का प्रयोग किया जा सकता था, लेकिन यहाँ कठोर के स्थान पर कोमल ध्वनि-शब्द को चुना गया है । इस अनूठे प्रयोग के सन्दर्भ में **नलिन विलोचन शर्मा** का कहना है कि, "नदी के द्वीप में यत्र-तत्र हिन्दी का ऐसा दृढ़, बंधा, प्रौढ़ और परिष्कृत गद्य मिलता है जिसमें अंग्रेजी गद्य का उत्कर्ष आत्मसात हो गया है ।"[1]

अज्ञेय की भाषा में प्रतीकों, बिम्बों, अप्रस्तुत विधान के साथ-साथ अलंकारिता का पुट भी मिलता हैं । अज्ञेय ने पात्रों की चेतना के अंतर्सूत्रों को प्रतीकों द्वारा ही व्यक्त किया हैं। उपन्यास के आरम्भ में भुवन की कुहनी में हुई 'चुनचुनाहट' भी एक प्रतीकात्मक अर्थ रखती है । भुवन जो अपने मित्रों से अब तक यही कहते आया था कि 'स्त्री का सानिध्य पाकर वे असहज हो जाते है' आज यही असहजता उसके जड़ संवेगों को चुनचुनाहट के द्वारा आलोड़ित किए हुए हैं । इसी तरह उपन्यास के अन्य पात्र रेखा - आधुनिक स्त्री के आंतरिक परिवर्तनों का प्रतीक हैं । चन्द्रमाधव - दिखावटी, अलंकृत, बनावटी सभ्यता का प्रतीक हैं । गौरा - अपने व्यवहारानुसार निष्ठा, आस्था, विवाह मैटिरियल, भारतीय पत्नीत्व धर्म की मूरत का प्रतीक हैं । प्रतीकों के साथ-साथ बिम्बों – दृश्य बिम्ब, स्पशर्य बिम्ब, भावनात्मक बिम्ब, श्रृव्य बिम्ब आदि की संरचना भी की गई हैं । स्पशर्य बिम्ब का एक उदाहरण देखा जा सकता हैं –

".....तब चाँदनी शायद दोनों के सटे हुए चेहरों को लांघ के ऊपर उठती हुई फिर खो गयी थी ; रात का एक ठंडा स्पर्श उस खुली जगह से अंदर आता हुआ दोनों के तपे माथे और गालों को सहला रहा था ;.... ।"[2]

उपन्यास में प्राकृतिक छटाओं के वर्णन में उपमा, उत्प्रेक्षा एवं मानवीयकरण आदि अलंकारों का समाहार हुआ हैं । भाषा को संप्रेषित करने का एक विशेष ढंग होता है, जिसे 'शैली' कहते हैं । अज्ञेय ने अपने इस उपन्यास में मुख्यत: 'फ्लैश-बैक', 'वर्णनात्मक', 'मनोवैज्ञानिक', 'विश्लेषणात्मक', 'पत्र', 'डायरी' आदि शैलियों का प्रयोग किया हैं । इन

[1] नलिन विलोचन शर्मा – हिन्दी उपन्यास, लोकभारती प्रकाशन, पृ० सं०- 118

[2] अज्ञेय - नदी के द्वीप, पृ० सं०- 178

शैलियों के साथ-साथ वे अपनी कथा कहने के ढंग पर भी विशेष ध्यान देते हैं। गद्य के साथ-साथ पद्य की बुनावट, भावों को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए गीतों का समावेश किया हैं। शब्दों का 'अंडर-टोन' और 'ओवर-टोन' करने की अद्‌भुत प्रतिभा अज्ञेय में सर्वत्र लक्षित होती हैं। उनके शब्द-चयन में एक हरकत-सी दिखाई देती है जो कभी परिहास का संकेत करती है तो कभी आकर्षक-सी लगती है।

इस उपन्यास को लेकर आलोचकों ने जितने आरोप लगाए हैं, उनको मद्देनज़र रखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह उपन्यास व्यक्ति के भीतर की पीड़ा का दर्शन पेश करता है। आधुनिक समाज में विवाह को लेकर जो नए मानक गढ़े गए हैं कि विवाह का बंधन ही पर्याप्त नहीं है, उसमें व्यक्ति का व्यक्ति से आंतरिक सूत्र भी मिलना चाहिए। प्रेम में 'सह-जीवन' की नई पहल अज्ञेय ने उस दौरान की, जो आज भी कुछ व्यक्तियों के सामने असाधारण-सी बात हैं। वर्तमान समाज में ये सभी कानूनन स्वीकृत अधिकार है। व्यक्ति के निजी जीवन से जुड़े इन पहलुओं को शायद अज्ञेय ने करीब से समझा होगा तभी इतनी बारीकी से अपने उपन्यास में शामिल किया है।

3.1.3 अपने-अपने अजनबी

- **पाश्चात्य चिन्तन एवं विचारधारा**

यह अज्ञेय का तीसरा उपन्यास है जिसे अस्तित्ववादी विचारधारा से प्रभावित माना जाता है। अस्तित्ववाद एक दार्शनिक और साहित्यिक चिंतन पद्धति हैं। सर्वप्रथम इसका आरंभ दर्शन के क्षेत्र में हुआ और विभिन्न विद्वानों द्वारा विवेचित होकर यह जीवन के अन्य क्षेत्रों की ओर भी उन्मुख होता गया। यूरोप की भूमि पर दो महायुद्ध लड़े गए । युद्धकालीन विभीषिकाओं ने मानव जीवन की क्षुद्रताओं, प्रवंचनाओं, स्वार्थपरता एवं नृशंस कटुता का ऐसा खुलासा किया कि जीवन के समस्त शुभ पक्षों पर से मानवीय आस्था डगमगाने लगी। युद्धों के दौरान मृत्यु के जिस भयावह, असामयिक और अनिश्चित स्वरूप का साक्षात्कार यूरोपीय जनमानस ने किया, उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप जीवन का दृष्टिकोण बदल गया। यथार्थ की मार ने उन्हें जीवन के बारे में नए

सिरे से सोचने पर विवश कर दिया । जन्म और मृत्यु नामक दो स्थिर मूल्यों-सत्यों के बीच पहले भी मानव जीवन चलता था, पर जीवन की अत्यंत अनिश्चितता और मृत्यु के अनपेक्षित हस्तक्षेप से पूर्ववर्ती विचारधारा में व्यवधान पैदा हो गया । दो महायुद्धों की अबूझ जटिलता के साथ ही विज्ञान और प्रविधि के क्षेत्र में किए गए अविष्कारों ने "जहाँ मनुष्य को दैनदिन क्रिया-कलापों में अभूतपूर्व सहायता दी, वही उसने संघातक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण द्वारा ऐसी जटिल समस्या भी उत्पन्न कर दी कि लगने लगा कि मानवता की सरक्षा का कोई मार्ग नहीं है । सबसे बड़ी मजबूरी तो यह है कि अपने द्वारा पैदा की गयी मशीनों के आगे ही आदमी बौना हो गया है ।"[1]

दूसरे महायुद्ध के बाद फ्रांस के कुछ बुद्धिजीवी अस्तित्ववाद के प्रभाव में आए । इसके प्रवर्तक थे - 'सार्त्र' । इन्होनें ज्ञान की वस्तुगत कसौटी से इंकार किया । उसने कहा कि मनुष्य मनुष्यता को अर्जित करता है । ईश्वरहीन संसार में वह अपनी मानवीयता एवं उदेश्य निश्चित करने के विराट दायित्वबोध के कारण तीव्र वेदना का अनुभव करता है । चूंकि मनुष्य अपनी सभी स्थितियों के लिए स्वयं जिम्मेदार हैं । अत: अस्तित्व का मुख्यार्थ है - स्वतन्त्रता । इसकी निरीश्वरवादी विचारधारा के प्रमुख बिंदू है - अस्तित्व की अधिकता, असंगता, वरण की स्वतन्त्रता, ईश्वर की अनुपस्थिति, मृत्यु, चिंता, संघर्ष आदि । किन्तु अज्ञेय स्वयं पर सार्त्र-दर्शन की अपेक्षा 'कार्ल यास्पर्स' और 'गैब्रियल मार्सल' द्वारा प्रतिपादित आस्थावादी ईसाई अस्तित्ववाद की ओर मानते हैं ।

'एक बूंद सहसा उछली' में अज्ञेय लिखते है कि, "सार्त्र का साहित्यिक अस्तित्ववाद मेरे लिए विशेष आकर्षक कभी नहीं रहा है, यद्यपि मैनें पढ़ना और समझना उसे भी चाहा जैसे कि अन्य साहित्यिक सिद्धांतो को समझना चाहता रहा हूँ । लेकिन उन दो प्रवृत्तियों में, जिन्हें 'ईसाई अस्तित्ववाद और वैज्ञानिक अस्तित्ववाद कहा जाता है, मेरी विशेष रूचि रही है क्योंकि मैं समझता था और अब भी मानता हूँ कि यूरोप की

[1] डॉ० शिवप्रसाद सिंह – आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद, पृ० सं०-2

वर्तमान मन:स्थिति और संकट को समझने के लिए इन प्रवृत्तियों का अध्ययन आवश्यक है ।"[1]

अज्ञेय के इस स्पष्ट कथन के बाद भी आलोचकों ने इस उपन्यास को लेकर कई विरोधी विचार दिए हैं । कुछ आलोचक इसमें अस्तित्ववाद के अस्तित्व को स्वीकारते है तो कुछ विद्वान इसे शंका की दृष्टि से देखते हैं । **भारतभूषण अग्रवाल, डॉ देवराज उपाध्याय, रामदरश मिश्र** आदि ने इसे पहला अस्तित्ववादी उपन्यास माना है । **रामदरश मिश्र** का मत है कि, " 'अपने-अपने अजनबी' अस्तित्ववादी जीवनदर्शन को बड़ी सफायी से उभार कर रखनेवाला उपन्यास है। बर्फ से घिरे घर में बंद दो नारियों की मन:स्थितियों की बड़ी सूक्ष्म व्याख्या की गई है। बंद कमरे में स्थिर जीवन और आसंन्नन्धा मृत्यु की सूक्ष्म रेखाओं, बिम्बों और प्रतीकों द्वारा मार्मिक व्यंजना की गई है और साथ ही साथ अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन को उभारा गया है।"[2]

विषय और वस्तु दोनों दृष्टियों से इसे मृत्यु से साक्षात्कार का आख्यान मानने वाले **रामस्वरूप चतुर्वेदी** ने भी कहा है कि, 'उसमें अस्तित्ववाद का उपयोग करने की चेष्टा है ।'[3] साथ ही **भोलाभाई पटेल** का मानना है कि, 'इस उपन्यास पर अस्तित्ववाद का प्रभाव तो है पर इतना ही कि उसमे 'लेखक आरंभ से ही एक 'थीसिस' लेकर चलते है और उस थीसिस की स्थापना के लिए पात्र और परिस्थिति का निर्माण करते हैं ।'[4] **सत्यपाल चुघ** ने मत दिया है कि, 'अश्क जी इस उपन्यास को यूरोपीय सभ्यता पर व्यंग्य मानते है । तो **विश्वभ्भर मानव** भी इसे मृत्यु के साक्षात्कार का उपन्यास न कहकर यूरोप के जीवन पर, जहां आत्मीयता की भारी कमी है गहरा व्यंग्य मानते है । साथ ही इसे महत्त्वपूर्ण मानते हुए वैराग्य और निराशा का उपन्यास कहते हैं ।'[5]

---

[1] अज्ञेय – एक बूंद सहसा उछली , पृ० सं०- 69-70

[2] डॉ रामदरश मिश्र – हिन्दी उपन्यास एक अंतर्यात्रा, पृ० सं०- 110

[3] रामस्वरूप चतुर्वेदी – अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, पृ० सं०- 119

[4] भोलाभाई पटेल – अज्ञेय : एक अध्ययन , पृ० सं०- 247

[5] सत्यपाल चुघ – अज्ञेय के उपन्यासों की शिल्प विधि, पृ० सं०- 145

ज्योतिष जोशी ने 'विवेचना' की गोष्ठी में इस उपन्यास पर हुए विश्लेषण के वक्ताओं के मत दिए हैं - 'जिसमें अध्यक्ष **बालकृष्ण राव** ने इसे बौद्धिक-विलास और पांडित्य-प्रदर्शन की कृति कहा और इसकी भाषा को कृत्रिम और असहज कहा । **गंगा प्रसाद पाण्डेय** ने इसे अस्तित्ववादी उपन्यास कहते हुए इसमें सार्त्र के विकृत अस्तित्ववाद का प्रतिपादन बताया ।'[1]

इसके विपरीत कुछ आलोचकों ने इस उपन्यास में 'मृत्युबोध' की संवेदना को वैचारिक स्तर पर संप्रेषित माना है । अज्ञेय को घोर नियतिवादी मानने वाले **इन्द्रनाथ मदान** का कहना है कि, 'अपने-अपने अजनबी में आधुनिकता मानव-नियति को लिए हुए हैं । इसमें मौत का सामना है, इसे पहचानने की कोशिश है लेकिन जिन्दगी और मौत के बारे में चिंतन काफी बदल रहा है । पहले जीवन को वास्तव या असली माना जाता रहा है और मृत्यु को अवास्तव या नकली ।'[2]

इस बदलते चिंतन को स्पष्ट करते हुए **नवलकिशोर** का मानना है कि, 'मानववादी अस्तित्ववादी के लिए मृत्यु वह वस्तु नही है जो जीवन को अर्थ देती है, वह जिन्दगी के सारे मतलब छीन लेती है । वह मृत्यु को कोई गौरव नही देता । मरणशीलता का अनुभव मनुष्य को प्रमाणिक वरण की सामर्थ्य देता है - स्वतन्त्रता वरण में है ।'[3] इसके साथ ही वे इस उपन्यास की तुलना बंगला कथाकार ताराशंकर वंद्योपाध्याय के 'आरोग्य-निकेतन' से भी करते हैं । और कहते है कि - यह "मृत्यु त्रास का भी सम्यक अनुभव नही देता । लेखक का मृत्यु-चिंतन अपने स्तर पर ही जाता है ।...पूरा उपन्यास न केवल जीवन की गरिमा का खण्डन है, कृति के रूप में एक कमज़ोर रचना भी है ।"[4]

इसके विपरीत मृत्युवाद को अस्तित्ववाद का अंग मानते हुए **कुसुम त्रिवेदी** का मत है कि, "अज्ञेय के उपन्यासों में विशेषत: अपने-अपने अजनबी में निरुपित मृत्युवाद वास्तव में

---

[1] ज्योतिष जोशी – विमर्श और विवेचना, पृ० सं०- 87

[2] इन्द्रनाथ मदान – हिन्दी उपन्यास : एक नयी दृष्टि, पृ० सं०- 67

[3] नवलकिशोर – आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता, पृ० सं०- 97

[4] सं० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी –अज्ञेय (लेख – उपन्यासकार अज्ञेय – नवलकिशोर), पृ० सं०- 103-104

अस्तित्ववाद का ही एक अंग है । अस्तित्ववाद में मृत्यु की अनिवार्यता उसकी विसंगति और उसके त्रास को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है ।"[1]

इसके अलावा कुछ आलोचक ने अस्तित्ववाद के ईश्वर-अनीश्वरवाद से जोड़ा है । इस परिपेक्ष्य में **डॉ त्रिभुवन सिंह** का कहना है कि, "जिस प्रकार अस्तित्ववादी दर्शन में ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दो धाराओं का प्रवाह मिलता है, उसी प्रकार इस उपन्यास में भी 'योके' अनीश्वरवादी धारा का और 'सेल्मा' ईश्वरवादी धारा का प्रतिनिधित्व करती है ।"[2] साथ ही इसे 'विचार प्रधान उपन्यास कोटि में रखते है ।

आलोचकों के इन आरोपों-प्रत्यारोपों को मद्देनज़र रखकर देखा जाए तो अधिकांशत: अस्तित्ववाद का प्रभाव मानते हैं । लेकिन इस उपन्यास के विषय में **विद्यानिवास मिश्र** ने अज्ञेय के बारे में कहा है कि, "अपने पुराने मित्र मार्टिन आलवुड के निमन्त्रण पर बर्फ में यात्रा करते-करते एक बार भटके भी । इसी यात्रा के आस-पास स्वीडी लेखिका सारा लीडमैंन ने बर्फ में कैद हो जाने की एक वास्तविक घटना की बात की थी कि ऐसी परिस्थिति की अंतिम परिणति असहिष्णुता में होनी अनिवार्य है । पर अज्ञेय को यह लगा कि यहाँ भारतीय दृष्टि भिन्न है जो पीड़ा और पीड़ा के भोग को एक नहीं मानती ।....इस यात्रा ने 'इन्द्रधनुष रौदें हुए ये', 'अपने-अपने अजनबी', एवं 'एक बूंद सहसा उछली' को प्रेरणा दी ।"[3]

स्वयं **अज्ञेय ने भी एक साक्षात्कार में इस उपन्यास के प्रेरणा सूत्र बताए है -**

"मैं ऐसा समझता था, अब भी मानता हूँ कि पश्चिम भरसक मृत्यु को स्वीकार नहीं करना चाहता है (अपनी चेतना के क्षेत्र में भी नहीं आने देना चाहता । और उसकी सभ्यता की, उसके मनोविज्ञान की, बहुत-सी समस्याएं इससे पैदा होती है ।) और हमारी दृष्टि यह है कि मृत्यु जीवन से अलग नहीं है, जीवन की जो समग्र प्रक्रिया है उसमें जैसे जन्म लेना अनिवार्य है वैसे मरना भी अनिवार्य है ।...उस उपन्यास (अपने-अपने अजनबी) में यह

---

[1] कुसुम त्रिवेदी – अज्ञेय की औपन्यासिक कृत्तियाँ, पृ० सं०- 74

[2] डॉ त्रिभुवन सिंह – हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग, पृ० सं०- 229

[3] विद्यानिवास मिश्र – आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि, पृ० सं०- 17

बात थी कि जब मृत्यु एक बहुत बड़े सत्य के रूप में सामने आती है, तब अलग-अलग सभ्यता उसका कैसे सामना करती है।"[1] उपन्यास में बाढ़ का एक दृश्य आता है जिसकी प्रेरणा का श्रेय अज्ञेय, रघुवीर सहाय को देते हैं।[2]

बहरहाल देखा जाए तो इस उपन्यास की वस्तु है मृत्यु से साक्षात्कार। किस प्रकार मृत्यु से साक्षात् अपनों को अजनबी कर देता है और अजनबियों को अपना, किस प्रकार मृत्यु स्वयं कुछ के लिए अपनी होती है और कुछ के लिए अजनबी।'[3] इसका कथानक तीन खंडों में बंटा है – (क) योके और सेल्मा (ख) सेल्मा (ग) योके। प्रत्येक खंड का निर्माण दो पात्रों के माध्यम से हुआ हैं। प्रथम खंड में योके और सेल्मा की कथा है, दूसरे में सेल्मा और यान की, तीसरे में योके और जगन्नाथन के जीवन से जुड़े प्रसंग हैं। दूसरे खंड के कथा-सूत्र में फोटोग्राफर की उपस्थिति और उसके लोप पर बल दिया गया है। इसमें कुछ विशेष घटनाएँ ही कथानक को गढ़ती है जैसे – काठ के घर में दबी 'योके' और 'सेल्मा' का परस्पर विरोधी दृष्टिकोण, बाढ़ से प्रभावित नगर के एक टूटे पुल पर फँसे सेल्मा और यान का विरोधी दृष्टिकोण और अंत में योके द्वारा मृत्यु का वरण। उपन्यास में योके को इस ढंग से प्रस्तुत किया गया है कि वह सभी पात्रों एवं खंडों के सम्पर्क में आकर बिखरे कथासूत्रों को समेटती हैं। पात्रों के इस विरोधी दृष्टिकोण के माध्यम से अज्ञेय ने विश्व की मुख्य जीवन-चिंताओं का वर्णन किया हैं। पूर्व की दृष्टि से सेल्मा की सृष्टि की गई है तो पश्चिम की मन:स्थिति योके व्यक्त करती है। जिसमें सेल्मा ईश्वर और मृत्यु के अस्तित्व की पक्षधर है तो दूसरी ओर योके इन दोनों को भ्रम मानती है। मृत्यु के सम्बन्ध में योके का मानना है कि, **"... मैं मृत्यु को नहीं मानती, न ही मान सकती, नहीं मानना चाहती! मृत्यु एक झूठ है, क्योंकि वह जीवन का खण्डन है।"[4]**

---

[1] अज्ञेय – अपने बारे में : एक साक्षात्कार, रेडियो-जीवनी, पृ० सं०-45-46

[2] वही , पृ० सं०- 49

[3] अज्ञेय – जोग लिखी, पृ० सं०- 115

[4] अज्ञेय – अपने-अपने अजनबी , पृ० सं०- 50

मृत्यु-बोध दोनों को ही है, किन्तु दोनों में बड़ा फर्क है – 'सेल्मा मरती हुई भी जिए जा रही है और मैं हूँ कि जीती हुई भी मर रही हूँ और मरना चाह रही हूँ।'[1] बर्फ के घर में दबी दोनों पात्र नियति की शिकार बनती है। दोनों को एक दूसरे की उपस्थिति खटकती है। लेकिन वे इस कठोर नियति के आगे एक-दूसरे को सहने के लिए मजबूर है। सेल्मा अपने जीवन के अंतिम दिनों में किसी की उपस्थिति नही चाहती थी, अपनी मृत्यु का गवाह किसी को नहीं रखना चाहती थी, किन्तु उसको यह स्वतंत्र निर्णय का अधिकार नहीं। यही योके को झेलना पड़ा जो अनजाने ही इस कैद का हिस्सा बन जाती है। केंसर पीड़ित सेल्मा को योके जब भरपूर जीते मुस्कुराते देखती है तो ईर्ष्या, क्रोध, कुंठा से भर जाती है।

योके की इस कुंठा-पीड़ा का समाधान सेल्मा उसे बतलाती है कि, **"तुम जो अपने को स्वतंत्र मानती हो, वही सब कठिनाईयों की जड़ है। न तो हम अकेले है ; न हम स्वतंत्र है। बल्कि अकेले नहीं हैं और हो नहीं सकते, इसलिए स्वतंत्र नहीं है ; और इसलिए चुनने या फैसला करने का अधिकार हमारा नहीं है।.....कही भी वरण की स्वतन्त्रता नही है। हम अपने बन्धु का वरण नहीं कर सकते - और अपने अजनबी का भी नहीं.....क्या हम इतने भी स्वतंत्र नहीं है कि अजनबी से पहचान कर ले?"**[2]

उपन्यास में जब सेल्मा की मृत्यु हो जाती है तब योके जीवन की इस कड़वी सच्चाई से वाकिफ हो जाती है और स्वयं से पूछती है कि, **"क्या कही भी ईश्वर है, सिवा मानवों के बीच के इस परस्पर क्षमा-याचना के सम्बन्ध को छोड़कर? ...तब यह सच है और ईश्वर है तो कही गहरे में इसी में होगा .. ।"**[3] योके का सतीत्व जर्मन सैनिकों द्वारा भंग कर दिया जाता है और अब वह योके नही वेश्या मरियम बन चुकी है। जीवन की अंतिम घड़ियों में एक भारतीय पुरुष – जगन्नाथन को अपने मन की पीड़ा सुनाती है और जहर खाकर मृत्यु का वरण करती है। 'उपन्यास में जगन्नाथन एक भारतीय आस्था का प्रतीक

---

[1] वही, पृ० सं०- 35

[2] अज्ञेय – अपने अपने अजनबी, पृ० सं०- 101

[3] अज्ञेय – अपने अपने अजनबी, पृ० सं०- 98-99

है । ऐसी आस्था जिसमें पूर्व-पश्चिम दोनों की दृष्टि मिल सकती है ।'[1] इस उपन्यास में संवेदना के बजाए विचारों और चिन्तनगत प्रत्ययों की प्रमुखता हैं । लेखक ने मृत्यु के साक्षात्कार और वरण की असाधारण परिस्थितियों के चयन को सीमित कथानक द्वारा प्रस्तुत किया हैं ।

- **भाषा-शिल्प के नए प्रयोग**

शिल्प की दृष्टि से यह उपन्यास पहले 'नाटक' विधा में लिखा गया था । जिसके सम्बन्ध में अज्ञेय स्वयं जानकारी देते हुए कहता है कि, 'अपने-अपने अजनबी कई वर्षों तक उस कथा को सोचता रहा, बल्कि जेल में था यानि 31-32 में, पहली बार उसे लिखने की कोशिश की थी, नाटक के रूप में और उसका डेढ़ अंक लिखा भी था - उसमें भी तीन अंक की योजना थी । साथ ही वे कहते है कि यह उपन्यास लिखा नहीं लिखाया गया है । मतलब जब यह उपन्यास रचा जा रहा था उस समय अपनी ही आवाज अपने ही बनाए वाक्य सुनता भी जा रहा था अर्थात् यह उपन्यास डिक्टेट करके लिखाया गया है । इसका कथानक पहले दोनों उपन्यासों की तुलना में सीमित व संकुचित है । इस विषय में **डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी** का मानना है कि, "शिल्प के स्तर पर काफी गठित होने पर भी विधान (स्ट्रक्चर) की दृष्टि से 'अपने-अपने अजनबी' कुछ कमजोर पड़ता है, या कि पूरी तरह सन्तोषजनक नहीं हो पाता । इसका मुख्य कारण उपन्यास के कथानक में बहुत असाधारण परिस्थितियों का चुना जाना हैं ।"[2] इसकी भाषा को साधारण समाज के निकटवर्ती बनाया गया है, पहले के उपन्यासों की भाषा संस्कृतनिष्ठ अधिक है ।'[3] इस उपन्यास की भाषा में लेखक ने अभिजात्य और तत्सम् शब्दों का मोह कुछ त्याग दिया है । जैसे – **'क्यों उसे तकलीफ़ होती देख मुझे संतोष होता है? लेकिन तकलीफ़ तो शायद उसे बराबर रहती है - क्यों उसे तकलीफ़ से टूटते हुए देखकर मुझे तसल्ली**

---

[1] ज्ञानोदय, जुलाई 63 , अपने अपने अजनबी : लेखक की दृष्टि में , पृ० सं०- 20

[2] डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी - अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, पृ० सं०- 124

[3] संपा कृष्णदत्त पालीवाल – अज्ञेय से साक्षात्कार ,पृ० सं०- 277

होती है? कितना कमीना है यह संतोष, जो दूसरों को हारते और टूटते हुए देखकर होता है -... ।'[1]

पूरे उपन्यास में **भाषा** एकदम सादी और निराग्रह प्रयोग हुई है । 'यहाँ भाषा का मूलतः ठेठ, सहज और तद्भव रूप सहसा उभरता है, जिसका प्रयोग लेखक अपनी कविता में करता रहा है । काव्य-भाषा के इस रूप में खड़खड़ापन है, जो सामान्यत: बोलचाल की साधारण भाषा का गुण माना जाता है ।'[2] इसमें उन्होनें संकेत शैली, फ्लैश-बैक, विस्थापन, डायरी, मनोवैज्ञानिक आदि कई शैलियों का प्रयोग किया हैं । जिससे इसके कथानक में एक नाटकीयता लक्षित होती है । 'डायरी शैली' का प्रयोग योके के द्वारा हुआ है । 15 दिसम्बर से 14 जनवरी तक योके डायरी लिखती है । वह बर्फ में दफन हो जाने के 10वें दिन से डायरी लिखना शुरू करती है । उन्ही पन्नों के सहारे पाठक उस घटनाहीन स्थिति में सेल्मा और योके के बीच के तनावों को समझ पाता है और मृत्यु व जिजीविषा का द्वंद्व दृष्टिगोचर होता है । उपन्यास का शीर्षक प्रतीकात्मक है - 'यों प्रतीकों के फिर अंत: प्रतीक, गूंजों की फिर प्रतिगूंज की गुंजाइश 'अपने-अपने अजनबी' शीर्षक में जितनी है, उतनी किसी दूसरे में न होती ।'[3]

स्पष्ट है यह उपन्यास काल और मृत्यु के प्रति दो संस्कृतियों और सभ्यताओं का चित्रण है । उपन्यास में घटना नहीं, भावना की प्रधानता है । सेल्मा में कारुण्य-भाव की प्रधानता है - सब कुछ को सहलाता हुआ कारुण्य-भाव, आग को भी असिसता हुआ कारुण्य-भाव, योके जीवन के अंतिम क्षणों में करुणा जगाती है और मानव होने का ऋण चुकाती है । इसका एक अंश डायरी शैली में है, बाकी विवरणात्मक एवं चरित्र प्रधान है । कुछ आलोचकों ने इस उपन्यास को हल्के मन से विश्लेषित कर बेमाने ताने कसे है । यह उपन्यास मानव-नियति को लेकर लिखा गया है । जिस पर अस्तित्ववाद का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है ।

---

[1] अज्ञेय – अपने-अपने अजनबी, पृ० सं०- 47

[2] सं० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी – अज्ञेय (लेख- अपने-अपने अजनबी- रामस्वरूप चतुर्वेदी) , पृ० सं०- 165

[3] अज्ञेय – जोग लिखी, पृ० सं०- 118

3.2 अज्ञेय की कहानियाँ : पाठ, बहस और मूल्यांकन

हिन्दी कथा-साहित्य में उपन्यासों के साथ-साथ अज्ञेय ने कहानियाँ भी प्रचुर मात्रा में लिखी। कहानीकार अज्ञेय का कथा-संसार सन् 1929 से 1959 तक फैला हुआ है। इनकी पहली कहानी 'जिज्ञासा' मूल रूप में 1929 में लिखी गई थी तथा आखिरी 1959 में – 'हजामत का साबुन'। कुल मिलाकर अज्ञेय ने 67 कहानियाँ लिखी हैं। इसके बाद वे स्वयं को कहानी-लेखन से अलग कर लेते हैं। जिसके पीछे भी आलोचकों ने कई मनघडंत बातें बनाई हैं। अज्ञेय 1975 में कहानी से अलग होने का कारण बताते हुए कहते है कि, "रचना कर्म मेरे लिए अर्थवत्ता की खोज से जुड़ा रहा है और यही खोज मुझे कहानी से दूर ले गई है ; क्योंकि कहानी को मैनें उसके नाकाफ़ी पाया।"[1] अज्ञेय की दृष्टि में कहानी का क्या अभीष्ट है? यह स्पष्ट करते हुए **अज्ञेय** स्वयं कहते है कि, "लघु कलेवर अथवा शब्द-संयम, अंशों की सम्यक व्यंजना के लिए अंश का विवेकपूर्ण चयन, अर्थ गर्म संकेतों की अनुगूँज के द्वारा ज्ञात की परिधि से असीम अज्ञात की गहराई की माप और इस प्रकार क्रमश: अपने भीतर के अव्यक्त को जगाकर सहसा बाहर के रहस्यमय से सहज अंतरंग परिचय करा देना-यही कहानी का अभीष्ट है और इसी में उसकी सफलता।"[2]

इसके अलावा भी **अज्ञेय 'जयदोल'** की भूमिका में कहते है कि, "उपन्यासों में एक जीवन-दर्शन होता है, किन्तु कहानियों के सत्य में उतनी व्याप्ति नहीं होती। अधिक से अधिक वह एक मन:स्थिति का सत्य होता है, एक दौड़ती लहर का गति-चित्र।"[3]

अज्ञेय की कहानियों के प्रकाशित संग्रहों का क्रम इस प्रकार है - 'विपथगा' (1937), 'परम्परा' (1944), 'कोठरी की बात' (1945), 'शरणार्थी' (1948), 'जयदोल' (1951), 'अमरवल्लरी और अन्य कहानियाँ'(1954), कड़ियाँ और अन्य कहानियाँ' (1951), 'ये तेरे प्रतिरूप' (1961)। इसके अलावा बाद में इनकी सभी कहानियों को

---

[1] संपा० डॉ सावित्री मिश्र - अज्ञेय : सृजन और सन्दर्भ , पृ० सं०- 115

[2] अज्ञेय – हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० सं०- 111-112

[3] अज्ञेय – जयदोल, भूमिका, पृ० सं०- 3

दो खंडों में प्रकाशित किया गया - 'अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ - 1 : छोड़ा हुआ रास्ता' (30 कहानियाँ), 'अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ - 2 : लौटती पंगडंडियाँ' (37 कहानियाँ)। इन संकलनों में शामिल सभी कहानियों को विभिन्न विद्वानों ने कहानी-विषय एवं शैली के तहत् अलग-अलग वर्गो में विभाजित किया है। **डॉ० देवराज उपाध्याय** ने अज्ञेय की कहानियों को तीन वर्गों में बाँटा है -

1. क्रांतिकारी जीवन से सम्बन्धित 2. प्रेम सम्बन्धी 3. मनौवैज्ञानिक ।"[1]

हिन्दी का गद्य साहित्य में **डॉ० रामचन्द्र तिवारी** ने इनकी कहानियों को 3 वर्गों में रखा है -

1. क्रांतिकारी जीवन से सम्बन्धित कहानियाँ 2. सामजिक सन्दर्भों से जुड़ी कहानियाँ 3. सेक्स एवं रोमांस से सम्बन्धित कहानियाँ।"[2]

एक ओर समीक्षक **डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय** ने अज्ञेय की सभी कहानियों को मात्र दो ही वर्ग में समेटते हुए कहा है कि, "एक वर्ग तो उन कहानियों का - जिनमें उन्होनें सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन करने और मानव-सत्य को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। इस दृष्टि से 'जीवन-शक्ति' कहानी बहुत उल्लेखनीय रचना है । दूसरे ढंग की कहानियाँ पूर्णतया आत्मपरक है और वैयक्तिक संचेतना को लेकर लिखी गयी है।"[3]

इसके अलावा **डॉ लक्ष्मीनारायण लाल** ने अज्ञेय की कहानियों को 4 भागों में विभक्त किया है -

---

[1] देवराज – आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान, पृ० सं०- 249

[2] रामचन्द्र तिवारी – हिन्दी गद्य साहित्य, पृ० सं०- 560

[3] लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय – आधुनिक कहानी का परिपार्श्व, पृ० सं०- 90-91

(क) सोद्येश्य सामाजिक आलोचना सम्बन्धी सम्बन्धी (ख) राजनीतिक बंदी जीवन (ग) चरित्र-विश्लेषण सम्बन्धी (घ) प्रतीकों के सहारे मानसिक संघर्षों के अध्ययन सम्बन्धी ।"[1]

इन सभी आलोचकों के साथ-साथ स्वयं **अज्ञेय** ने 'लौटती पगडंडियाँ' संग्रह की भूमिका में अपनी सम्पूर्ण कहानियों को 4 भागों में बाँटा है –

1. क्रांतिकारी जीवन से सम्बन्धित कहानियाँ
2. समाज एवं उससे मिलने वाले सम्मान के खोखलेपन का अनुभव कराने वाली कहानियाँ
3. सैनिक जीवन से सम्बन्धित कहानियाँ
4. भारत-विभाजन के विभ्राट और उससे जुड़ी हुई मन:स्थितियों की कहानियाँ । '[2]

पहले वर्ग में अज्ञेय ने क्रान्ति से जुड़ी, क्रान्ति के लिए मर-मिटने वाले पुरुष-स्त्रियों के आदर्शवादी, भावुक एवं रोमानी रूप को प्रस्तुत किया हैं । इसमें हारिति, द्रोही, विपथगा, मिलन, कैसांडा का अभिशाप, पुलिस की सीटी, अकलंक, कड़ियाँ, अंगोरा के पथ पर, शत्रु, क्षमा, अमरवल्लरी आदि कहानियों को रखा जा सकता हैं । क्रान्ति की आड़ में अपनी स्वार्थपूर्ति, साथियों का बहुमूल्य जीवन दाँव पर लगाकर क्रान्ति का मज़ाक उड़ाने वाले अधिकारी है तो वही दूसरी ओर क्रान्ति के नाम पर अपना सर्वस्व लुटाने वाले पात्र है । ऐसी ही एक पात्र है – **हारिति** । जो अपने कप्तान का संदेश लेकर, अपने प्रेम और साथियों के प्राण इस अनुष्ठान-यज्ञ में होम कर जब जानती है कि वह संदेश एक मामूली प्रेम-पत्र था तो उसका अंतर्मन चीख उठता है - "यही था काम, जिसके लिए उसने इतनी मेहनत की थी ; यही थी सेवा जिसके लिए उसने इतना

[1] डॉ लक्ष्मीनारायण लाल – हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास, पृ० सं०- 261

[2] अज्ञेय – लौटती पगडंडियाँ (भूमिका), पृ० सं०- 7-10

बलिदान किया था.... ।"[1] कहानी में बाह्य परिवेश से निर्मित 'हारिति' के अंतर्व्यक्तित्व को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया हैं।

अज्ञेय ने क्रान्ति के परिवेश में प्रेम और विश्वास के कोमल तन्तुओं को गूंथकर **'द्रोही'** नामक कहानी में पेश किया है। प्रेम के दो रूप है – एक नितांत वैयक्तिक प्रेम और दूसरा उसका उदात्त रूप – देशप्रेम। द्रोही जिसे प्रेम मान बैठा है, एक झूठे कवच के सहारे स्वयं को बचाने चला था, वह अंतत: क्या निकला – "क्या मेरा ही प्रेम मिथ्या है, कुत्सित है, गह्रित है? क्या मेरे ही हृदय में दुवार्सना प्रेम का अभिनय कर रही है?"[2] यह कहानी व्यक्ति-चरित्र की सम्वेदना को उजागर करती हैं। कहानी का शीर्षक सार्थक करने वाला पात्र 'रघुनाथ' सिर से पैर तक द्रोही हैं। उसका द्रोह तीन स्तर पर दिखाई देता हैं – (क) सरकार के प्रति (ख) देश के प्रति (ग) धर्म के प्रति। द्रोह के इन समस्त स्तरों को पार करने के बाद मन-ही-मन कभी उसे पश्चाताप होता है तो कभी आत्मविश्लेषण करता हुआ स्वयं को ही सफाई देने की कोशिश करता हैं।

'अकलंक' और **'अभिशापिता'** चीनी पृष्ठभूमि पर रचित कहानियाँ हैं। यहाँ भी कर्त्तव्य और प्रेम के संघर्ष, क्रांतिकारियों के मध्य विश्वास की अवधारणा और संदेह के घेरों की ओर संकेत किया गया है। मार्टिन क्रान्ति के नियमों के कारण चुप्पी साध लेता है, पर उसकी चुप्पी को उसका विश्वासघात माना जाता है। इसी तरह लियोग पर अविश्वास और संदेह किया जाता है।

रुसी क्रान्ति को लेकर मास्को की पृष्ठभूमि पर लिखी गई **'विपथगा'** में लेखक कहता है – "सफल क्रान्ति क्या है? असंख्य विफल जीवनियों का, असंख्य निष्फल प्रयत्नों का, असंख्य विस्मृत आहुतियों का अशान्तिपूर्ण किन्तु शान्तिजनक निष्कर्ष।"[3] कहानी का आधार 'क्रान्ति' हैं और क्रान्ति 'विपथगा' ही होती हैं। कहानीकार अज्ञेय ने यह कहानी

---

[1] अज्ञेय – अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ , हारिति, पृ० सं०- 55

[2] अज्ञेय – द्रोही , पृ० सं०- 78

[3] अज्ञेय – अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ , विपथगा, पृ० सं०- 92

अन्य पुरुष - एक अध्यापक के रूप में प्रस्तुत की हैं । कहानी की नायिका मेरिया इवानोवना एक क्रान्तिकारिणी स्त्री है, जो रुसी व्यवस्था को चुनौती देते हुए संघर्ष करती है । सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध इस क्रान्ति के लिए मेरिया को भारी मूल्य चुकाना पड़ता हैं - अपने पति को छोड़ना तथा अपने ही पिता की हत्या कर वह क्रान्तिकारिणी बनती हैं । इस कहानी में क्रान्ति के दो रूप अज्ञेय ने प्रस्तुत किए हैं - एक अहिंसात्मक, दूसरा हिंसात्मक । मेरिया कहती है - "अहिंसात्मक क्रांति! जो भूखे, नंगे, प्रपीड़ित हैं, उनको जाकर कहोगे, चुपचाप बिना आह भरे मरते जाओ । रोते हुए बच्चों से कहोगे, माता की छातियों की ओर मत देखो, बाहर जाकर मिट्टी-पत्थर खाकर भूख मिटाओ! और अत्याचारी शासक तुम्हारी ओर देखकर मन-ही-मन हंसेंगे, और तुम्हारी अहिंसा की आड़ में निर्धनों का रक्त चूसकर ले जाएगें!"[1] जीवन की तमाम यातनाओं को झेलती हुई मेरिया स्वतंत्रता के लिए विपथगा की देवी बनती हैं ।

रुसी पृष्ठभूमि पर **'मिलन'** कहानी भी लिखी गई है । इसमें दिमित्री और सजिर्यस दो विभिन्न विचारधारा के विद्यार्थी है । दोनों 1920 में एक निश्चित दिन पर मिलने के लिए वचनबद्ध होते है और अलग हो जाते है । इस कहानी में लेखक ने राष्ट्र प्रेम को व्यक्ति से भी सर्वोपरि प्रदर्शित किया है, जिसके सामने सारी अपेक्षाएं छोटी पड़ जाती हैं । कहानीकार अज्ञेय ने कहानी के कथानक पर न कोई टिप्पणी की है न ही अपनी कोई सफाई पेश की हैं । कहानी का अंत लेखक प्रश्नवाचक चिह्न लगाकर छोड़ देता है, जिसका निर्णय वे पाठकों के विवेक पर छोड़ देते हैं ।

तुर्क और ग्रीक युद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखी गई **'अंगोरा के पथ पर'** एक मार्मिक कहानी है । इसमें दो विचारधाराओं - साम्राज्यवाद और साम्यवाद पर आधारित लोकतंत्र की टकराहट की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती हैं । साम्राज्यवादी शक्तियों की अपार लिप्सा और युद्ध के दुष्परिणामों को उजागर करती यह कहानी एंटनी के माध्यम से क्रान्ति हेतु प्रेम-बलिदान को पेश करती है । कहानी में एंटनी और कार्ल दोनों विरोधी मनोवृति के व्यक्ति पात्र हैं । एंटनी को जहाँ अपने पूर्वज-सिकन्दर पर अतिशय गर्व है, वहाँ कार्ल के

[1] अज्ञेय – अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ , विपथगा, पृ० सं०- 96

मन में उसके प्रति घोर घृणा हैं। क्रांतिकारी 'कार्ल' कहता है कि, "सबको स्वतंत्र होने का अधिकार है, कि एक देश पर दूसरे देश का अधिकार स्थापित करना नीचता है और अन्याय की सीमा है...।"[1] इस कहानी की कथा वास्तविक है, 'अंगोरा' नाम भी वास्तविक है। कहानी के पात्र काल्पनिक है, जिनके माध्यम से लेखक ने क्रांतिकारी व्यक्तित्व का एक रूप प्रस्तुत किया हैं।

'कैसांड्रा का अभिशाप' क्यूबा की पृष्ठभूमि पर आधारित कहानी है। अपोलो अपने प्रणय निवेदन के ठुकरा दिए जाने पर यूनानी देवी कैसांड्रा को यह शाप देता है कि वह जो भी भविष्यवाणी करेगी उस पर कोई विश्वास नहीं करेगा। कहानी के अंत में मेरिया कार्मेन को साम्राज्यवादी गोली का शिकार बनते देखती है और मिगेल को भीड़ के नीचे दबकर मरते हुए, पर वह अपनी ही आँखों पर विश्वास नही कर पाती। इस कहानी के माध्यम से लेखक लोगों में निष्ठा व बलिदान भावना पुष्ट करना चाहता है। इसमें प्रेम-सम्वेदना और क्रान्ति के विचारों की टकराहट हैं। भावना और कर्तव्य के बीच कर्तव्य भावना को दबाकर उस पर विजयी होता हैं। वैयक्तिक प्रेम के सामने देश और उसकी स्वाधीनता सर्वोपरि हैं। **'छाया'** कहानी की सुषमा जेल को कोठरी में पड़ी गीत गाती है – 'वेदी तेरी पर माँ, हम क्या शीश नवाए? पूजा को ठहरे या समर-क्षेत्र में जाए?'[2] सुषमा मानो अरुण की बहन शारदा की छाया है। कहानी का शीर्षक प्रतीकात्मक हैं – दोनों ही छाया हैं लेकिन अलग-अलग व्यक्तित्व के साथ। लेखक ने अरुण व सुषमा के माध्यम से साम्राज्यवादी व्यवस्था के प्रतिकार और प्रेम के तत्वों को प्रस्तुत किया है। **'क्षमा'** कहानी में मानवीय संवेदन और कर्तव्य के बीच के द्वंद्व को दिखाया गया है। एक क्रान्तिकारी के सभी दोष क्षम्य है पर अविश्वास नहीं। पूरी कहानी सम्बोधन-शैली में लिखी गई हैं।

'एक घंटे में' रजनी और प्रभाकर, पति-पत्नी की कहानी है। इसमें दो विरोधी व्यवस्थाओं की टकराहट सुनाई देती हैं। रजनी प्रतिष्ठित परिवार की स्त्री है, जिसका गरीबों-अछूतों

---

[1] अज्ञेय – अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ, पृ० सं०- 169

[2] अज्ञेय – अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ, छाया, पृ० सं०- 135

से दूर तक कोई लेना देना नही । वह अपने क्रांतिकारी पति के अनुकूल स्वयं को ढाल लेती है । दापत्य-प्रेम उदात्त होकर देश-प्रेम, सेवाभाव में परिणत हो जाता हैं । **'शत्रु'** घटना प्रधान न होकर चिंतन प्रधान कहानी हैं । कहानी का नायक 'ज्ञान' एक रात सपना देखता है कि वह भगवान का प्रतिनिधि है और उसे संसार को सुपथ पर लाने तथा पुनर्निर्माण का कार्य सोंपा गया हैं । इस संघर्ष में उसे ज्ञात होता है कि शत्रु बाहरी ही नहीं होते, भीतरी भी होते हैं । आत्म-संघर्ष के साथ ही जीवन की चुनौतियों से पार पाया जा सकता हैं ।

'पैगोड़ा वृक्ष' एक प्रतीकात्मक कहानी है, जिसमें सुखदा वैधव्य की केंचुल उतार क्रान्ति की राह चुनती है, क्योंकि एक क्रान्तिकारी युवक ने अपने उत्सर्ग से उसके मन में राष्ट्र-प्रेम-कर्म का भाव जगाया है । क्रांतिकारी जीवन से जुड़ी सभी कहानियों की पृष्ठभूमि देशी-विदेशी आधार बनाकर लिखी गई हैं ।

दूसरे वर्ग की कहानियों के बारे में **अज्ञेय** लिखते है कि, "पुराने गुप्तकर्मी आतंकवादी का खुले में एक 'जाने हुए' व्यक्ति के रूप में जीने का, समाज से मिलने वाले सम्मान के बीच उस समाज के और उस सम्मान के खोखलेपन का अनुभव करने का यह युग दूसरी खेप का युग है । .....इन कहानियों का स्वर काफी तीखा रहा है, पर इनका आक्रोश व्यंग्य मिश्रित है ।"[1]

इस वर्ग में जिजीविषा, चिड़ियाघर, पहाड़ी जीवन, खितीन बाबू, शरणार्थी, परम्परा, सभ्यता का एक दिन, नम्बर दस, नयी कहानी का प्लाट, इंदु की बेटी, पुरुष का भाग्य, नीली हँसी, शांति हँसी थी, गृहत्याग, साँप, हजामत का साबुन आदि कहानियाँ आती हैं ।

'जिजीविषा' कहानी का शीर्षक ही उसकी वस्तु और अर्थवत्ता को व्यंजित करता हैं । इसमें एक ओर जहाँ मेमों के चिकने-चुपड़े, मखमल में लिपटे और प्लेट में 'सामन' मच्छी खाने वाले कुत्ते है तो वही दूसरी ओर बिखरे और उलझे हुए जूं-भरे केश, बेवाइयों

[1] अज्ञेय – अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ , भूमिका, पृ० सं०- 20

वाले नंगे पैर और कलकत्ते की धुप, बारिश और मैल से बिल्कुल काली पड़ गयी बातरा और भिखमंगा दामू भी है। यह संथाल-कन्या बातरा के असीम धैर्य और जीवनेच्छा की कहानी है। उसके अपने बार-बार टूट कर भी वह बिखरती नही है, बल्कि नए सिरे से अपने जीवन को जीने का संकल्प करती है। **'चिड़ियाघर'** एक मनोवैज्ञानिक कहानी है, जिसमें कही-कही दर्शन और गहन-चिन्तन की रेखा दिखाई देती हैं। कहानी में प्रोफेसर पति स्वप्न में ही गाइड द्वारा प्रत्येक पशु और अंत में चिड़ियाघर के साहब का वर्णन सुनता है। उसे ऐसा लगता है कि मानो यह समस्त संसार ही एक चिड़ियाघर है। इस कहानी में सामंती मूल्यों का उद्घाटन भी हुआ हैं।

'पहाड़ी जीवन' एक भावुक युवा गिरीश की कहानी है जो अपनी साहित्यिक प्रतिभा को जगाने के लिए निष्कलुष पहाड़ी जीवन से प्रेरणा पाना चाहता है, पर वहाँ फैले मूल्यगत संक्रमण और सामाजिक विषमताओं को देखकर दंग रह जाता है। औरतें देह-व्यापार के लिए विवश है और बच्चों की मानसिकता ऐसी बन गई है कि सलाम करने से बक्शीश मिलती है। ऐसी ही एक ओर कहानी – **'बंदो का खुदा, खुदा के बंदे'** नगर की सभ्यता से ऊबे हुए आनन्द की मन:स्थिति बयान करती है। शहर के शोर में तो सब अकेले है ही, यह कालुष्य पहाड़ी जीवन पर भी छाया है। **'शांति हँसी थी'** के मूल में आर्थिक वैषम्य का चित्रण है। इसका शीर्षक ही जिज्ञासापरक व रहस्यमय हैं। कहानी की विषयवस्तु व्यक्ति की मूल-प्रवृत्ति 'भूख' पर आधारित हैं। पूरी कहानी जानकीदास के भीतर 'पांच मिनट' में घट जाती है। मैजिस्ट्रेट उसे पाँच मिनट की मोहलत देता है और शांति हँस उठती है जिसका अर्थ है कि उस बेर के लिए रोटी नहीं है।

'अछूते फूल' एक प्रतीकात्मक कहानी हैं। इसमें अछूत मीरा के माध्यम से एकाकी स्त्री की मनोवैज्ञानिक कुंठाओं को पेश किया हैं। उसका व्यक्तित्व अहंकार और परपीड़न से भरा हैं। अपने अहंकार के कारण ही वह आस-पास के व्यक्तियों और वस्तुओं को आँख उठाकर भी नहीं देखती। आधुनिकता के नाम पर पुरुषों को ठगने वाली मीरा अंत में स्वयं ठगी जाती है।

समाज के खोखलेपन को 'प्रेम' भी प्रस्तुत करता है। इस श्रेणी से जुड़ी भी कई कहानियाँ अज्ञेय ने लिखी है, यहाँ 'प्रेम' को विभिन्न रूपों में पेश किया गया हैं। **'अमरवल्लरी'** प्रेम के कारण ही भविष्य में भी हरी-भरी अमर बनी रहती है। प्रेम आईने की तरह स्वच्छ रहता है, प्रत्येक व्यक्ति उसमें अपना ही प्रतिबिम्ब पाता है और एक बार जब वह खण्डित होता है, तो जुड़ता नहीं। इसमें अंकित प्रेम मात्र अनुभूति की चीज़ है, जो मन को नए आलोक से भर देता है। **'सिगनेलर'** पत्र-शैली में लिखित यह कहानी भावुकता और प्रेम-सम्वेदना पर आधारित हैं। जबकि कही भी लेखक ने प्रेम की खुली अभिव्यक्ति नहीं दी, न ही किसी प्रकार की कोई सस्ती रोमानियत व्यक्त की हैं। इसमें बलराज प्रेम को निरंतर उपासना का पर्याय मानकर 8 वर्षों से आकाश में मोर्स पद्धति से प्रकाश-संकेत द्वारा प्रेम की अभिव्यक्ति करता है। संध्या, बलराज को भूल चुकी है पर जब वह जानती है कि ये 'सिगनल' उसे ही दिए गए थे तो बलराज के साथ हुई एक साधारण भेंट का असाधारण पक्ष वह समझ पाती है। प्रेम का मौन स्वरूप लक्षित किया है। **'मनसो'** कहानी की केन्द्रीय पात्र है, जिसके सौन्दर्य और व्यक्तित्व के केंद्र में ही सारी घटनाएं घटती हैं। इसमें भी प्रेम के सांकेतिक रुप का ही चित्रण हुआ है।

'रोंज/गैंग्रीन' अज्ञेय की चर्चित व विवादित कहानी है। इसका शीर्षक प्रतीकात्मक एवं मनोविश्लेषणात्मक हैं। जिसकी अर्थवत्ता कहानी की भीतरी मनोग्रन्थियों को खोलने के बाद खुलती हैं। यह जीवन की एकरसता, बोरियत, लापरवाही, यांत्रिकता, सम्बन्धों की दूरी, ठंडापन आदि के चित्र उकेरती हैं। मालती, माहेश्वर और टीटी के जीवन में एक ऐसी 'मोनोटोनी' है जो चुभती है। गैग्रींन के रोग की तरह लाइलाज़ बीमारी है। यंत्र की तरह सभी बस जीवन जीते जा रहे हैं। इसमें कहानीकार ने मध्यवर्गीय जीवन की विषमताओं और विडम्बनाओं को किया हैं। **'ताज की छाया में'** कला में स्वयं को खोकर जीवन के एक बहुमूल्य क्षण की अनुभूति को प्राप्त करने की बात कही गयी है। इसमें कला के प्रति भावक की अंत:प्रक्रिया की समस्या को व्यक्त करने का प्रयास किया गया हैं। सृजन-प्रक्रिया से सम्प्रेषण की महत्ता तो निर्विवाद है, किन्तु भावक-मन में उस मूल अनुभूति का तादात्म्य बोध भी कोई कम महत्त्व नहीं रखता।

'आदम की डायरी' डायरी शैली में लिखी इस कहानी में सनातन चरित्रों 'आदम' और 'हव्वा' के माध्यम से व्यक्त नारी-पुरुष के सम्बन्धों का सूक्ष्म व मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। **'पठार का धीरज'** एक प्रतीकात्मक कहानी हैं, जिसके माध्यम से मानव मन की स्थिति को उजागर किया गया हैं। इस कहानी में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को आधुनिक परिपेक्ष्य में यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। **'साँप'** प्रेम और वासना के उलझे धागों को सुलझाती एक प्रतीकात्मक कहानी है। प्रेमी युगल एक साँप को देखता है उसी के प्रतीक से लेखक दोनों की मानसिकता चित्रित करता है। **'नीली हँसी'** में कल्पना और मनोविज्ञान का सुंदर सम्मिश्रण किया गया हैं। नीलिमा के हिरण की रक्षा करते हुए बेहोश देवकांत को उस अवस्था में भी नीली की हँसी ही याद करती है। इस कहानी में खासी संख्या में प्रतीकों का प्रयोग हुआ हैं और ये समस्त प्रतीकात्मक भाव-व्यापार देवकांत के अवचेतन मन के धरातल पर ही सक्रिय होकर बाह्य क्रिया-व्यापार के रूप में घटित होते हैं।

तीसरे वर्ग में सैनिक जीवन, युद्ध की अनिवार्यता व उसके प्रभावों से जुड़ी कहानियाँ आती हैं। इनमें मेजर चौधरी की वापसी, नगा पर्वत की एक घटना, जयदोल, हीलीबोंन की बत्तखें आदि कहानियाँ प्रमुख हैं। **'मेजर चौधरी की वापसी'** आत्मकथात्मक शैली में लिखी गई हैं। इस कहानी में नवविवाहित मेजर युद्ध के दौरान संतानोत्पत्ति की क्षमता खो देता है। चोटों के कारण वह 'कम्पेश्नेट लीव' पर घर भेज दिया जाता है। क्या यह वापसी उसकी वास्तविक वापसी है? युद्ध के समय समाज का युवा सैनिक वर्ग जो अपनी कामेच्छाओं का निरंतर दमन करता है, कुंठित हो जाता है। लेखक ने पुरुष-मनोविज्ञान को परत-दर-परत खोलकर प्रस्तुत किया हैं। **'जयदोल'** में व्यक्तिगत प्रेम का देशप्रेम में स्थानान्तरण मिलता है। असम के इतिहास की एक घटना को लेकर लिखी गई है। लेफ्टिनेंट सागर अहोम राजवंश के पुराने क्रीड़ा भवन में फैंटेसी के माध्यम से अतीत के बर्बर राजा चूलिका का और रानी जयमती के संघर्ष को देखता है। तन्द्रा-भंग होने पर उसे केवल रंगमहल दिखाई देता है। इतिहास-वर्तमान को एक साथ लेकर चलती है।

'नगा पर्वत की एक घटना' युद्ध के विश्वासघाती परिस्थितियों का चित्र है । सैन्य-अनुशासन पर व्यंग्य करते हुए कहा गया है कि मनुष्य को यंत्र बनाकर उसके 'मारल जजमेंट' को बेहोश कर दिया जाता है । फौजी जीवन की भाषा विवेक पर नहीं, अभिप्राय पर आधारित होती है । **'हीलीबोन की बत्तखें'** कहानी कुचली मानवीय संवेदना, संत्रास, कुंठा, स्त्री जीवन के अभावों और उसकी मूक मनोवैज्ञानिक व्यथा को उजागर करती है । अविवाहिता, सन्तानहीन, हीली जब लोमड़ी के शोकसंतप्त परिवार को देखती है तो उसे स्वयं पर भी क्रोध आता है और उस लोमड़ी के हत्यारे कैप्टन पर भी । इस कहानी में एक स्थान पर पंक्ति आती है कि, "पृथ्वी और आकाश पहले एक थे – पर दोनों को जोड़ने वाली धमनी इंसान ने काट दी । तबसे दोनों अलग है और पृथ्वी का घाव नहीं भरता । इसी मनोवेग के वशीभूत हीली अपनी सभी बत्तखों की हत्या कर देती हैं । उसके मूल में उस क्षण पृथ्वी और आकाश के उस तादात्म्य का अभाव ही साल रहा होगा । लेखक ने कहानी में मेघालय के 'खसिया' जनजातीय समाज का वर्णन किया गया है ।

चौथे खेप में शरणदाता, बदला, मुस्लिम-मुस्लिम भाई-भाई, रमंते तत्र देवता, लेटरबाक्स, नारंगियाँ आदि विभाजन से सम्बन्धित कहानियाँ आती हैं । **'शरणदाता'** में विभाजन के समय पाकिस्तान में रहने वाले देविंदर लाल अपने पड़ोसी रफीकुद्दीन के आग्रह पर उसके घर में शरण लेते है लेकिन समय के साथ-साथ हालात बिगड़ते जाते है । मुसलमान परिवार की लड़की 'जैबू' उन्हें खाने में मिले विष के प्रति सचेत करती है और अंत में यह अपील भी कि – 'यह इल्तजा करती हूँ कि आपके मुल्क में अकलियत का कोई मज़लूम हो तो याद कर लीजिएगा । इसलिए नही कि वह मुसलमान है इसलिए कि आप इंसान है ।'[1] लेखक ने मानवीय मूल्यों व विवेक को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है ।

'मुस्लिम-मुस्लिम भाई भाई' में विभाजन की स्थिति में भी संवेदनहीनता को पेश किया है । एक ओर 'धन' है तो दूसरी ओर 'वर्ग चेतना' । हिन्दुस्तान में फँसी कुछ साधनहीन

[1] अज्ञेय – अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ , शरणदाता, पृ० सं०- 489

औरतें 'पाकिस्तान-स्पेशल से उस पार जाना चाहती है पर आभिजात्य-दर्प को ढो रहा अमजद भाई का परिवार उन्हें अपने डिब्बे में बिठा लेने की बजाए गंदी गालियाँ देता हैं । **'बदला'** कहानी में सरदार बिशनसिंह का पूरा परिवार उनकी आँखों के सामने मार दिया जाता है और बहु-बेटियों को बेइज्जत किया जाता है । इसलिए अब उसका बदला-मुसलमानों और हिन्दुओं को सुरक्षित इस पार से उस पार पहुंचाना है । क्योंकि वह चाहता है जो उसके साथ हुआ वह किसी ओर के साथ ना हो ।

इस तरह 4 खेपो में समाहित इनकी कहानियों के विश्लेषण-मूल्यांकन पर आलोचकों ने कई भिन्न-भिन्न मत दिए हैं ।

3.2.1 पाठ, सन्दर्भ और विचार

कहानीकार अज्ञेय पर भी समीक्षकों ने आक्षेपों की खूब झड़ी लगाई हैं । प्रगतिशील समीक्षकों ने अज्ञेय के साथ-साथ उनके युगीन कहानीकारों को भी भर्त्सना के जंजाल में फंसाया हैं । क्योंकि उनके अनुसार इस दौर के लेखक सामाजिक यथार्थ की पृष्ठभूमि में व्यक्ति की कर्म प्रेरणाओं का वर्णन न कर, 'अंतर्तम गुहा' में पैठने की प्रवृत्ति, यथार्थवाद से ठीक विपरीत दिशा में सम्पूर्ण साहित्य को ले जाने का उपक्रम कर रहे थे । इसी सम्दर्भ में **शिवदान सिंह चौहान** अज्ञेय और इलाचंद्र जोशी की कहानियों पर कटाक्ष करते हुए कहते है कि, "ये दोनों कहानीकार अपने कुंठाग्रस्त पात्रों के विक्षिप्त मानस को मनोवैज्ञानिक औचित्य प्रदान करके उनके जघन्य और असामाजिक कृत्यों को अपनी ओर से महिमामंडित करने का प्रयत्न करते है ; साथ ही पाठकों से भी उनके प्रति सहानुभूतिशील होने की अपेक्षा रखते हैं । इसके अतिरिक्त इन लेखकों में मनोविश्लेषण के प्रति इतना प्रबल आग्रह है कि वे मानसिक रुग्णताओं को ही मानवीय सत्य मानकर अपने पात्रों के कृत्यों का यथातथ्य प्रकृतवादी आकलन करते हैं ।"[1]

इसी मत को आगे बढ़ाते हुए एक समीक्षक कहता है कि अपनी कहानियों में अज्ञेय 'शून्य में अपनी कला की पैतरेंबाज़ी दिखाते हैं । समाजगठन को परिपार्श्व में रखे बिना व्यक्ति

[1] शिवदान सिंह चौहान – हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, पृ० सं०- 120

को समझ सकने का दम भरना मात्र अहं है । अज्ञेय इसके शिकार है ।'[1] अज्ञेय की कहानियों में 'परिवार कही पीछे छूट गया है । घरेलू जीवन की पृष्ठभूमि धुंधला-सा गई है । मुख्य रूप से कुछ बचा है तो केवल पुरुष का अहंकारमय परपीड़न का दृष्टिकोण है ।'[2]

देवराज उपाध्याय अज्ञेय की कहानियों का विश्लेषण करते हुए उन पर यूरोपीय पद्धतियों का प्रभाव आरोपित करते हुए कहते है कि, "ऐसे कहानीकार है जो किसी नूतन टेकनीक का अपकर्षण, अभिशोषण कर रहे है और इसी के बल पर पूजित होने की कामना करते हैं । इस श्रेणी के कहानीकारों में हम अज्ञेय इत्यादि को रख सकते हैं । इन्होनें साहित्य के पठन-पाठन से देखा कि ऐसी कहानियाँ जो कहानी न होकर किसी विचार या मूड का चित्रण हो अथवा जिनमें 'स्लाइस आफ़ लाइफ़' वाले सिद्धांत का पालन होता है, कहानी के नाम से प्रचलित है । संभव है कि वहाँ की जीवनभूमि से इन पद्धतियों ने मौलिक कारण को न देखकर यूरोपीय पौधे को भारतीय भूमि पर आरोपित करने की प्रतिज्ञा इनमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है ।"[3]

सन् 30' के बाद की कहानियों पर अधिकांश समीक्षकों ने रवीन्द्र, फ्रायड, शरत, दोस्तोवस्की तथा यूरोपीय पद्धतियों का भी प्रभाव लक्षित किया हैं । इस दौर में हिन्दी कहानी एक ओर सामाजिक यथार्थ को पेश कर रही थी, वही दूसरी ओर लेखक व्यक्ति के मन की गुत्थियों को सुलझाने, मध्यवर्ग की ऊहापोहों का व्यक्तिवादी स्वरूप रच रहा था । दूसरे, इस वर्ग के कहानीकारों पर कुछ आलोचकों ने पाश्चात्य दृष्टिकोण का आरोप मढ़कर उन्हें इस क्षेत्र से हाशिए पर धकेला है । जबकि इस वर्ग पर भारतीय परंपरा तथा प्रसाद-युग के कृत्तित्व तथा दृष्टिकोण का प्रभाव भी स्पष्ट लक्षित होता है, जिसे बहुत-कम समीक्षकों ने वर्णित किया हैं ।

---

[1] आलोचना (पत्रिका) अक्तूबर 1956

[2] रेखा अवस्थी – प्रगतिवाद के समानांतर साहित्यिक प्रवृत्तियाँ , पृ० सं०- 243

[3] आलोचना (पत्रिका) अक्तूबर 1952 , (देवराज उपाध्याय का लेख)

इस प्रभाव को अज्ञेय की आरंभिक कहानियों में लक्षित करते हुए **राजेन्द्र यादव** का मत है कि, "जब पहले जैनेन्द्र और बाद में अज्ञेय-इलाचंद्र जोशी ने साहसपूर्ण व्यक्ति और उसकी अपनी समस्याओं की कहानियाँ लिखी, तब उनका सीधा संबंध रवीन्द्र और शरत की कहानियों से जोड़ दिया गया । यों बांग्ला के इन लेखकों का प्रभाव इन तीनों लेखकों पर नही हैं, ऐसा मैं नही कहूँगा, लेकिन मूलतः इनका सूत्र प्रसाद निकाय के ही परिवर्धन से अधिक जुड़ता है ।.....प्रेमचन्द के असर से ही वे कतई मुक्त है, पर प्रसाद उन पर बुरी तरह छाए हुए है ।....क्योंकि कहानियों का प्रारंभ नाटकीय स्थितियों के बीच आ गए पात्र से होता हैं । दूसरी समानता यह है कि प्रसाद की ऐतिहासिक या कल्पनाप्रसूत परिस्थितियों के स्थान पर यहाँ क्रांतिकारियों के विशिष्ट प्रकार के जीवन या जेल की स्थितियां है पर विशिष्टता और रहस्यमयता एक जैसी है । देश और प्रेम, प्यार और कर्तव्य के बीच द्वंद्व की मनोभूमि उपस्थित करने का प्रयत्न भी एक समान है ।"[1]

इसी समानता पर विचार करते हुए एक अन्य समीक्षक **श्री लाल शुक्ल** का मानना है कि, 'अज्ञेय की आरंभिक कहानियों में लगभग वैसा ही जोर दिखाई देता है जैसाकि प्रसाद की कई कहानियों में है ; पर प्रसाद की कई कहानियाँ घटनाओं पर केन्द्रित होती जान पड़ती हैं । अज्ञेय विभिन्न अवस्थित परिस्थितियों में अवस्थित व्यक्ति के मनोलोक के अन्वेषण की ओर उन्मुख रहे है और इस प्रवृत्ति का उत्तरोत्तर विकास उन्हें प्रसाद के मार्ग से भी अलग करता चला है ।'[2] इस परिपेक्ष्य में एक ओर समीक्षक **डॉ० इन्द्रनाथ मदान** का कहना है कि , "इनकी कहानी-कला प्रसाद-परम्परा से भिन्न होते हुए भी इसी कोटि में रखी जा सकती हैं । इनमें न तो प्रसाद की भावमूलक तथा आदर्शमूलक दृष्टि है और न ही नाट्यात्मक पद्धति ।...अज्ञेय की कहानी-कला में बौद्धिकता तथा मनोवैज्ञानिकता का गहरा पुट है । और मनोवैज्ञानिकता का स्वरूप सुगम संगीत का न होकर शास्त्रीय संगीत

---

[1] राजेन्द्र यादव – कहानी : स्वरूप और संवेदना, पृ० सं०- 25-28

[2] श्री लाल शुक्ल – अज्ञेय : कुछ रंग, कुछ राग, पृ० सं०- 19

का है ; मनोविश्लेषण के सिद्धांतों पर आश्रित हैं । बौद्धिकता के विकास में भी पाश्चात्य तथा मनोविज्ञान का स्पष्ट प्रभाव हैं ।"[1]

इन मतों के विपरीत **रेखा अवस्थी** इस समानता से हटकर मूलभूत अंतर खोजते हुए अज्ञेय की इस नई तकनीक पर हेमिंग्वे का प्रभाव एवं समानता लक्षित करती है । वे कहती है कि, "सामजिक यथार्थ से भागकर कथा छद्म का निर्माण प्रसाद इतिहास के कल्पनारंजित ऐन्द्रजालिक परिवेश में करते है, अज्ञेय ने इतिहास की जगह व्यक्ति की मनोभावना की गुत्थियों के रगरेशे फैलाकर, विशिष्ट नायकों की स्थितियों या अनुभवों से निस्संग रहने के कलाचातुर्य का उपयोग किया । हेमिंग्वे भी इसी तन्त्र का अर्थात् अपने ही अनुभवों से निरपेक्ष हो जाने का इस्तेमाल करते है । अज्ञेय की कला ने इस तकनीक के जरिए, 'रोंज', 'हीलीबोन की बत्तखें', 'मेजर चौधरी की वापसी', 'पठार का धीरज', 'पगोड़ा वृक्ष', 'विपथगा', 'जयदोल', 'शरणदाता' और 'कलाकार की मुक्ति' कहानियाँ लिखी हैं ।"[2]

वास्तविक तौर पर देखा जाए तो अज्ञेय की ये सभी कहानियाँ मूलतः 'सामाजिक यथार्थ' नामक मूल्य पेश करती हैं । उनकी 'खितीन बाबू' कहानी एक अद्‌भुत प्राण-दीप्ति, जिजीविषा को व्यक्त करती है । इस अदम्य जिजीविषा के अभाव में चाहे व्यक्ति कितना ही भौतिक सम्पन्न क्यूँ न हो, अर्थवत्ता नहीं पा सकता । इस कहानी का विश्लेषण करते हुए **श्री लाल शुक्ल** का मत है कि, "अज्ञेय की कहानी 'खितीन बाबू' एक अत्यंत प्राणवान रचना है ।....अज्ञेय ने यहाँ एक यथातथ्यपरक सामाजिक यथार्थ की कहानी नहीं लिखी है....इसे काफी हद तक गढ़ा गया है । इसमें काफी 'कंट्राइवेंस' है । ...इसे एक 'फेबुल' के स्तर पर लिया जाना चाहिए, सामान्य कहानी के रूप में नहीं; और उसी के साथ इसकी 'ऐलिगिरी' को - इसकी ब्याजकथात्मक अंतर्ध्वनियों को सुना और समझा जाना चाहिए ।"[3]

---

[1] इन्द्रनाथ मदान - कहानी की कहानी , पृ० सं०- 20

[2] रेखा अवस्थी – प्रगतिवाद के समानांतर साहित्यिक प्रवृत्तियाँ, पृ० सं०- 242

[3] श्री लाल शुक्ल – अज्ञेय : कुछ रंग, कुछ राग, पृ० सं०- 25

जबकि, इसके विपरीत **मार्कंडेय** का मानना है कि, 'अज्ञेय के ये जिजीविषा विषयक मूल्य सतह और आग्रह की सच्चाइयाँ है जो मानव जीवन की सच्चाइयाँ नहीं बन पाती ।'[1] चूंकि इस 'सामाजिक यथार्थ' का दायरा अज्ञेय की दृष्टि में परवर्ती कथाकारों से विस्तृत है । लेकिन यह विस्तार उसका कमज़ोर पक्ष नहीं माना जा सकता । इस विषय में आलोचकों के पक्ष-विपक्ष काफी उलझाव भरे है । आश्चर्य की बात तो यह है कि अज्ञेय की इन कहानियों की कड़ी आलोचना व उपेक्षा उन्हीं समीक्षकों ने की है जो 'सामाजिक यथार्थ' को सर्वोपरि मानते है । **मधुरेश** ने अज्ञेय की कहानियों में उच्छल भावुकता व रोमानी आदर्शवाद माना है । उनकी विदेशी परिवेश में व्यवस्थित क्रान्ति संबंधी कहानियाँ उन्हें 'जीवन के मूल स्रोत से कटकर क्रान्ति और अव्यावहारिक अमूर्तन पर बल देने वाली' लगती है । इतना ही नहीं वे यह भी कहते है कि, 'अपने रोमानी रुझान और जीव-जगत संबंधी भारवादी दृष्टिकोण के कारण अज्ञेय का मन सबसे अधिक स्त्री और प्रेम संबंधों के अंकन में रमता है । वे रोमानी तत्वों के साथ-साथ उनकी कहानियों में प्रगतिशील तत्वों की उपस्थिति भी लक्षित करते है ।'[2]

नई कहानी में सबसे अधिक कहानियाँ प्रेम संबंधों पर लिखी गई हैं । समय-जीवन के साथ-साथ प्रेम-संबंधों की परिभाषा-स्वरूप भी बदलता गया । प्रेम-वर्णन में मात्र भावुकता-कल्पना के साथ शारीरिकता का भी समावेश हो गया था । प्रेम एक विशिष्ट संवेदन बन गया, जिस पर व्यक्ति की मन:स्थितियों-परिस्थितियों के द्वंद्व का प्रभाव पड़ रहा था । अब कहानियों में प्रेम एक 'सहजवृत्ति' बनकर प्रस्तुत किया जाता है । 1950 में लिखी गई अज्ञेय की 'पठार का धीरज' ऐसी ही एक कहानी है, जिसमें संबंधों का एक नया रूप लक्षित होता है । इस कहानी पर अज्ञेय की लेखकीय अक्षमता को इंगित करते हुए **नामवर सिंह 'कहानी : नई कहानी'** पुस्तक में 'पठार का धीरज' कहानी पर अपनी समीक्षक राय देने की बजाए कुछ प्रश्नचिन्ह खड़े करते है । ये प्रश्न ही उनकी आरोपित टिप्पणी बनकर सामने आते है –

---

[1] सं डॉ देवीशंकर अवस्थी – नई कहानी : सन्दर्भ और प्रवृत्ति (लेख – शेखपुरे के शरणार्थी – मार्कंडेय) पृ० सं०- 43

[2] मधुरेश – हिन्दी कहानी का विकास, पृ० सं०- 45 (मधुरेश का मत है – " देश विभाजन की पृष्ठभूमि पर लिखी गई इन कहानियों के अतिरिक्त भी अज्ञेय की कुछ ऐसी कहानियाँ है जिनमें मानवीय और प्रगतिशील तत्वों के स्वीकार का आग्रह देखा जा सकता है।")

"क्या इस कहानी का केंद्र बिंदू यही है? किन्तु यह अनुभव सत्य कहानी के किन-किन स्तरों पर व्यक्त हुआ है? क्या कहानी के भी कई स्तर है और वे स्तर एक-दूसरे को काटते या छूते नहीं? लेखक की जीवन-दृष्टि ने स्वयं कहानी को कितना भावित किया है?"[1] आदि प्रश्नों के कटघरे में रखा हैं। इसी तरह **देवीशंकर अवस्थी** ने इसे 'हिन्दी की पहली नयी कहानी' माना क्योंकि "कहानी में प्रेम की प्रकृति को पहचानने की चेष्टा है....सम्भवत: यही वह बिंदु है जहाँ से शारीरिकता का उदय होता है।"[2]

प्रेम, विवाह आदि संबंधों का बदलता स्वरूप यथास्थान कई कहानियों में मिलता हैं। व्यक्ति और व्यक्ति के बीच के जिन सामाजिक संबंधों को परिवार तय करता था। उनमें व्यक्ति की अपनी सहमति - स्वतंत्रता सर्वोपरि बन गई। संयुक्त परिवारों की एतिहासिकता दरकने लगी। इस सन्दर्भ में **राजेन्द्र यादव** लिखते है कि, "आंदोलनों और नौकरियों के सिलसिले में नयी पीढ़ी घर छोड़-छोड़ कर, अपने बाप-दादों के खेत-मकान, चाचा-ताउओं के मोह-ममता से टूटकर बाहर निकल रही थी ; शिक्षा और ट्रेनिंगों के लिए घर छोड़कर आए नवयुवकों को देश-विदेश का परिचय, ज्ञान-विज्ञान खींच रहा था....अज्ञेय...में हम इसी नवयुवक के दर्शन करते हैं।"[3]

संयुक्त परिवार की जगह जिन नए परिवारों, एकल परिवारों का जन्म हुआ। 1940-50 के दौर में कथा-साहित्य में ये भी टूटते नज़र आए। परिवारों के विघटन और संवेदन एवं संबंधों के एकरस-ठंडेपन के कारण व्यक्ति घुटन, ऊब एवं मानसिक संत्रास का शिकार हुआ। **'रोज़' या 'गैंग्रीन'** इसका सशक्त उदाहरण है। **कमलेश्वर** इस कहानी का विश्लेषण करते हुए कहते है कि, "इस कहानी में जीवन की बेहद उबाऊ जड़ता ठंडेपन और संवेदन शून्यता का अत्यंत सूक्ष्म धरातल पर चित्रण किया गया है। अज्ञेय की यही विशेषता उन्हें सामान्य से अलग करती है।"[4] इसकी बोझिलता को मद्देनज़र रखकर **रेखा अवस्थी** का मत है कि, " 'गैंग्रीन' कहानी में भी कथानक अत्यंत क्षीण है। कहानी

---

[1] नामवर सिंह – कहानी : नई कहानी, पृ० सं०- 30

[2] देवीशंकर अवस्थी – नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति (लेख –प्रेम कहानियाँ : परिचय के मध्य अपरिचय), पृ० सं०- 158

[3] राजेन्द्र यादव – एक दुनिया समांतर (भूमिका) , पृ० सं०- 30

[4] सं कमलेश्वर – कथावृत्त , पृ० सं०- 88

में कोई रस नहीं है । कथानक की स्वल्पता से जीवन के प्रवाह को व्यक्त नहीं किया जा सकता । लेखक ने 'वातावरण की सघनता से कथानक की इस स्वल्पता को ढक लेने की चेष्टा में कहानी को बोझिल बना दिया है ।"[1]

गैंग्रीन एक ऐसा रोग है जो कांटा चुभने की लापरवाही के कारण होता है । डॉ. महेश्वर इसी रोग का रोज़ इलाज करते हैं । इस रोग में रोगी का वह अंग कांट दिया जाता है, जिसमें रोग लग गया है । लेकिन वे यह नहीं जान पाते कि यह रोग उनके जीवन में भी लग चुका है । जिसमें सर्वत्र नीरसता भरी है । मालती भी बस ज़िन्दगी, संबंध, समय, काम सब ढो रही है । कहानी में स्थितियाँ सर्वत्र है, गति कही नहीं ।

सन् 48' में प्रकाशित 'शरणार्थी' एकमात्र ऐसी कहानी है, जो विभाजन, हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक हत्याकांड की पृष्ठभूमि को बयान करती है । लेकिन इस कहानी के सन्दर्भ में **मैनेजर पाण्डेय** का मानना है कि, 'एकाध कहानी को छोड़कर इनमें कही भी वह हमदर्दी, गुस्सा और मानवीय संस्पर्श नहीं है जो हमें मंटों में दिखाई देता है । कई कहानियाँ तो फार्मूलाबद्ध सत्यों और तथ्यों के आधार पर लिखी गयी हैं । इनमें न तो 'टोबा टेकसिंह' जैसी करुणा है न 'मलबे का मालिक' जैसा व्यंग्य । ज्यादा-से ज्यादा ये एक देशव्यापी हादसे को अर्पित रस्मी श्रद्धांजलि लगती है ।'[2]

अज्ञेय मूलतः कवि ही थे । इसलिए उनके गद्य में भी काव्यात्मकता का पुट सर्वत्र व्याप्त हैं । विशेषत: उनकी कहानियों में यह कवि-दृष्टि कहीं भी बाधक नजर नहीं आती । जबकि कुछ समीक्षकों का मानना है कि कवि-दृष्टि रखना कहानीकार का सबसे बड़ा दोष हैं । अज्ञेय इस मत को नकारते हुए बतलाते है कि , 'कविता और कहानी ज्यादा आंतरिक, ज्यादा निजी विधाएं हैं । कहानीकार के अन्य गुणों से सम्पन्न व्यक्ति में कवि दृष्टि होने पर वह अधिक महत्त्वपूर्ण कहानी लेखक हो सकता हैं ।'[3] अज्ञेय की प्राय: समस्त कहानियों में व्यक्ति चरित्र उनकी कविताओं की तरह अभिव्यक्त हुआ हैं । व्यक्ति के

---

[1] रेखा अवस्थी – प्रगतिवाद के समानांतर साहित्यिक प्रवृत्तियाँ, पृ० सं०- 242

[2] आलोचना अप्रैल-जून 2011 , अज्ञेय पर केन्द्रित (लेख- अज्ञेय विवादों के आर-पार- नीलाभ), पृ० सं०- 32

[3] अज्ञेय - छोड़ा हुआ रास्ता (सम्पूर्ण कहानियाँ भाग-1), भूमिका, पृ० सं०- 17

स्वभाव और कर्म प्रेरणाओं का सूक्ष्म विश्लेषण उनकी कहानियों में मिलता है। इतने पर भी **डॉ० इन्द्रनाथ मदान** अज्ञेय की कहानियों की कमज़ोरी का कारण लक्षित करते हुए कहते है कि, 'इनकी काव्य विधा और कहानी विधा में काव्य प्रतिभा ही क्रियाशील है। कहानीकार पर जब कवि हावी होने लगता है तो कहानी शिथिल पड़ने लगती हैं और कही-कही इनमें आपसी तालमेल भी नहीं बैठ पाता।'[1] इसके विपरीत विजयमोहन सिंह का कहना है कि , "अज्ञेय ने पहली बार अपने कथा साहित्य के लिए कवित्वपूर्ण गद्य (पोयटिक प्रोज) का निर्माण किया, जिसमें कविता, मनोविज्ञान और वैज्ञानिक पदावली का एक सम्पृक्त रूप प्राप्त होता है।"[2]

अंतत: अज्ञेय ने कहानी का साथ छोड़ कविता की ओर ही मन रमा लिया, इसका मतलब यह कहानीकार अज्ञेय की सीमा ही है कि वह दोनों विधाओं का तालमेल एक साथ ठीक से नहीं बैठा पाता और कहानी से स्वयं को अलग कर लेता हैं।

3.2.2 रचना-शिल्प

शिल्प-विधान की दृष्टि से कहानीकार अज्ञेय ने विविध शैलियों, प्रतीकों, भाषा आदि का नया प्रयोग किया हैं। प्रेमचन्दयुगीन कथानक प्रधान एवं चरित्र प्रधान कहानियों से आगे 'संवेदना प्रधान कहानी का नेतृत्व किया।'[3] उनकी कहानियों में कोई सोचा-समझा 'कथानक' या 'प्लाट' नहीं मिलता। आधुनिक परिवेश के दबावों को झेलता हुआ मनुष्य, द्वंद्व, परिवेशगत परिस्थितियाँ पात्रों की आंतरिक उलझने कथा गढ़ती हैं। अज्ञेय की कहानियों के विषय में **डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल** का मत है कि, "इनकी कहानियों से हिन्दी कहानी साहित्य में शिल्पविधि की नई समृद्धि तथा भाषा की प्रतीक व्यवस्था की नई सामर्थ्य का विकास अवश्य हुआ, पर भावपक्ष की दिशा में

---

[1] इन्द्रनाथ मदान - हिन्दी कहानी, पृ० सं०- 104-105

[2] विजयमोहन सिंह - अज्ञेय : कथाकार और विचारक , पृ० सं०- 12-13

[3] रामस्वरूप चतुर्वेदी – अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, पृ० सं०- 94

विधान की जटिलता के प्रयोग से कहानी की सामाजिकता और प्रेषणीयता में बड़ा विघटन दिखाई देता है ।"[1]

विधान की इस जटिलता के विघटन को स्पष्ट करते हुए एक अन्य समीक्षक **रेखा अवस्थी** कहती है कि, "प्रेमचन्दोत्तर कहानीकारों में जो लोग मध्यवर्ग का कथानक उठाते है, उनमें जैनेन्द्र, अज्ञेय...आदि ऐसे लेखक है जो मध्यवर्ग की मुक्ति के सवाल को, मध्यवर्ग के स्त्री-पुरुषों की पराधीनता के सवाल को यथार्थवादी ढंग से छूते ही नहीं हैं । बार-बार मनोद्वंद्व और अवचेतन की विज्ञप्ति में इन समस्याओं का मूल दिखलाने की कोशिश की जाती है और यही वह दुर्बलता है जो 'कहानी की सामाजिकता और प्रेषणीयता में विघटन उपस्थित करती है ।"[2] रेखा अवस्थी का यह मत अतिवादी ही लगता है क्योंकि अज्ञेय की कई कहानियों के पात्र आधुनिक मध्यवर्ग के युवक तो है, जो भावुक और अंतर्मुखी भी है । लेकिन अपने बाहरी परिवेश, समाज के प्रति घोर जिज्ञासु व जागरूक भी है । व्यक्ति और उसका अवचेतन मन कहानी का केंद्र है पर उनके चरित्र संकीर्ण व उथले नहीं है । उनके पात्र सामाजिक, राजनीतिक, व्यक्तिगत प्रश्नों-मूल्यों को लेकर उभरता है जो अपना मनोद्वंद्व ही नहीं, अपितु अपने आस-पास के परिवेश की स्थिति भी बयान करता है ।

प्रतीक योजना एवं सांकेतिकता का उनकी कहानियों में अद्वितीय प्रयोग किया गया हैं । 'अज्ञेय की कहानियों की एक बहुत बड़ी विशेषता उनकी सांकेतिकता है, जो भी सन्दर्भ वह प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत करते है, उससे कुछ गूढ़तर अभिप्राय, कुछ विशेष संकेत, कुछ सूक्ष्मतर बोध उसके माध्यम से व्यंजित होता है । शिल्प की दृष्टि से अज्ञेय की कहानियों का कलात्मक निखार कहने की चीज़ नहीं है ।'[3] 'अमरवल्लरी', 'आदम की डायरी', 'गैंग्रीन', 'साँप', 'हीलीबोन की बत्तखे', 'चिड़ियाँघर', 'पठार का धीरज', 'कोठरी की बात' आदि कहानियां प्रतीकों व संकेतों का सुंदर उदाहरण हैं । 'चिड़ियाघर' कहानी

---

[1] डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल- हिन्दी साहित्य कोश (भाग-1), पृ० सं०- 220

[2] रेखा अवस्थी – प्रगतिवाद के समानांतर साहित्यिक प्रवृत्तियाँ, पृ० सं०- 243

[3] रामचन्द्र तिवारी – हिन्दी गद्य साहित्य, पृ० सं०- 560

का समग्र कथानक 'मैं' नामक पत्र के स्वप्न पर आधारित है। यह गोपनीयता कहानी के अंत में खुलती हैं।

'साँप' कहानी में साँप और लड़की दोनों सुंदर, कोमल और बेध्य का प्रतीकार्थ रखते हैं। इसका नायक सौन्दर्य को विकृत नहीं करना चाहता इसलिए वह ना साँप को बेधता है और न एकांत होने पर लड़की का फायदा उठाता हैं। 'पगोडा वृक्ष' भी एक प्रतीक है। इस वृक्ष में नंगी शाखों और टहनियों की प्रमुखता होती है। विधवा सुखदा का जीवन इसी वृक्ष की भांति सूना और शांत हैं। 'पठार का धीरज' में पठार - फैले और सन्नाटे का प्रतीक है। 'सिगनेलर' और 'छाया' ये दोनों कहानियाँ पत्र-शैली में लिखी गई हैं। पूरी कथा को पत्रों में समेटा गया हैं। 'छाया' में पत्रात्मकता कम है लेकिन दो न मिल सकने वाले कैदियों का भाव-प्रकाशन छोटे-छोटे पत्रों के माध्यम से किया हैं। 'कविप्रिया' विशुद्ध एकांकी नाटक के शिल्प में रची है। 'वसंत' में एक नए शिल्पगत प्रयोग के दर्शन होते है। यहाँ शैली एकांकी नाटक तथा कहानी के बीच बनती है।

'कोठरी की बात', 'आदम की डायरी', 'लेटर बाक्स', 'विपथगा', 'अमरवल्लरी', 'मेजर चौधरी की वापसी', साँप आदि कहानियों का निर्माण आत्मकथात्मक शैली में किया गया हैं। इस शैली में कहानी 'मैं' के सहारे ही आगे बढ़ती है और उसमें अबाध गति उत्पन्न होती है। इस शैली का एक उदाहरण दृष्टव्य है - 'कोठरी की बात' कहानी से - **"मैं हूँ मुक्ति का साधन एक बंधन- मैं संसार के किसी भी राज्य के किसी भी जेल की एक छोटी-सी कोठरी हूँ... ।"**[1]

'पठार का धीरज', 'हीलीबोन की बत्तखें', 'शरणदाता', 'इंदु की बेटी' आदि कहानियाँ कथात्मक शैली में लिखी गई कहानियाँ हैं। इन कहानियों के सन्दर्भ में **डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल** का मत उल्लेखनीय है, ".....लेकिन यहाँ अज्ञेय ने कथात्मक शैली में भी कुछ नए प्रयोग किए हैं। अन्य पुरुष में वर्णनात्मकता प्राय: विश्लेषण के आधार से

[1] अज्ञेय – कोठरी की बात, पृ० सं०- 144

अभिव्यक्त हुई है । अन्य पुरुष में उत्तम पुरुष की स्थापना और अन्य पुरुष में स्मृतियों-चिन्तनों द्वारा कहानी में विकास के विधान प्रस्तुत हुए है... ।"[1]

'छाया', 'द्रोही', 'अभिशापित', 'नम्बर दस' आदि कहानियों में लेखक ने एक से अधिक शैलियों का संयुक्त प्रयोग किया हैं । 'छाया' में वार्डन द्वारा आत्मकथन, अरुण और वार्डन द्वारा संवाद, सुषमा द्वारा पत्र व्यवहार आदि शैलियों का मिश्रित रूप प्रस्तुत हुआ हैं । वार्डन का आत्मकथन उदाहरणस्वरूप इस प्रकार है - **"मैनें बहुत फांसियां देखी है....उन्हें देखने का आदी-सा हो गया हूँ । जब मेरी ड्यूटी फांसी पर लगती है, तब मुझे घबराहट नहीं होती, मेरा जी नहीं मिचलाता।"[2]**

'द्रोही' में भी वर्णन, आत्मकथन, स्वप्न, स्मृति, संवाद आदि पद्धतियों का प्रयोग किया गया हैं । वर्णन पद्धति का एक अंश द्रष्टव्य है - **"सामने दरवाजा है - उसमें सींखचे लगे हुए है - कारागार। उसके आगे दलान है, पर उसके किवाड़ ऐसी जगह है कि मैं देख न पाऊं - बंधन । कोठरी के ऊपर छोटा-सा रोशनदान है, पर वह भी ढांप दिया गया है.... ।"[3]**

इस प्रकार अज्ञेय की कहानियों के शिल्प-विधान में भिन्न-भिन्न शैलियों के सुंदर उदाहरण मिलते हैं । आलोचकों ने प्राय: शिल्प की दृष्टि से अज्ञेय के प्रयोगों को यथास्थान सराहा हैं । कथाकार की भूमिका में अज्ञेय के उपन्यास एवं कहानियाँ का वस्तु-तत्व जितना संश्लिष्ट हैं, उससे भी अधिक कहीं उनमें गहराई व्याप्त हैं । नए विषय और वस्तु के अनुरूप ही वे शिल्प के नए प्रयोगों द्वारा जीवन के आवरणों और परतों को अनावृत-विश्लेषित करते चलते हैं । जीवन के अंतिम 26 वर्षों तक अज्ञेय ने कोई कहानी-उपन्यास नहीं लिखा । साहित्य-जगत् में यह विमर्श का मुद्दा बना रहा कि ऐसा क्या हुआ कि अज्ञेय ने कहानियाँ लिखनी छोड़ दी । इस विषय में स्वयं कथाकार अज्ञेय का मानना है कि, 'वास्तव में कहानियाँ ही मुझसे छूट गई थी ।' साथ ही वे यह भी कहते आए है कि

---

[1] लक्ष्मीनारायण लाल – हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास, पृ० सं०- 237

[2] अज्ञेय – छाया, पृ० सं०- 178

[3] अज्ञेय – द्रोही , पृ० सं०- 88

मैं अंतत: कवि ही हो सकता हूँ। और जो स्वयं कवि रहे हो, वहीं अच्छी कहानियाँ लिख सकते थे। उनके कथाकर्म में यह काव्यात्मकता स्पष्ट लक्षित होती हैं। हिन्दी आलोचना जगत में अज्ञेय के कथा-साहित्य पर जितनी भी अनर्गल और मूल्यांकित बातें कही गई हैं, उन सभी विचारों तथा अज्ञेय के कथा-साहित्य को मद्देनजर रखते हुए कहा जा सकता हैं कि कथाकार अज्ञेय के विचारों की नव्यता तथा पाश्चात्य विचारकों की विचारधारा के मिश्रण ने हिन्दी कथा-साहित्य को एक नई जमीन एवं नया तेवर प्रदान किया हैं। कवि-दृष्टि के साथ कहानी गढ़ना अज्ञेय जैसा कथाकार ही यह अनूठा प्रयोग कर सकता है।

चौथा अध्याय

अज्ञेय के कथेत्तर गद्य-साहित्य का मूल्यांकन

अज्ञेय के कथेत्तर गद्य-साहित्य का मूल्यांकन

4.1 अज्ञेय का कथेत्तर साहित्य : स्वरूप एवं समीक्षाएं

4.2 हिन्दी आलोचना और आलोचक अज्ञेय : विषय और विश्लेषण

4.2.1 निबन्ध-डायरी : पाठ, विचार और मूल्यांकन

4.2.2 आलोचक अज्ञेय : पाठ, विचार और मूल्यांकन

4.2.3 ललित निबन्ध : पाठ, विचार और मूल्यांकन

अज्ञेय के कथेत्तर गद्य-साहित्य का मूल्यांकन

4.1 अज्ञेय का कथेत्तर साहित्य : स्वरूप एवं समीक्षाएं

अज्ञेय के कथेत्तर गद्य-साहित्य में उनके निबन्ध-संग्रहों, डायरियों, आलोचनात्मक टिप्पणियों, साक्षात्कारों, यात्रा-वृत्तांतों, अनुवादित रचनाओं आदि को रखा जा सकता हैं । उन्होनें आत्मपरक, चिंतनपरक, अन्वेषणपरक, आलोचनात्मक, ललित, व्यक्तित्व-व्यंजक, निजी, स्फुट, संस्मरणात्मक तथा व्यंग्यात्मक आदि कई प्रकार के निबन्ध लिखे हैं । इन सभी में उनकी आरंभ से अंतिम दौर तक की रचनात्मक तथा आलोचनात्मक दृष्टि स्पष्ट है । इनमें वे कौतुकी, विचारक, सहृदय, चिंतक आदि की विविध भूमिकाओं में उतरे हैं । जिससे लेखक को समझने में पाठक-सहृदय को सहूलियत मिलती है । **अज्ञेय** स्वयं अपने निबन्धों के बारे में कहते है कि, 'मेरे निबन्ध न केवल मुझे समझने के लिए आवश्यक है, वरन् समकालीन लेखक मात्र की समस्याओं को एक व्यापकतर परिपार्श्व में देखने के लिए भी अनिवार्य है ।'[1] वे अपनी इन रचनाओं में व्यक्ति, समाज, रचना, कला, इतिहास, परम्परा, दर्शन, काल, यथार्थ, राजनीति, भारतीयता, आधुनिकता, धर्म, संस्कृति, भाषा आदि विविध विषयों पर गहन चिंतन-मनन करते हैं । समय और समाज व्यक्ति के व्यक्तित्व के साथ-साथ उसकी सोच व नजरिए का भी विकास करते है । अज्ञेय भी अपनी इन स्थापनाओं में समय-समाज के साथ निरंतर शोध करते चलते हैं ।

सच्चिदानंद वात्स्यायन की निबन्ध-यात्रा 1945 में प्रकाशित **'त्रिशंकु'** से शुरू होती है । इस संग्रह में 8 निबन्ध है, साथ ही 8 संवादपरक संक्षिप्त टिप्पणियाँ हैं । इसमें रूढ़ि और मौलिकता, संस्कृति और परिस्थिति, परिस्थिति और साहित्यकार, संक्रान्ति-काल की कुछ साहित्यिक समस्याएं, चेतना का संस्कार, केशव की कविताई, वागर्थप्रतिपत्तये और आधुनिक कवि : महादेवी वर्मा आदि निबन्धों में अपने परिवेश के साथ-साथ व्यक्ति-चेतना के संघर्ष को अभिव्यक्त किया है । इस संग्रह में 'चार-नाटक', तथा 'दो फूल'

[1] अज्ञेय – आत्मनेपद , पृ० सं० – 171

निबन्ध पुस्तक-समीक्षा के आदर्श रूप को प्रस्तुत करते हैं साथ ही उस दौर की समीक्षा के गिरते स्तर को भी रेखाकिंत करते हैं । इसमें संकलित निबन्धों के माध्यम से अज्ञेय ने हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में एक नयी पृष्ठभूमि का परिचय दिया है ।

'त्रिशंकु' के प्रथम संस्करण की भूमिका में **अज्ञेय** कहते है कि, "ये निबन्ध आधुनिक हिन्दी लेखक, पाठक और आलोचक के काम के सिद्ध होगें ।.....इसमें प्रस्तुत किए गए सिद्धांतों का प्रतिपादन हिन्दी में प्राय: नहीं किया गया है, और न उनके सहारे आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करने का कोई प्रयत्न हुआ है । हिन्दी में आलोचना क्रमशः उन्नति कर रही है, पर आलोचना के नाम से निरे 'उच्छ्वास' से बढ़कर भी हम अभी प्राय: व्याख्यात्मक आलोचना तक ही आते हैं, मूल्यांकन के प्रयत्न हमारी आलोचना में नहीं के बराबर होते हैं ।"[1] इसके साथ ही संस्कृति को लेकर अज्ञेय की चिंता बराबर देखी जा सकती हैं ।[2] संस्कृति के साथ भाषा का गहरा सम्बन्ध होता है । अपनी भाषा की पहचान ही अपनी संस्कृति की पहचान है । आज कल यंत्रों पर निर्भर मनुष्य अपने संस्कार और शब्द निरंतर भ्रष्ट करते जा रहे हैं । विज्ञापन की दुनिया ने हमारी भावनाएँ और मानसिक प्रगति दोनों मिलावटी और सस्ती बना दी हैं ।[3] शब्द की मूल्यवत्ता को सुरक्षित रखते हुए कला-मूल्यों की प्रतिष्ठा करना तथा कला में नैतिकता-बोध की लौ को बुझने न देना कलाकार का दायित्व है ।[4]

इस संग्रह में टी.एस. इलियट, डी.एच. लारेंस, टॉमस मान आदि विदेशी लेखकों का बार-बार उल्लेख हुआ हैं । अज्ञेय के 'रूढ़ि और मौलिकता' निबन्ध को टी.एस. इलियट के अंग्रेजी निबन्ध 'ट्रेडिशन एंड द इंडिविजुअल टेलेंट' (1919) का भावानुवाद भी कहा गया है । 'आधुनिक कवि : महादेवी वर्मा' निबन्ध मूल्यांकनपरक है । जो छायावादी

---

[1] अज्ञेय – त्रिशंकु, भूमिका प्र०सं, पृ० सं०- 8

[2] अज्ञेय – त्रिशंकु, संस्कृति और परिस्थिति, पृ० सं०- 15-16 (अज्ञेय का कहना है कि – "पुराने सामाजिक संगठन के टूटने से उसकी सजीव संस्कृति और परम्परा मिट गयी है – हमारे जीवन में से लोकगीत, लोकनृत्य, फूस के छप्पर और दस्तकारियाँ क्रमशः निकल गयी है....यंत्र-युग की प्रगति का निर्मम हल पुरानी मिट्टी उपटाता हुआ चला जा रहा है।")

[3] अज्ञेय – त्रिशंकु, संस्कृति और परिस्थिति, पृ० सं०- 21-23

[4] अज्ञेय – त्रिशंकु, कला का स्वभाव और उदेश्य, परिस्थिति और साहित्यकार, पृ० सं०- 40-45

कविता में उनके महत्त्वपूर्ण योगदान को लक्षित करता है ।[1] 'ये सभी निबन्ध विचार-प्रधान और विश्लेषणात्मक है। इनमें सूत्र शैली, व्याख्या शैली, संवाद और प्रश्नोत्तर शैली का प्रयोग किया गया हैं ।'[2]

अज्ञेय का दूसरा निबन्ध-संग्रह **'सब रंग' 1946** में सरस्वती प्रेस से छपा था । बहुत दिनों तक अप्राप्य रहने से इन निबन्धों को 1956 में एक संग्रह का रूप दिया । कुछ समय बाद इसमें कुछ ओर निबन्ध जोड़े गए । इस संग्रह का दूसरा संवर्धित संस्करण 1970 में **'सब रंग और कुछ राग'**[3] शीर्षक से प्रकाशित हुआ । 'सब रंग' तथा 'सब रंग और कुछ राग' का रचयिता कुट्टीचातन है और लेखक सच्चिदानंद वात्स्यायन । इस सन्दर्भ में लेखक का फतवा द्रष्टव्य है – "समझ लीजिए कि 'कुट्टीचातन' दक्षिणी लोक जीवन का वह मसखरा बौना जो जिसके-तिसके कंधे पर सवार होकर उसे मनमाने नाच नचाता है - खुली हवा का प्राणी है और इन पंक्तियों का लेखक भी खुली हवा में और साफ़-सुथरे पर्वतीय वन प्रदेशों में पला है और घूमने-फिरने का आदी है ।"[4] इस संग्रह में कुल 18 निबन्ध हैं, जिनमें गिलहरी, मार्ग-दर्शन, अकेलापन, सन्नाटा, भूमिका तो रह ही गई, पीपल और पनीर का टुकड़ा, शारदीया धूप, गाँव के पोखर' आदि प्रमुख हैं ।

'गिलहरी' निबन्ध में अज्ञेय ने अपनी 'व्यवस्था-प्रियता, सूक्ष्म ग्राहिका तथा दूसरों के मन की, जानवरों की भाषा जानने की अद्‌भुत शक्ति का प्रमाण दिया है । 'सन्नाटा' में लेखक ने एक ही शब्द के विभिन्न प्रदेशों में व्यक्त होने वाले अर्थों को अभिव्यक्त किया है ।[5] 'शारदीया धूप' में मनोदशा का विश्लेषण करते हैं । मन कैसे बनता है? भीतरी वातावरण

---

[1] अज्ञेय – त्रिशंकु, (आधुनिक कवि : महादेवी वर्मा), पृ० सं०- 115 (अज्ञेय का कथन है – "उनकी कविता में करुणा है किन्तु बुद्ध की सी व्यापक करुणा नहीं, असीम की खोज और हल्का स्पर्शानुभव है, चिंतन है, किन्तु रहस्यवादियों का अटपटा, अनगढ़, तेजस्वी, दार्शनिक असंतोष नहीं।...महादेवी की कविता चिक्कलामय है, सदा रस्मय है।")

[2] डॉ० सावित्री मिश्र – अज्ञेय की गद्य-शैली, (अज्ञेय के निबन्धों की गद्य-शैली), पृ० सं०- 154- 156

[3] अज्ञेय - सब रंग और कुछ राग, पृ० सं०- 9 (लेखक का मत है – "यह प्रकाशन उस 'सब रंग' पुस्तक का पुनमुद्रर्ण मात्र नहीं है, यद्यपि उसके सब निबन्ध इसमें है।...सबरंग और थोड़ा राग, राग के नाम पर कुछ एक नये निबन्ध है जिनमें कुछ यहाँ पहली बार प्रकाश में आ रहे है। पहले भी सबरंग ही रंग नहीं था। थोड़ा राग-रोष भी उसमें व्यंग्य था। नये निबन्धों में इसका कसैलापन थोड़ा अधिक है।")

[4] अज्ञेय - सब रंग और कुछ राग, पृ० सं०- 9

[5] अज्ञेय - सब रंग और कुछ राग, (सन्नाटा), पृ० सं०- 59 (लेखक का कथन है – सन्नाटा आत्यन्तिक रवहीनता नहीं है। वह शब्द का ही एक गुण है।...वह मौन का स्वर है, निस्तब्धता की गति है।")

ही नही बाहरी वातावरण भी इसके निर्माण में कैसे अपनी भूमिका निभाता है? उनके व्यंग्य की लपेट में राजनेता, हिन्दी के शोधकर्ता, विभागाध्यक्ष, साहित्यकार, वैज्ञानिक, मार्क्सवादी विचारक आदि सभी आ गए हैं । इस संग्रह के निबन्धों में अज्ञेय की अपने परिवेश के प्रति खरी प्रतिक्रिया व्यक्त हुई है, जो अपेक्षाकृत हल्की मन:स्थिति में लिखे गए इन आत्मपरक व ललित निबन्धों में भी एक गम्भीरता ला देती हैं ।

अज्ञेय का वैयक्तिक निबन्ध संकलन **'आत्मनेपद'** 1960 में प्रकाशित हुआ । इन निबन्धों की प्रकृति-प्रवृत्ति अन्य संकलनों से अलग हैं । इस सम्बन्ध में **लेखक 'निवेदन'** में स्वयं कहता है कि, 'यह सारी पुस्तक ही अपने विषय में है - अपने व्यक्ति के, अपने जीवनानुभव के, अपनी रचना की प्रवृत्तियों के, अपने विश्वासों के और उन सूक्ष्म तत्वों के जिन्हें लेखक अपने कर्म के बुनियादी मूल्य या प्रतिमान मानता है - जिनकी सूक्ष्मता ही उनकी गहराई को सूचित करती है ।'[1] साथ ही यह अत्यंत आत्मचेतन रचना है लेकिन लेखक की अहम्मन्यता से मंडित नहीं है । इस संग्रह में अज्ञेय ने कुल पांच प्रकरण क्रमबद्ध किए हैं, जिसमें अपनी सृजन-प्रक्रिया को काव्य, आख्यान, आलोचना, स्थिति और मन के सन्दर्भ में स्पष्ट किया है । इसमें 'काव्य और सत्यान्वेषण में 'प्रतीकों' का महत्त्व', 'प्रयोग और प्रेषणीयता', 'श्लील और अश्लील', 'कवि-कर्म : परिधि, माध्यम, मर्यादा', नये लेखक की समस्याएं', 'जीवन का रस', 'मैं क्यों लिखता हूँ', 'जो न लिख सका' आदि प्रमुख निबन्ध हैं ।

'हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' (1967) अज्ञेय के आलोचनात्मक निबन्ध-संग्रहों में से हैं । इसमें सन् 1967 से पहले की हिन्दी साहित्य की प्रमुख विधाओं का सैद्धांतिक और व्याख्यात्मक विवेचन किया गया है । लेखक ने विवेचन के लिए खड़ी बोली की कविता, उपन्यास, कहानी, एकांकी की आधुनिक पृष्ठभूमि तथा प्रेमचन्द और परवर्ती उपन्यास-परम्परा का चयन किया है । 'सौन्दर्य-बोध' और 'शिवत्व-बोध', साहित्य-बोध : आधुनिकता के तत्व', 'भारतीय साहित्य परम्परा : संघर्ष का उपयोग', 'साहित्य-प्रवृत्तियों की सामाजिक पृष्ठभूमि', रचना और प्रक्रिया', 'प्रकृति-काव्य : काव्य-प्रकृति', आदि प्रमुख निबन्ध हैं । पुस्तक के परिशिष्ट में 5 निबन्ध और है, जिनमें से तीन

[1] अज्ञेय - आत्मनेपद, निवेदन, पृ० सं०- 7

- 'हिन्दी साहित्य : चौपाई', 'केशव की कविताई', 'आत्मदर्शी रवीन्द्रनाथ' व्यावहारिक आलोचना से जुड़े हैं । इनके अलावा 'शोध और हिन्दी शोध' तथा 'प्रयोग : क्या और क्यों' निबन्ध भी संकलित हैं । रचना में शिवत्व-बोध और नैतिक-मूल्यों की स्थिति? रचना-प्रक्रिया क्या है? उसकी प्रेरणा? संघर्ष की स्थिति? रेडियो का आधुनिक जीवन के साथ-साथ सांस्कृतिक-साहित्यिक जीवन पर प्रभाव? वैदिक काल से छायावाद तक की प्रकृति का स्वरूप? आदि प्रश्नों पर गंभीर विचार किया हैं । इस संग्रह में अज्ञेय के समालोचक रूप के दर्शन होते हैं । साथ ही वे जो मूल्य-मानदण्ड तय करते है उन्ही के परिपेक्ष्य में इन विषयों पर अपनी स्पष्ट बात कहते हैं ।

1971 में अज्ञेय के चिंतन-प्रधान निबन्धों का संग्रह **'आलवाल'** प्रकाशित हुआ । इसमें कुल तेरह निबन्ध हैं, जिसमें 6 आलोचनात्मक तथा 2 आलोचनात्मक प्रश्नोत्तरी हैं । कुछ विषय ऐसे है जिनसे कवि जीवन-भर उलझते रहे है, तो कुछ विषय ऐसे हैं, जिनके द्वारा वे समकालीन लेखन पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं । कुछ निबन्धों में उन्होनें समालोचना के मूल्य तथा प्रतिमान भी निर्धारित किए हैं । 'शब्द, मौन,अस्तित्व', 'लेखक और परिवेश', 'लेखक की स्थिति', 'कविता श्रव्य से पठ्य तक', 'मानव प्रतीक-सृष्टा', 'साहित्य की भारतीय कसौटी', 'भारतीय संस्कृति और विश्व संस्कृति', 'विज्ञान और हम', 'उपन्यास की भारतीय विधा', 'समकालीन कविता का संकट', 'नयी कविता के गीत' एक प्रश्नोत्तर', 'काल का डमरू-नाद' । काल के विषय में अज्ञेय की अवधारणा की छाप उनकी रचनाओं तथा उनकी समीक्षाओं में यथास्थान देखी जा सकती हैं । उनकी परवर्ती रचनाओं में जो काल-चिंतन मिलता है, उसका आधारस्त्रोत यही है । "आलवाल के निबन्धों में एक ओर भारतीय साहित्य की प्रकृति को समझने-समझाने का प्रयास है तो दूसरी ओर लेखक के परिवेश और स्थिति का व्यापक सन्दर्भों में विस्तृत विवेचन है ।"[1]

'लिखी कागद कोरे' (1972) भी अज्ञेय के निजी-निबन्धों का संग्रह हैं । 'कोरे कागद' पर लिखने का स्पष्टीकरण देते हुए अज्ञेय ने इस पुस्तक के 'साँचि कहऊँ?' शीर्षक में लिखा है, "कोरे कागद का इससे अच्छा उपयोग न जानता होऊं सो बात नहीं । बल्कि

[1] अज्ञेय – आलवाल (फ्लैप से उदृधत)

यह भी मानना चाहता हूँ कि प्राय: तो इससे अच्छे ही काम में उसे लगाता हूँ और सुलझा हुआ पाठक तो यह भी पहचानेगा कि ये लेख वास्तव में वैसा सत्य नहीं है जिसके लिए पारम्परिक 'कोरे कागद' का व्यवहार सम्मत रहा। सत्य भी खंड-सत्य है; और कागद भी ओप चढ़ा है इसलिए सीमित अर्थ में ही कोरेपन का दावेदार हो सकता है।"[1] इस संग्रह में कुल 13 निबन्ध हैं, जिनमें 'सपने मैंनें भी देखे है', 'अज्ञेय : अपनी निगाह में', 'स्वाधीन भारत में लेखक', लेखक-अभियुक्त', कुट्टीजात विनोदेन-1-2 आदि प्रमुख हैं। 'हौआ प्रकरण-1' बी.बी.सी लन्दन से प्रसारित हुआ था। 'हौआ प्रकरण-2' की पाद टिप्पणी में इन लेखों के लिखे जाने का कारण बताया है। इनमें वस्तुत: हास्य-व्यंग्य के माध्यम से अज्ञेय ने नारी सम्बन्धी विचार व्यक्त किए हैं। कुछ निबन्धों में विभिन्न विद्वानों द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर दिए गए हैं। इस संग्रह की सार्थकता के विषय में **अज्ञेय** का मानना है कि, "समय-समय पर लिखे गए ये आत्मपरक निबन्ध या बोले गए प्रश्नोत्तर इस संगृहित रूप में भी पाठक को रुच सकते है, सुलझे हुए पाठक अपने को सुलझाने में कुछ मदद दे सकते हैं।"[2]

अज्ञेय के स्फुट निबन्धों एवं इंटरव्यू का संग्रह है - **'जोगलिखी' (1977)**। इसमें साहित्य की समस्याओं और तात्कालिक प्रश्नों पर विचारात्मक लेख और टिप्पणियाँ हैं, साथ ही रेडियो से प्रसारित कुछ वार्ताएं भी। लेखक ने स्वाधीनता, भाषा, यथार्थ, बुद्धिजीवी शिष्ट और लोक साहित्य, प्रतिरोध प्रतिबद्धता, जीवन-मूल्य, जनतंत्र आदि विषयों पर गहन चिंतन किया हैं। इस संकलन में 'आँखों देखी और कागद लेखी', 'सर्जनात्मक अवधान', 'अतीत के दर्पण में – एक लौ', 'उन्मेष शालिनी प्रतिभा', 'एक आम आदमी : एक युवा लेखक आदि निबन्धों में लेखक की अत:प्रक्रिया व्यक्त हुई हैं। साथ ही 'खंडित इकाइयां' एवं 'जहाँ मैं खड़ा हूँ' में केदारनाथ सिंह आदि विद्वानों-समीक्षकों द्वारा पूछे गए विविध प्रश्नों के उत्तर दिए गए हैं। प्रश्नोत्तर की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विषय है - अज्ञेय के साहित्य का उदेश्य, काव्य और छंद, काल-चिन्तन, काव्य-मूल्य, तनाव, विसंगति और विडम्बना, छन्दोबद्ध कविता, बोलचाल की भाषा और

[1] अज्ञेय – लिखी कागद कोरे, साँचि कहऊँ , पृ० सं०- 8

[2] अज्ञेय – लिखी कागद कोरे, साँचि कहऊँ , पृ० सं०- 9

सर्जनात्मक भाषा, कविता के मूल्यांकन के आधार, रचनाकार के बुनियादी सरोकार तथा रचनाकार की स्वतन्त्रता। इन प्रश्नोत्तरियों में अज्ञेय की काव्य-प्रक्रिया तथा समकालीन-लेखन से जुड़ी विचारधारा स्पष्ट है।

'अद्यतन' (1977) के निबन्धों के द्वारा अज्ञेय ने हिन्दी के वर्तमान और भविष्य की भाषा, प्रासंगिकता, शिक्षा, साहित्य-सृजन, तथा सर्जक की समस्याओं पर प्रकाश डाला है । इसमें कुल 22 निबन्ध संकलित हैं, जिनमें 'भाषा और अस्मिता', 'कुछ युग चिंतन', 'हिन्दी भारत के हृदय की कुंजी', 'प्रासंगिकता की कसौटी', 'भारतीय लेखक और राज्याश्रय', 'अपनी चरम सम्भावनाओं की पहचान', 'हिन्दी में शोध कार्य : अपेक्षाएँ', 'आज की भारतीय पत्रकारिता', 'इतिहास और स्वातंत्र्यबोध', 'भारतीय साहित्य : तुलनात्मक दृष्टि', 'शिक्षा : जोड़ने वाली या तोड़ने वाली' आदि निबन्ध प्रमुख हैं । यहाँ अज्ञेय ने भाषा की अपेक्षा शब्दों पर अधिक बल दिया हैं । इस परिपेक्ष्य में सम्प्रेषण का जिक्र करते हुए वे कहते है कि, "रचना के लिए सम्प्रेषण की कोई समस्या नहीं है । यह समस्या तो हम उस समय पैदा कर लेते हैं, जब शब्द से ध्यान हटाकर भाषा की चर्चा करने लगते हैं ।"[1]

अपने इन निबन्धों में 'प्रासंगिकता' पर विचार करते हुए **अज्ञेय** ने कहा है कि, "प्रासंगिकता किसी चीज के साथ होती है, शून्य में नहीं होती ।...मेरी समझ में वह आधार-भूमि है जिस पर खड़े होकर हम प्रासंगिकता का प्रश्न पूछ सकते हैं । सब प्रासंगिकताओं के मूल में एक प्रासंगिकता है ; क्योंकि सब मूल्यों के मूल्य में एक अभिमूल्य है स्वाधीनता । जो कुछ स्वाधीनता को बढ़ाता है, पुष्ट करता है, उसे स्थायित्व और सुरक्षा देता है वह सब मूल्यवान और प्रासंगिक है, जो ऐसा नहीं करता वह प्रासंगिक नहीं है ।"[2] इसके अलावा अज्ञेय ने इसमें प्रतिष्ठानों, पेशेवर नेताओं, राजनीतिज्ञों तथा मंत्रियों आदि को भी अपने व्यंग्य का निशाना बनाया है । हिन्दी भाषा अपने आरंभिक दौर से संघर्ष और विद्रोह की भाषा रही है । राष्ट्रभाषा हिन्दी का

---

[1] अज्ञेय – अद्यतन , पृ० सं०- 57-58

[2] अज्ञेय – अद्यतन , पृ० सं०- 163-165

राष्ट्रभाषा के रूप में प्रयोग व प्रतिष्ठान एक समस्या बन चुका है । ऐसी समस्याओं पर यहाँ गंभीर चिंतन-मनन हुआ हैं ।

1978 में अज्ञेय का **'स्रोत और सेतु'** निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हुआ । इसमें कुल 9 निबन्ध हैं । 'मिथक', 'भाषा और समाज', 'सभ्यता का संकट', 'जीवन के गुणाधार' आदि प्रमुख हैं । इनमें व्यक्ति-व्यवस्था, समाज, संस्कृति, स्वाधीनता मूल्य, भाषा के साथ-साथ राजनीति और मिथक पर बड़ी गहराई से विचार किया गया हैं । 'मिथक' निबन्ध में अज्ञेय ने बिम्ब, उपमा, प्रतीक, पुराण से मिथक का संबंध, मिथक का साहित्यिक अर्थ व उपयोग, मिथक और संस्कृति, काल-मिथक आदि बिन्दुओं को उद्घाटित किया हैं । साहित्यिक और सांस्कृतिक सन्दर्भ में 'मिथक एक तरह का रहस्यमय शक्ति-स्रोत है ।'[1] इसी तरह 'भाषा और समाज' में भाषा और अपनी पहचान, भाषा और मूल्य-सृष्टि, भाषा और संस्कृति, भाषा और यथार्थ, भाषा का अवमूल्यन, प्रयोजनवती भाषा, भाषा समाज और सर्जनशीलता आदि बिन्दुओं पर विचार हुआ हैं । भाषा को मात्र मनुष्य के मनुष्य होने की शर्त मानते हैं । भाषा के अवमूल्यन पर विचार करते हुए अज्ञेय का कहना है कि, "जब तक संस्कृति की एक समग्र भावना बनी रहती है तब तक भाषा का अवमूल्यन नहीं होता । पूरी संस्कृति का अवमूल्यन होता है इसलिए भाषा का अवमूल्यन होता है ।"[2]

'संवत्सर' (1978) निबन्ध-संग्रह दो खंडों में बंटा है - पहले खंड में चार क्रमातीत-भूमिकाएँ हैं, जिनमें दिग्विहीन, वर्गवृत्त, संवत्सर तथा कालमृग्या नामक निबन्ध हैं । इन्हें लेखक ने स्वयं 'ललित व व्यक्ति-व्यंजक' निबन्धों की संज्ञा दी हैं । दूसरे खंड में कालबोध की परिकल्पना से जुड़े चार निबन्ध है, जिनमें 'शाश्वत काल : इतिहास का क्रम', 'मानवीय काल : अनुभव का क्रम', 'साहित्यिक काल : यथार्थ का क्रम' और 'संप्रेषण का काल : भाषा का क्रम' निबन्ध शामिल है । लेखक ने इनमें व्यक्त मान्यताओं को साहित्य सृजन और आलोचना के उपयोगी माना है, साथ ही भूमिका में स्पष्ट कहा है

---

[1] अज्ञेय – स्रोत और सेतु, (मिथक), पृ० सं०- 65

[2] अज्ञेय – स्रोत और सेतु, (भाषा और समाज), पृ० सं०- 91

कि, 'यों तो काल और उसकी प्रतीति की समस्या तत्व-चिंतन और तर्क की सनातन समस्या रही है। मैं न तत्व-चिंतक हूँ, न तार्किक, यद्यपि दोनों क्षेत्रों में मेरी रूचि बराबर रही है और इस विषय को मैंनें न उठाया होता, अगर वर्षों से इस बात का तीव्र बोध मुझे न होता कि आज का साहित्य इस समस्या से विकट रूप से आक्रान्त है।....स्वयं अपने लेखन में मैनें देखा कि यह समस्या विभिन्न रूपों में उठती रही है - कभी-कभी जन उठी है तब मैनें उसे पहचाना भी नहीं, उसका जैसा-तैसा समाधान कर लेने के बाद ही उसके प्रति सतर्क हुआ। अपने लेखन से अलग भी सम्प्रेषण की बदलती हुई परिस्थितियों में बार-बार काल की प्रतीति से सम्बद्ध प्रश्न मेरे मन में उठे हैं।'[1] साथ ही अज्ञेय ने काल-प्रतीति से जुड़े इन विचारों को पाठक, लेखक, कवि, उपन्यासकार, आलोचक और अध्यापक आदि सभी के लिए उपयोगी माना हैं।

1981 में अज्ञेय ने **'युग संधियों पर'** निबन्ध-संग्रह निकाला। इस संकलन में छपे लेख 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में एक-एक पखवाड़े के अंतराल से प्रकाशित हुए थे। इस संग्रह में शासन, संस्कृति, धर्म-निरपेक्षता, देशीयता और मौलिकता, साहित्यकार का समाज, समाज में नारी, कला की समस्या आदि विषयों पर अज्ञेय ने विचार किया हैं। लेखक ने 'पुरोवाक्' में कहा है कि, "इन लेखों को ठीक समकालीन टिप्पणियाँ तो नहीं कहा जा सकता, पर वे अपने समय के कुछ जीवंत प्रश्नों पर एक लेखक के विचारों, चिंताओं और मंतव्यों को अवश्य प्रकट करते हैं।"[2] संकलन में कुल 15 निबन्ध हैं, जिनमें 'शासन : एक जादुई कालीन', 'खोयी हुई पीढियाँ', 'संस्कृति : यहाँ, वहां या कब्र में?', 'इतिहास और अभिजात पूर्वग्रह', 'धर्मनिरपेक्षता के दर्जे', 'वन,जन : और औपनिवेशिक मन', 'भालू चढ़ गया पहाड़ पर', साहित्यकार का सम्मान : किसलिए?', हमारे समाज में नारी', 'संस्कृति बनाम इतिहास : कला की समस्या' तथा 'अच्छा साहित्य कैसे बिके' आदि निबन्ध मुख्य हैं। 'शासन : एक जादुई कालीन' में एक कल्पित कथा के सहारे सर्वोच्च अधिकारी की मन:स्थिति तथा वर्तमान शासन प्रणाली व उसकी कार्य-पद्धति, नीयत का पर्दाफाश किया है। 'इतिहास और अभिजात पूर्वग्रह' निबन्ध में लेखक ने साहित्येतिहास लेखन में

---

[1] अज्ञेय – संवत्सर , भूमिका से

[2] अज्ञेय – युग संधियों पर, पुरोवाक से उदृधत

कुछ गिनी-चुनी अभिजात्य कृतियों का ही सहारा लिए जाने को एक प्रकार का पूर्वग्रह बताते हुए इसके लिए वाचिक परम्परा के काव्य (लोक काव्य) का भी सहारा लिए जाने पर बल दिया है। इसी तरह 'देशीयता और मौलिकता' निबन्ध में परम्परा के महत्त्व को समझाया है। साथ ही लेखक का मानना है कि, 'साहित्य के क्षेत्र में एकदम नया कुछ नहीं होता और जो नया होता भी है तो वह पुरातन से जुड़ा हुआ उसका विकसित रूप ही होता है।'[1] समाज में संस्कृति कब्र नही है, वह तो जमीन है जिस पर पैर रखे बिना प्रगति नही हो सकती। राजनैतिक संस्कृति और सामाजिक संस्कृति कैसे न्याय-व्यवस्था को खोखला कर रही है। नारी की स्थिति के लिए समाज और व्यवस्था का रुख कितना गैरजिम्मेदार हो गया है आदि मुद्दों पर भी विचार किया हैं।

'धार और किनारे' (1982) निबन्ध-संग्रह में 13 निबन्ध है, जिनमें 5 आलोचनात्मक निबन्ध भी हैं। 'साहित्य और अन्य विधाएं', 'यथार्थ सम्प्रेषण : कथा भाषा की समस्याएं', 'समकालीन कविता की दशा', 'संस्कृति की चेतना', 'आधुनिकता : संवेदन और सम्प्रेषण', 'साहित्यकार और सामाजिक प्रतिबद्धता आदि। इन विषयों पर अज्ञेय पहले भी अपनी राय दे चुके हैं, लेकिन समय के साथ शोधित दृष्टिकोण और अर्थवान होकर अभिव्यक्त हुए है। यहाँ 'संस्कृति' आधुनिकता और भारतीयता के खतरे को लेकर आई है - "लेकिन यह 'भारतीय होना' क्या? क्या चीज़ या कौन-सी बातें, या संवेदन के कौन-से संस्कार है जो एक संस्कारवान भारतीय को अलग करेगें और पहचनवा सकेगें?...इस तथाकथित आधुनिक भारतीय संस्कृति में भारतीय कुछ नहीं बचा है, संस्कृति भी लगभग नहीं बची है, आधुनिक कितना है, यह बिल्कुल संदिग्ध है।"[2] 'आधुनिकता : संवेदन और सम्प्रेषण' में अज्ञेय ने कुछ आलोचना से जुड़े तथ्य उजागर किए हैं। आधुनिकता को संवेदन और कालबोध के साथ जोड़कर देखा है। अज्ञेय के अनुसार आधुनिकता मूलतः एक नए ढंग का काल-बोध है। संवेदन का एक संस्कार है। संवेदन का विचार सम्प्रेषण से जुड़ा है। परिस्थिति बदलने से काल बोध बदलता है,

---

[1] अज्ञेय – युग संधियों पर, (देशीयता और मौलिकता), पृ० सं०- 42

[2] अज्ञेय – धार और किनारे, पृ० सं०- 45-48

सम्प्रेषण की कोई नयी युक्ति उपलब्ध हो जाने से सम्प्रेष्य यथार्थ बदल जाता है ।[1] इन निबन्धों में विषय विशेष की व्यावहारिक समीक्षा की बजाए उनके रचनात्मक संकट और समस्याओं का विवेचन किया हैं ।

1982 में प्रकाशित **'कहाँ है द्वारका'** निबन्ध-संग्रह में 12 ललितरम्य और व्यक्तित्वव्यंजक रचनाएं हैं । जिनमें 'भाव तो वहाँ है पर रंजित रूप में प्रस्तुत किया गया है और वह रंजन उन्हें झूठा या हल्का करने के लिए नहीं है बल्कि आपको आकृष्ट करने के लिए है – रंगत के प्रति भी उस मूल्यवान धातु के प्रति भी, जिसे रंजित किया है ।'[2] 'वर्षागम', 'ऊँघ', 'अस्पर्श', 'शैतान के आइने', 'खगभाषा', 'छोड़ने का सुख', 'आकाश से नारद गुजरे', 'चेहरे का मन्दिर', 'ताली तो छूट गयी', 'मरुस्थल की सीपियाँ', आदि निबन्ध संकलित हैं । इनमें धर्म, संस्कृति, दर्शन, तथा पौराणिक मिथकों पर अपनी विचारधारा बतलाई हैं । 'वर्षागम' में एक छोटी-सी चिड़ियाँ के क्रिया-व्यापारों के माध्यम से अज्ञेय वैश्विक प्रक्रिया का बोध प्राप्त करते है और इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि प्रक्रिया की पहचान संस्कृति की पहचान है । प्रक्रिया सनातन है, प्रक्रिया ही गति है और उसी वैश्विक प्रक्रिया के अंतर्गत 'वर्षा ऋतु भी स्वयं देखेगी कि कितना-कितना हर्ष चारों ओर लहरा उठा है । क्योंकि असली साथी तो ऋतु ही है, जो सब कुछ को होते देख रहा है ।'[3] 'अस्पर्श' अशरीरी सत्ताओं की उपस्थिति और उनके अनुभव से जुड़ा निबन्ध है । 'खंगभाषा' आधुनिक शहरी सभ्यता के वर्णन और शहरों में मकान खोजने को जोखिम भरी साहसिक यात्रा के अनुभवों को पेश करता है । एक सुकून भरा माहौल चाहता है जहाँ वह पक्षियों की मधुर वाणी का आनन्द ले सके । उनके शब्दों को अर्थ की परिधि में नहीं बाँधना चाहता क्योंकि असली आनंद तो मौन में है । नाद-ब्रह्मा की साधना में सच्चा आनन्द है ।

---

[1] अज्ञेय – धार और किनारे, पृ० सं०- 60

[2] अज्ञेय – कहाँ है द्वारका, पृ० सं०- 1

[3] अज्ञेय – कहाँ है द्वारका, (वर्षागम), पृ० सं०- 20

'आकाश से नारद गुजरे' निबन्ध संवादात्मक है। प्रत्येक सभ्यता-संस्कृति में कुछ प्राक या मिथकीय चरित्र होते है जो उस सभ्यता-संस्कृति की मूल प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसमें पश्चिम तथा पूर्व की सभ्यता-संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले दो-दो चरित्र चुने गए हैं। पश्चिमी सभ्यता/संस्कृति के फ़ाउस्ट और हैमलेट जो 'फ़ाउस्ट पावर थ्रू नालेज' के प्रतिनिधि है। भारतीय सभ्यता/संस्कृति के प्रतीक-पुरुष – हनुमान और नारद है जो 'पावर थ्रू ओबीडीएंस' के प्रतिनिधि है। 'हनुमान तथा नारद भाव भारत के व्यावहारिक जीवन को भी समझने की एक कुंजी दे सकता है।'[1] 'कहाँ है द्वारका' संग्रह का शीर्षक भी है और प्रतिनिधि निबन्ध भी। द्वारका की खोज अपने भीतर की यात्रा है, संस्कृति के मूल स्रोतों से जुड़ने की अकुलाहट हैं।

'छाया का जंगल' (1984) निबन्ध-संग्रह में कुल 12 निबन्ध हैं। संग्रह का पहला निबन्ध भी इसी शीर्षक का है। इसके अलावा 'बरामदे में', 'मन बेइमान हो गया', 'बरसात', 'एक अंतराल', 'कैसे कहूँ किसकी याद आयी', 'सबेरे की सैर', 'वासुदेव प्याला', 'कहाँ पहुंचे' आदि निबन्ध हैं। 'छाया का जंगल' निबन्ध की प्रेरणा राम-जानकी-जीवन यात्रा और उससे जुड़ा वाल्मीकि-आश्रम, सीतामढ़ी, नेपाल की तराई के जंगल और प्राचीनकाल से ऋषि के आश्रम और पाशर्ववर्ती प्रदेश में बिखरे ऊर्जा-स्रोत है। 'एक अंतराल' यानी बीच का खाली समय। वास्तव में यह निबन्ध काल-चिंतन से जुड़ा है। अज्ञेय काल के साथ सख्य भाव अपनाते हुए सभ्यता और संस्कृति में अंतर करते है – 'सभ्यता वह जो खाली समय पैदा करे, और संस्कृति वह जो खाली समय का उपयोग करने की क्षमता और कुशलता दे। खाली समय आप के संस्कार की सच्ची कसौटी है।'[2] 'कैसे कहूँ किसकी याद आयी' यह भी काल-चिंतन से जुड़ा है, जिसमें काल या तो स्मृति है या प्रतीक्षा व आकांक्षा। स्मृति की व्याख्या करते हुए अज्ञेय कहते है कि, 'स्मृति की संरचना ही ऐसी होती है कि वह अलग-अलग यादों को जोड़कर या किसी क्रम में लगा

[1] वही, (आकाश से नारद गुजरे), पृ० सं०- 60

[2] अज्ञेय – छाया का जंगल (एक अंतराल), पृ० सं०- 32

कर याद नहीं करती बल्कि बिम्बों का एक गत्यात्मक और परस्पर-संग्रथित, परस्पर-भेदी समूह उभार के सामने ले आती हैं ।'[1]

'आत्मपरक' (1983) यह अज्ञेय के दो निबन्ध-संग्रहों 'आत्मनेपद' और 'लिखी कागद कोरे' का पुनर्मुद्रण हैं । इसी तरह **'केंद्र और परिधि' (1984)** में 'स्रोत और सेतु', 'आलवाल', 'अद्यतन', 'जोग लिखी', 'युग संधियों पर', और धार और किनारे' से लिए गए निबन्धों का संकलन हैं । **'सर्जना और सन्दर्भ' (1985)** में साहित्यालोचन 'स्मृतिछंदा' एवं 'संवत्सर' को छोड़कर सारे निबन्ध संकलित हैं । **'स्मृतिछंदा' (1989)** के निबन्ध मुख्य रूप से लेखक के परिवेश, भाषा, साहित्य और संस्कृति से जुड़े हैं । जिनमें 'मैं क्यों पढ़ता हूँ', 'परिवेश की चेतना और रचना की भाषा', कथा भाषा की समस्या', 'भाषा : रचना-भाषा-औपनिवेशिक मानसिकता', साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया' आदि विषयों पर विचार किया हैं । 'मैं क्यों पढ़ता हूँ' निबन्ध में अज्ञेय ने 'अच्छा साहित्य-रचनात्मक साहित्य क्या है? बताते हुए कहा है कि, 'अच्छे साहित्य की एक कसौटी यह है कि वह व्यक्ति को बदलता है वह पाठक के सामने ऐसी सच्चाई को पेश करता है जिसका साक्षी स्वयं उसका अंत:करण बनता है । श्रेष्ठ रचना साहित्य अपने गृहीता को रचयिता बनाता है, उसके भीतर सोयी रचना शक्ति को उद्घाटित करता है ।'[2] 'कथा भाषा की समस्या को काल-बोध से जोड़कर बतलाया है । कथा के चरित्र कहाँ से आए? कब आए, कब गए? सम्प्रेषण के लिए कैसी भाषा चुनी गई? कथा किस देशकाल से चुनी गई? लेखक ने इन सभी को कितनी सच्चाई के साथ पेश किया? दर्शकों ने सम्प्रेषित भाषा को कैसे ग्रहण किया? आदि समस्याओं की ओर लेखक ने ध्यानाकर्षित किया हैं ।

अज्ञेय के कथेत्तर गद्य साहित्य में इन निबन्धों के अलावा उनकी **डायरियों, संस्मरणों, साक्षात्कारों** तथा **यात्रा-वृतांतों** का भी प्रमुख स्थान हैं । इनमें भी अज्ञेय का चिंतन तथा समालोचक रूप उभर कर आया है । अज्ञेय की डायरियों में - **'भवन्ती',**

---

[1] अज्ञेय – छाया का जंगल, (कैसे कहूँ किसकी याद आयी) , पृ० सं०- 36

[2] अज्ञेय – स्मृतिछंदा, (मैं क्यों पढ़ता हूँ), पृ० सं०- 14-16

'अंतरा', 'शाश्वती' व शेषा' हैं, जिन्हें स्वयं रचनाकार ने अपनी रचना की अंत:प्रक्रियाएँ कहा है। 'भवन्ती' में 1964 से 70 तक की, 'अंतरा' में 1975 से 79 तक की, 'शाश्वती व शेषा' में 1980 से 1987 तक की अंत:प्रक्रियाएँ शामिल हैं। इनके नामकरण के लिए पहले लेखक के मन में वेद-उपनिषद् के परिपेक्ष्य में 'विचिन्वन्ती' और 'आकिरन्ती' तथा 'विन्दन्ती' नाम उभरे थे लेकिन 'भवन्ती' और 'माझे-माझे' लिखी गयी चीजों के लिए 'अंतरा' नाम स्वीकार कर लिए गए। 'अस्ति' और 'भवति' के बीच से उभरा नाम 'भवन्ती' है। 'भवन्ती' में प्रक्रिया में बंधा होना सूचित होता है और ताल की प्रतिष्ठा हो जाने के बाद सम पर आकर विश्राम भी होगा ही। 'शाश्वती' का पहले दूसरा नाम 'शेषा' सोचा गया जिसे प्रकाशन के समय बदल दिया, लेकिन इन अंत:प्रक्रियाओं की यात्रा के अंतिम पड़ाव में ये दोनों नाम एकमय हो जाते हैं। 'जो शेष है वही शाश्वत है, जो शाश्वत है वही शेष है। ' इसलिए 'शाश्वती'।[1] 'शेषा' को बची-खुची टीपों का संकलन न माना जाए इसलिए अज्ञेय लिखते है कि, 'लगातार पचास वर्ष तक लिखते रहने के बाद भी जो बचा रह जाता है – प्रश्न, चिंताएं, संदेह, आस्थाएं, व्याकुलताएं, आनंद और प्रतीति की संभावनाएँ – उन सबके संकेत लेकर ही मैं पाठक के सामने आया हूँ।'[2]

'भवन्ती' में कवि अज्ञेय की रचना-प्रक्रिया तथा काव्य-यात्रा के विभिन्न अनुभव-खंड संकलित हैं। स्वयं लेखक के अनुसार 'भवन्ती' उस यात्रा की 'लाग बुक', 'कंट्रोल पैनल' या एन्जिन रूम' व 'सागर-पथ' है जिसके आधार पर यात्रा के पथ-चिन्ह, अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियों तथा धाराओं, जोखम, भटकन, प्रत्युत्पन्न सूत्र आदि का ब्यौरा मिलता रहे। अपनी इन डायरियों में अज्ञेय ने 'कवि-पद', 'कविता का स्वरूप', 'रचनाकार का व्यक्तित्व', 'आधुनिक भाव-बोध : परिवेश और समाज', 'रचनात्मक आदर्श', 'छंद और भाषा', 'सांस्कृतिक/मिथकीय संचेतना', 'अनुभूति और सम्प्रेषण', 'नैतिक मूल्यों और रचना', 'काल-चिंतन', 'यथार्थ', 'हिन्दी-उर्दू भाषा-प्रकृति', 'कवियों/आलोचकों पर टिप्पणी' आदि विषयों पर गहन चिन्तन किया हैं।

---

[1] अज्ञेय – शाश्वती, निवेदन, पृ० सं०- 6

[2] अज्ञेय – शाश्वती, निवेदन, पृ० सं०- 7

'स्मृतिलेखा' (1982) में अज्ञेय ने अपने युग और युग के साहित्यिक कृतित्व को दिशा देने वाले 12 रचनाकारों के सम्बन्ध में संस्मरणात्मक निबन्ध लिखे हैं। जिनमें 'भारत कोकिला : सरोजिनी नायडू', 'राष्ट्रकवि : मैथिलीशरण गुप्त', 'स्मरण का स्मृतिकार : रायकृष्ण दास', 'उपन्यास-सम्राट-प्रेमचन्द', 'वसंत का अग्रदूत-सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला', 'स्वर-सिद्ध – सुमित्रानंदन पंत', 'धरती का धनी - फणीश्वरनाथ रेणु', बीसवी सदी का बाणभट्ट – हजारीप्रसाद द्विवेदी' आदि रचनाकार प्रमुख हैं। इस संकलन के दूसरे संस्करण में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए लेखक कहता है कि, 'मेरे लिए यह भी संतोष का विषय है कि उन श्रेष्ठ व्यक्तियों की स्मृति ताज़ा करने में मेरा भी कुछ योग हो सका है जिन्होनें हमारे साहित्यिक संवेदन का निर्माण किया है और उसे एक संस्कार दिया है, जिन्होनें हमें अपनी अस्मिता की पहचान करायी है।'[1] **'स्मृतियों के गलियारों से' (2000)** में भी अज्ञेय के संस्मरणात्मक निबन्ध संकलित हैं।

साहित्य से जुड़े व्यक्तियों ने साक्षात्कार के माध्यम से अज्ञेय और उनके साहित्य को भी जानने का प्रयास किया है। **'अपरोक्ष' (1979)** में अज्ञेय से जुड़े सात संवाद प्रकाशित हैं। इसमें प्रश्नोत्तरी के माध्यम से अज्ञेय का चिंतक व्यक्तित्व मुखर हो सका है। स्वयं निबंधकार अज्ञेय का मानना है कि इस पुस्तक के प्रश्नोत्तर साहित्य, समाज, संस्कृति, भाषा, अस्मिता और मानवीयता के कई पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। इसी तरह **'रचना : क्यों और किनके बीच' (1988)** भी संवादों और भेंट-वार्ताओं का संकलन हैं। पहला संवाद शरत कुमार और गीतिसेंन के साथ 'रचना कर्म के कुछ पहलू' विषय पर हुआ। दूसरा रमेश चन्द्र शाह और अज्ञेय के बीच 'साहित्य की चिंता' पर हुआ। तीसरा राजी सेठ के साथ दो संवाद 'व्यक्ति : दुःख, आस्था, आत्मालोचन विषय पर हुए। चौथी और अंतिम प्रश्नोत्तरी 'रचना : क्या, क्यों, किनके लिए, किनके बीच' नंद किशोर आचार्य के साथ हुई। ये संवाद मुख्यत: अज्ञेय के व्यक्तित्व, चिन्तन और मानसिकता पर केन्द्रित है।

---

[1] अज्ञेय – स्मृतिलेखा , भूमिका, पृ० सं०- 5

अज्ञेय बचपन से ही घूमने के शौकीन रहे थे। अपने यायावरी अनुभवों को अज्ञेय ने दो यात्रा-वृतांतों **'अरे यायावर रहेगा याद' (1953), 'एक बूंद सहसा उछली' (1960)** में संजोया हैं। 'हरी घास पर क्षण भर' कविता-संग्रह की कविता है – दूर्वांचल' ।[1] इस कविता की अंतिम पंक्ति ही पहले यात्रा-वृत्तांत का शीर्षक है। इस यात्रा-वृत्त में वर्णित कुछ यात्राएँ उस समय सम्पन्न हुई जब अज्ञेय असम-वर्मा फ्रंट पर द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान सेना में नौकरी करते थे, कुछ यात्राएँ उससे पहले और बाद में सम्पन्न हुई। इसमें भारत के विभिन्न स्थलों की यात्राओं के अनुभव चित्र प्रस्तुत किए हैं। दूसरे संस्करण की भूमिका में **अज्ञेय** ने लिखा है कि, 'देश के विभाजन से पुस्तक के पहले लेख (परशुराम से तूरखम) में वर्णित यात्रा-पथ का एक बड़ा भाग देश से कट गया था। और देश की मर्यादा रेखा खैबर-पार से सिकुड़कर अमृतसर लाहौर के बीच आ गयी थी। एक बड़े भूकम्प के कारण वह पहाड़ ही धंस गया था, जो ब्रहाम्पुत्र का आवर्त बनकर परशुराम कुण्ड को आकार देता था।'[2] इस पुस्तक में कुल 8 प्रकरण है – 'परशुराम से तूरखम', 'किरणों की खोज में', 'देवताओं के अंचल में', 'मौत की घाटी में', 'एलुरा', 'माझुली', 'बहता पानी निर्मला', सागर-सेवित, मेघ-मेखलित। 'किरणों की खोज में' कास्मिक किरणों की खोज में एक वैज्ञानिक अभियान दल के सदस्य के रूप में लेखक द्वारा कश्मीर की यात्रा और दुर्गम पर्वतों की कष्ट-साध्य चढ़ाई तथा वहाँ कबीले वालों के साथ बातचीत का वर्णन है। 'देवताओं के अंचल में' कुल्लू-मनाली की यात्रा तथा मौत की घाटी में रोहतांग जोत की यात्रा का वर्णन है। 'एलुरा' में एलोरा की गुफाओं, कैलास रंग तथा औरंगाबाद और मुगल सम्राट औरंगजेब की कब्र तथा अन्य सम्बन्धित स्थानों का ब्यौरा हैं। 'सागर-सेवित-मेघ-मेखलित' में कन्या कुमारी से नंदा देवी तक की यात्रा का विवरण हैं।

---

[1] अज्ञेय – हरी घास भर क्षण भर (दूर्वांचल) "भले ही बरस दिन अनगिन युगों के बाद।
क्षितिज ने पलक सी खोली,
तमक कर दामिनी बोली – 'अरे यायावर! रहेगा याद?

[2] अज्ञेय – अरे यायावर रहेगा याद? भूमिका , पृ० सं०- 7

अज्ञेय के दूसरे यात्रा-वृत्त **'एक बूंद सहसा उछली'** का शीर्षक भी उनकी कविता 'मैनें देखा, एक बूंद'[1] की पंक्ति से लिया गया है । इसमें अज्ञेय ने अपनी विदेश-यात्राओं का वर्णन किया हैं। पश्चिमी यूरोप के इटली, फ़्रांस, स्विट्जरलैंड तथा जर्मन देश के प्रसिद्ध शहरों के साथ-साथ उनकी संस्कृतियों का भारत की संस्कृति से भिन्न रूप भी प्रस्तुत किया है । यूरोप परिपथ में आने वाले नगरों, राजधानियों आदि से जुड़े अनुभव एवं आकर्षण का विवरण दिया है । इटली के प्रमुख नगर – फ्लोरेंस या फिरेंजे के बारे अज्ञेय का अनुभव है कि, 'अपनी प्राचीन परम्परा का अभिमान, अपनी भाषा के प्रति निष्ठा और उत्तरदायित्व का भाव, समकालीन सांस्कृतिक जीवन में अपनी सुंदर नगरी का सम्मान राजधानी रोम से ऊँचा बनाए रखने का शिष्ट हठ और एक अत्यंत आकर्षक और सहज हँसमुख भद्रता-फिरेंजे में बिताए हुए एक मास के अवकाश में बार-बार इसका अनुभव हुआ ।'[2] इटली शहर को लेकर लेखक ने चार यात्रा-संस्मरण भी लिखे हैं। कार्ल यास्पर्स से अज्ञेय की भेंट इस यात्रा-वृत्त का महत्त्वपूर्ण प्रकरण है, जिसमें दोनों की प्रश्नोत्तरी बातचीत है । यहाँ अज्ञेय ने पश्चिमी संस्कृति, दार्शनिक एवं साहित्यिक जिज्ञासाओं का पाने की चेष्टा की हैं।

इनके अलावा अज्ञेय की **अनुवादित रचनाएं** भी कथेत्तर साहित्य में ही आती हैं । अज्ञेय ने कई ग्रन्थों का अनुवाद किया हैं। कुछ हिन्दी से अंग्रेजी, कुछ अंग्रेजी व बांग्ला भाषा से हिन्दी में । जैनेन्द्र रचित उपन्यास 'त्यागपत्र' का अनुवाद अंग्रेजी में **'द रेजिग्नेशन'** (1946) नाम से किया । बांग्ला के रविन्द्रनाथ ठाकुर का 'गोरा', 'राजा', शरत चन्द्र के 'श्रीकांत', का हिन्दी अनुवाद किया । अज्ञेय ने लागर क्विस्त के तीन उपन्यासों का अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद भी किया। अंग्रेजी लेखक इवो आन्द्रिक रचित 'विजिर स एलिफेंट' (वजीर का फीला) एवं रोमां रोला रचित 'विवेकानन्द' का हिन्दी अनुवाद किया । 'लिंकन वाणी' नामक अनुदित रचना 1959 में प्रकाशित हुई ।

---

[1] अज्ञेय – सदानीरा-2 (अरी ओ करुणा प्रभामय), पृ० सं०- 43 'मैनें देखा , एक बूंद सहसा उछली सागर के झाग से।
रंग गयी क्षण-भर, ढलते सूरज की आग से।'

[2] अज्ञेय – एक बूंद सहसा उछली, पृ० सं०- 20

'भवन्ती' और 'अंतरा' का भी अंग्रेजी में अनुवाद क्रमश: 'ट्रक्युलेंट क्ले' एवं 'ब्रेकिंग द ग्राउंड' शीर्षक से किया।

इस तरह ये सभी रचनाएँ अज्ञेय के कथेत्तर गद्य साहित्य में आती हैं , जिनमें चिंतक अज्ञेय के साथ-साथ उनके समालोचना संबंधी विचार भी मिलते हैं। इन निबन्ध-संग्रहों, डायरियों, यात्रा-वृतांतों आदि पर आलोचकों के विचार व टिप्पणियाँ प्राय: कम ही मिलती हैं। यथास्थान आलोचकों ने अज्ञेय के निबन्धों में उठाए विषय-विशेष को लेकर ही अपना पक्ष-विपक्षीय दृष्टिकोण व्यक्त किया है। अज्ञेय की सभी रचना-विधाओं पर हिन्दी आलोचना जगत में बहुत आरोप लगाए गए । इन आरोपों पर अपनी प्रतिक्रिया एवं स्पष्टीकरण भी यथास्थान इन सभी संग्रहों, टीपों आदि में मिलता हैं। अज्ञेय ने अपने ये संग्रह साहित्य-रचना एवं उसकी स्वायत्तता, रचनाकार के दायित्व एवं परिवेश, संस्कृति और भाषा, समीक्षा के गिरते स्तर तथा मूल्यांकन के नए प्रतिमानों को केन्द्रित कर लिखे हैं। मूल्यांकन के ये नए प्रतिमान क्या है? अज्ञेय के आरंभिक निबन्धों एवं भूमिकाओं को लेकर कुछ आलोचकों ने यह तर्क भी रखा है कि इनमें अज्ञेय का पत्रकार रूप ही अधिक उभर कर आया है[1], तो वही कुछ आलोचकों ने अज्ञेय की इस वैचारिकता को प्रगतिवादी साहित्य के ख़िलाफ़ मोर्चा घोषित किया है।[2]

अज्ञेय ने साहित्य में एक भिन्न विचारधारा के साथ पर्दापण किया, उस समय प्रगतिवाद अपने दर्शन की प्रखरता के कारण वैचारिक प्रभुत्व की स्थिति में पहुंचने के करीब था। प्रगतिवाद के समक्ष खड़ी इस नयी विचारधारा का जोर-शोर के साथ खण्डन हुआ। साथ ही प्रगतिवाद अपने उस स्तर पर पहुँच चुका था कि इस नए लेखक का उससे बहस करना या उसे परास्त करना मुश्किल था। ऐसे में अज्ञेय ने कुछ ऐसे रचनाकारों को सहारा दिया जो उनकी इस दृष्टि से साहित्य लेखन में प्रवृत्त थे। ('सप्तक' श्रृंखला इसका प्रमाण है। जिसे उस दौर के आलोचकों ने अज्ञेय की गुटबांजी का नाम

---

[1] प्रभाकर मिश्र – निबंधकार अज्ञेय, पृ० सं०-65 (समीक्षक का मत है कि – 'अज्ञेय के आरंभिक निबन्धों में उनका 'पत्रकार' हावी है और परवर्ती निबन्धों की अंतर्यात्रा में उनका 'चिंतक' पूरी सर्जनशीलता के साथ ओत-प्रोत है।')

[2] डॉ० रामबक्ष – समकालीन हिन्दी आलोचक और आलोचना, पृ० सं०- 95 (आलोचक का मत है कि – 'अज्ञेय ने अपनी आरंभिक रचनाओं में –' आत्मनेपद' और 'त्रिशंकु' में प्रगतिवाद पर जबर्दस्त आक्रमण किया – कुछ-कुछ इस भाव से कि प्रगतिवाद हिन्दुस्तान से नहीं तो, हिन्दी साहित्य से तो हमेशा-हमेशा के लिए खदेड़ देंगे।')

दिया ।) उन रचनाकारों को अज्ञेय ने भाषा, विचार के साथ ऐसे तर्क भी दिए जिससे वे प्रगतिवाद के समक्ष टिक सके तथा उनसे बहस कर सके अपनी नई विचारधारा की पैठ बना सके । इस तरह ये बहस का सिलसिला आरंभ हुआ, इसके पीछे ओर भी कई कारण थे । इसी बहस के कारण अज्ञेय ने साहित्य रचना से जुड़े ऐसे पक्षों-पहलुओं के बारे में नयी वैचारिक पृष्ठभूमि का परिचय दिया, जिससे उस दौर के अन्य रचनाकार-आलोचक परिचित नहीं थे ।

4.2 हिन्दी आलोचना और आलोचक अज्ञेय : विषय और विश्लेषण

हिन्दी आलोचना में अज्ञेय के कथेत्तर गद्य ने कई महत्त्वपूर्ण विषयों एवं मुद्दों पर अपनी नई स्थापनाएं की हैं । जिनमें हम कुछ मूलभूत विषयों को लेकर उनकी वैचारिक तथा आलोचक दृष्टि का विश्लेषण कर सकते हैं ।

क. सर्वप्रथम, अज्ञेय ने अपने निबन्धों, डायरियों आदि में 'साहित्य' तथा उससे जुड़े विभिन्न मुद्दों (समाज, संस्कृति, भाषा, रचना-प्रक्रिया, आदि) को लेकर जो अपनी एक समझ व्यक्त की है वह क्या है? साथ ही मूल्यांकन के लिए इन मूल्यों में से किसको अधिक महत्ता दी?

ख. दूसरे, आलोचक अज्ञेय ने इन संग्रहों में अपने समकालीन रचनाकारों को लेकर क्या व कैसी आलोचना की है? उनका मूल्यांकन कर क्या नया मत पाठक के सामने रखा? आदि।

ग. तीसरे, उनके ललित निबन्धों में ऐसी क्या विशेषताएं एवं विचार है जिससे उन्हें ललित निबन्धों की कोटि में रखा जाए?

4.2.1 निबन्ध-डायरी : पाठ, विचार और मूल्यांकन

कथेत्तर गद्य में अज्ञेय के साथ-साथ उनके समकालीन लेखकों (मुक्तिबोध, शमशेर, साही आदि) ने भी साहित्य से जुड़े बीज पदों-प्रत्ययों को गहराई से विश्लेषित किया । अब तक विद्वानों ने साहित्य को जनता के हित का साधन तथा जीवन का पर्याय माना है साथ ही ऐसी कला भी जो जीवन को प्रेरित, परिचालित और आंदोलित कर

सके। अज्ञेय की नज़र में **साहित्य** क्या है? उनका मानना है कि जो साहित्य अपने समय की चिंताओं, संदेहों को व्यक्त करता है, मूल्यों का संकट पहचान उन मूल्यों को पाने के लिए छटपटाता है, जो इस संकट के पार भी बचा रह सकता है वही आज का साहित्य है। 'जोगलिखी' में इसी विचार को आगे बढ़ाते हुए **अज्ञेय** कहते है कि , "साहित्य असीम की देहरी है। रचनाशील मानस अप्रमेय है। इसी में साहित्य का भविष्य है। वह अप्रमेय और अननुमेय मानव की सम्भावनाओं के उन्मेष का क्षेत्र है। साहित्य-रचना में मनुष्य अपनी अकल्पित और अपूर्व असंभावनाओं को पहचानता और आत्मसात करता है। अपनी स्वाधीनता और अपनी रचनाधर्मिता को अभिव्यक्ति भी देता है और स्वायत्त भी करता है।"[1]

साहित्य को स्वतंत्र व स्वायत्त निर्मिति मनाने तथा उसे विचार, दर्शन, मतवाद, समाज व सत्ता तथा विचारों के उपनिवेश के परिपेक्ष्य में देखने-समझने और विश्लेषित करने की परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के बीच ही साहित्य का विकास हुआ है। अज्ञेय साहित्य और समाज का संबंध स्वीकार तो करते है लेकिन अपनी शर्तो पर। वे साहित्य की सामाजिक परिवर्तन में भूमिका लक्षित करते है लेकिन वह भूमिका कितनी हो, कैसी हो, इसके विषय में उनकी दृष्टि विचारधारा आधारित साहित्य लेखन तथा प्रतिबद्ध साहित्यकारों से अलग है।

अज्ञेय के शब्दों में – "अगर मैं मानता भी हूँ कि समाज को बदलने में साहित्य का योग होता है कि उसमें साहित्यकार की भी कुछ जिम्मेदारी होती है, तो भी आज साहित्यिक रचना और सामाजिक परिवर्तन जैसा सीधा समीकरण बनाया जा रहा है, उसे मैं बिल्कुल नहीं स्वीकार करता। मैं समझता हूँ कि पिछले लगभग पचास वर्षों से इस तरह का सीधा संबंध बनाने और सिद्ध करने का जो एक प्रयत्न होता रहा है, उसने साहित्य का बहुत अहित किया है।"[2] वे व्यक्ति के कवि और नागरिक कर्मों में भेद करके प्रगतिवाद द्वारा सौपें गए अधिकांश कामों को नागरिक के हवाले करके कवि को लगभग

---

[1] अज्ञेय – जोगलिखी, पृ० सं०- 200

[2] सं नंदकिशोर आचार्य – अज्ञेय संचयिता, पृ० सं०- 412

उन सामाजिक दायित्वों से मुक्त कर देते हैं। समाज की कोई भी पक्षधरता साहित्यकार की स्वाधीनता में बाधक बने यह अज्ञेय को स्वीकार्य नहीं है।

अज्ञेय साहित्य की सामग्री और उसके उदेश्य को अलग-अलग रखते हैं। 'संसार की अनुभूतियाँ और घटनाएँ साहित्यकार के लिए मिट्टी है, जिनसे वह प्रतिमा बनाता है। वह निरी सामग्री है, उपकरण है। वह कलाकार को बांध नही सकती, कलाकार उसका मनमाना प्रयोग कर सकता है।'[1] इसी रूप में वह उपयोगी है। साहित्य का उदेश्य समाज-सेवा नही हो सकता, क्योंकि साहित्य का उदेश्य पहले से ही निश्चित नहीं किया जा सकता। साथ ही किसी एक दिए गए, बने बनाए ढांचे पर साहित्य-सृजन की आशा भी भ्रामक है।[2] मार्क्सवाद से अनुप्राणित साहित्य चिंतन की आर्थिक वैचारिकी की सीमा का संकेत करते हुए अज्ञेय कहते है कि, 'प्रगति का अर्थ केवल आर्थिक विकास, बल्कि आर्थिक विकास की एक दिशा रह गया है, यहाँ तक कि संस्कृति की अथवा सामाजिक मूल्यों की चर्चा को निरी विलासिता मान लिया गया है।'[3] अपने इस कथन से अज्ञेय ने प्रगतिशील साहित्य का विरोध किया है।

इसी श्रृखंला में अगला प्रश्न उठता है कि **साहित्य किसके लिए लिखा जाता है?** 'स्वांत: सुखाय' या समाज के लिए? इस प्रश्न के उत्तर में अज्ञेय के विचारों में साम्य नहीं मिलता। साहित्य और समाज के बीच सम्बन्ध मानने वाले **अज्ञेय** 'तारसप्तक' के कवि वक्तव्य में लिखते है कि, "मैं 'स्वांत: सुखाय' नहीं लिखता। कोई भी कवि केवल 'स्वांत: सुखाय' लिखता है या लिख सकता है, यह स्वीकार करने में मैनें अपने को सदा असमर्थ पाया है।"[4] इस मत के विपरीत अज्ञेय अपने दूसरे उपन्यास 'नदी के द्वीप' के संदर्भ में कहते है कि, 'नदी के द्वीप' मैनें किसके लिए लिखा है? अगर कहूँ कि सबसे पहले अपने लिए तो यह न समझा जाए कि यह पाठक की अवज्ञा करना है, बल्कि मैं तो मानता हूँ कि जो

---

[1] अज्ञेय – सर्जना और सन्दर्भ , पृ० सं०- 54

[2] अज्ञेय – सर्जना और सन्दर्भ, पृ० सं०- 55-63 (लेखक का मत है कि – 'कला पर ऐच्छिक नियन्त्रण लगाने से उसे किसी निर्दिष्ट दिशा में चलाने के प्रयत्न से, विज्ञान मिल सकता है, अर्थशास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र आदि मिल सकते है, साहित्य नहीं।')

[3] सं नंदकिशोर आचार्य – अज्ञेय संचयिता, पृ० सं०- 412

[4] सं अज्ञेय – तारसप्तक, पृ० सं०- 222

अपने लिए नहीं लिखा गया, वह दूसरे के सामने उपस्थित करने लायक ही नहीं है । अज्ञेय के ये दोनों स्पष्ट तर्क पाठक-आलोचक के लिए स्वयं भटकाव के संकेत है । बहरहाल दोनों कथनों के परिपेक्ष्य में यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि 'कवि अज्ञेय' स्वांत: सुखाय के लिए नहीं लिखता, जबकि 'लेखक अज्ञेय' पहले अपने व्यक्तिगत संतोष के लिए लिखता है । व्यक्तिवादी मूल्यों के चिंतक होते हुए अज्ञेय समाज निरपेक्ष साहित्य की पक्षधरता नहीं करते । अज्ञेय भी तुलसी के भांति 'स्वांत: सुखाय' की विनम्र स्वीकारोक्ति के साथ-साथ साहित्य 'सुरसरिस सबकर हित होई' मानते हैं ।

साहित्य वर्तमान की पहचान भी कराता है और उसे अर्थवत्ता के वृहत्तर आयाम से भी जोड़ता है । 'अच्छा साहित्य मूलतः और अनिवार्यत: संस्कृति की उपज होता है और उस संस्कृति का स्वर उसमें सुनाई पड़ता है ।'[1]

अज्ञेय के विचार में **'संस्कृति'** क्या है? अज्ञेय के लेखन में ऐसे कई सूत्र खोजे जा सकते हैं, जो इसकी व्याख्या में सहायक है । अपने निबन्धों में आरम्भ से ही अज्ञेय ने संस्कृति, उसकी परिवर्तनशीलता, प्रभावकारिता, भाषा से सम्बन्ध आदि पर गहन विश्लेषण किया है । यात्रा-वृतान्तों में भी अज्ञेय ने मात्र देश-विदेश की यात्रा का ही वर्णन नहीं किया, अपितु उनमें वे स्थान विशेष की संस्कृति, रहन-सहन आदि का भी चित्रण करते चलते हैं । संस्कृति का मूल आधार मानवता है और साहित्य इसी मानवता की चरम साधना और सम्भावनाओं की खोज तथा पहचान है । अज्ञेय के अनुसार संस्कृति की कई परिभाषाएं एवं व्याख्याएं की जा सकती है। वे संस्कृति को जीवन की पहचान और उसका शोधन, परिष्करण मानते हैं । बिना इतिहास-पुराण के अध्ययन के किसी भी देश के जीवन की सांस्कृतिक भित्ति तक नहीं पहुँचा जा सकता । पुराण ही वह पहली सांस्कृतिक इकाई है जिसमें से जीवन की बहुरूपता प्रस्फुटित हुई है ।[2] 'संस्कृति मूलतः एक मूल्य-दृष्टि और उससे निर्दिष्ट होने वाले निर्माता प्रभावों का नाम है - उन सभी निर्माता प्रभावों का जो समाज को, व्यक्ति को, परिवार को, सबके आपसी सम्बन्धों को निरुपित और निर्धारित करते हैं । संस्कृतियाँ लगातार बदलती है क्योंकि मूल्य-दृष्टि भी

---

[1] अज्ञेय – युग संधियों पर, पृ० सं० - 24

[2] अज्ञेय – त्रिशंकु, पृ० सं० - 48-49

लगातार बदलती है, क्योंकि भौतिक परिस्थितियां भी लगातार बदलती है । लेकिन संस्कृति केवल भौतिक परिस्थिति का परिणाम नहीं है । ....वह एक साथ ही उनका परिणाम भी है और उनका आधार भी ।'[1]

संस्कृति का पहला मूल्य स्वाधीनता है जिसकी खोज मनुष्य ने की है । मनुष्य ही मूल्यों का सृष्टा है, उन मूल्यों की रक्षा के लिए वह अपना जीवन भी दांव पर लगा सकता है ।[2] लेकिन संकट की स्थिति तब आती है जब वह पश्चिमी मुहावरों और संस्कृति का अनुवर्तन कर स्वयं को आधुनिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत समझने लगता है । क्योंकि यह जरूरी नही कि उन्नत देश की संस्कृति अच्छी और वरेण्य ही हो ।
अज्ञेय ने संस्कृति के क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टि तथा टेक्नोलॉजी के विकास से उभरी कई समस्याएं भी पेश की है । टेक्नोलॉजी के विकास ने हमारे समक्ष कुछ मॉडल खड़े किए है, जिनका उदेश्य दुनिया में एकरूपता लाना है । इस एकधुव्रीय संस्कृति ने मनुष्य को संकुचित तथा मूल्य-निरपेक्ष बनाया है । वास्तव में 'संस्कृति वह सत्ता है जो कि उसमें भाग लेने वाले सब लोगों को सिर्फ मिलाती ही नहीं उनमें यह बोध भी जगाती है कि हम एक है ।'[3]

एक जीवंत संस्कृति पर विचार करते हुए **अज्ञेय** कहते है कि - 'संस्कृति जीवित हो, इसके लिए उसमें एक सजग नियति बोध - सेंस आफ डेस्टिनी - होना चाहिए, वही आज हममें नही है ।....न किसी समाज में है, न पूरे राष्ट्र में है, सारा देश एक टुक्कड़खोर जिन्दगी जी रहा है - क्या राजनीति में, क्या संस्कृति में, क्या धर्म में... ।'[4] एक समग्र संस्कृति की आत्माभिव्यक्ति का प्रमुख साधन **'भाषा'** है । जब तक हम संस्कृति की जड़ों से वाकिफ नहीं होगे, तब तक हम उस सांस्कृतिक पर्यावरण की भाषा भी नहीं जान पाएगें । अज्ञेय समाज की रचनाशीलता को भी भाषा से जोड़कर देखते हैं । जिस भाषा

---

[1] अज्ञेय – धार और किनारे, पृ० सं० - 36-37

[2] अज्ञेय – अद्यतन, पृ० सं० - 137 (अज्ञेय का मत है – 'जिन मूल्यों के लिए जान दी जा सकती है उन्हीं के लिए जीना सार्थक जीना है, मानवीय सृष्टि के लिए जिया हुआ जीवन ही मानव जीवन है।')

[3] अज्ञेय – स्रोत और सेतु, पृ० सं०- 83

[4] अज्ञेय – भवन्ती (कवि मन), पृ० सं०- 18

में समाज जीता है यदि उसी भाषा में साहित्य लिखा जाए तो समाज भी रचनाशील हो सकता है ।[1]

इसी मत को अज्ञेय **'शाश्वती'** में भाषा और संस्कृति के सम्बन्ध के सन्दर्भ में कहते है कि, 'भाषा को सिर्फ आज छप रहे या चलते साहित्य से जोड़कर देखने से कुछ लाभ नहीं होगा । भाषा का सार्थक विचार करने के लिए समूची संस्कृति/सभ्यता के साथ उसके समग्र सम्बन्ध का विचार करना होगा ।....सर्जनात्मक भाषा मुर्दा या मरणशील समाज की नहीं होगी – सर्जनात्मक समाज से ही सर्जनात्मक भाषा मिलेगी ।'[2] 'भाषा और समाज' में अज्ञेय ने भाषा की तीन शक्तियों की चर्चा की है -

क. अपनी अस्मिता की पहचान ।

ख. मूल्यबोध की संभावना ।

ग. यथार्थ की पहचान ।[3]

अज्ञेय के अनुसार इन तीनों का जोड़ संस्कृति है । जब तक संस्कृति एक समग्र भावना बनी रहती है तब तक भाषा का अवमूल्यन नहीं होता । लेकिन जैसे ही संस्कृति और समाज का विभाजन होता है वैसे ही एक का दूसरे के साथ शोषण का रिश्ता जुड़ जाता है और भाषा के अवमूल्यन की समस्या खड़ी हो जाती है । 'जिस आविष्कार को आज की भाषा में मीडिया कहा जाता है, जहाँ से उसका आरंभ हुआ है, जहाँ से व्यापक संचार माध्यमों का विस्तृत लोक-सम्पर्क, प्रचार-विज्ञापन या मास-कान्टेक्ट के लिए इन दूर-प्रभावी साधनों का उपयोग होने लगा, वही से भाषा का अवमूल्यन आरंभ होता है ।'[4] भाषा को निरंतर और अनिवार्यत: हीनतर संस्कार का शिकार होना पड़ता है । यह 'हीनतर संस्कार' क्या है? अज्ञेय के अनुसार किसी भी कला-माध्यम का जितनी उसकी क्षमता है उससे कम कहने के लिए उपयोग करना उसे घटिया संस्कार देना है, संस्कार भ्रष्ट करना है, उसका वल्गराइजेशन है । कवि का उदेश्य केवल

---

[1] अज्ञेय – केंद्र और परिधि , पृ० सं०- 140

[2] अज्ञेय – शाश्वती , पृ० सं०-88

[3] अज्ञेय – स्रोत और सेतु , पृ० सं०- 83

[4] अज्ञेय – स्रोत और सेतु, पृ० सं०- 87

शब्द की निहित सत्ता का पूरा उपयोग करना नहीं उसकी जानी हुई सम्भावनाओं के परे तक उसका विस्तार करना है ।[1]

भाषा को राजनीति और व्यापार भी निरंतर भ्रष्ट करते जा रहे हैं । अज्ञेय मानते है कि, 'आज के संसार में मानव-मन का घर्षण भाषा के घर्षण से आरंभ होता है, और आज भाषा मात्र सारे संसार में अवज्ञा और बलात्कार का शिकार हो रही है ।'[2] समर्थ कवि ही भाषा को नया संस्कार दे सकता है । रचनाकार-कवि भाषा की परंपरा में कुछ नया जोड़ कर ही मुक्त हो सकता है । साथ ही रचनाकार का भाषा यानी शब्द से सर्जनात्मक रिश्ता भी होता है । इस सर्जनात्मक रिश्ते को स्पष्ट करते हुए **अज्ञेय** का कथन है कि, 'कवि भाषा नहीं लिखता, शब्द लिखता है...कवि शब्द का संस्कार ग्रहण करता हुआ - और शब्द को निरंतर नया संस्कार देता हुआ - भाषा की रूढ़ि से मुक्त होता चले, शब्द के संस्कार बदलता चले और भाषा की रूढ़ि बदलता भी जाए, तोड़ता भी चले ।....यही भाषा का आर्ष प्रयोग है, जहाँ भाषा की रूढ़ि टूट गयी है पर शब्द का संस्कार और समृद्ध हो गया है ।'[3]

अज्ञेय के इस मत को लेकर **निर्मल वर्मा** का विचार उल्लेखनीय है, "मेरे विचार में समकालीन भारतीय लेखन की 'आधुनिकता' की यह सबसे प्रामाणिक कसौटी है कि परम्परा से विगलित हो जाने के बावजूद - स्वयं आधुनिक उपकरणों पर वह कितनी गहरी चोट कर सकता है, स्वयं चोट खाकर कैसे अपनी प्रतिक्रिया प्रकट कर सकता है । अज्ञेय चोट खाकर परम्परा की तरफ नहीं मुड़ते, न किसी भविष्यवादी दर्शन की ओर । वह अपनी तरफ मुड़ते है, जहाँ वह स्वतंत्र रूप से अपनी परम्परा से जुड़ सकते हैं, अपने भविष्य को चुन सकते हैं । आलोचकों ने जिसे अज्ञेय का 'अहं' माना है, वह वास्तव में लेखक का कवच है, सिर्फ अपने को सुरक्षित रखने का यंत्र नहीं, बल्कि उन मूल्यों को बचाने का साधन भी, जी नष्ट हो रहे हैं, जिन्हें जानबूझ के प्रगति, आधुनिकता और युग-धर्म के नाम पर नष्ट किया जा रहा है ।"[4]

---

[1] अज्ञेय – सर्जना और सन्दर्भ, पृ० सं०- 189

[2] अज्ञेय – अद्यतन , पृ० सं०- 18

[3] अज्ञेय – भवन्ती , पृ० सं०- 22

[4] निर्मल वर्मा – कला का जोखिम, पृ० सं०- 73-74

अज्ञेय की चिंता भाषा के व्यवहार और उसके सांस्कृतिक स्वरूप पर भी केन्द्रित है। वे मानते है कि - 'भाषा बदलती है तो भाषा के परिवर्तन भाषा में से ही निकलते हैं, भाषा एक सामाजिक और युगीन समय है, जिससे आगे तो बढ़ा जा सकता है, पर सीढ़ी-दर-सीढ़ी और समाज को अपने साथ लेते हुए ही। भाषा को आमूल उखाड़ कर उसकी जगह नयी भाषा हम नहीं दे सकते। नये शब्द, नये मुहावरे, नये प्रयोग हम कर सकते है तो एक जाने हुए उभयपक्ष द्वारा स्वीकृत ढांचे के भीतर ही।...पाठक निरंतर कुछ नया चाहता है, आवृत्ति नहीं चाहता।'[1]

अज्ञेय के साहित्य-संस्कृति–भाषा के इस सम्बन्ध के सन्दर्भ में **डॉ० परमानंद श्रीवास्तव** का कथन है कि, "अज्ञेय उन सृजनशील लेखकों में है जिन्होनें साहित्यिक सृजनशीलता और रचनात्मक भाषा जैसे मुद्दों पर संवाद की इच्छा रखते हुए संस्कृति-संवाद जैसा माहौल बनाने के लिए भी प्रयत्न किया है और बहुत कुछ एक विचारक की तरह अपने भीतर और बाहर के संकट को परिभाषित करने की कोशिश भी की है। वह उन विचारकों में है जो वैयक्तिक स्वतन्त्रता और कला-स्वायत्तता का लगातार पक्ष लेते रहे है ...जो रचना में अद्वितीयता और संप्रेषण के द्वैत से जब-तब उलझते रहे है। चिन्तन का सिलसिला बनाए रखने के लिए ऐसी अविच्छिन्न निष्ठा कम सर्जनात्मक लेखकों में पायी जाती है।"[2]

इतने पर भी कुछ आलोचकों ने अज्ञेय के भाषा-चिंतन को कोरा रूपवादी कहकर खारिज़ किया हैं। अज्ञेय भाषा को रचनाशीलता का महत्त्वपूर्ण तत्व मानते हैं। वे 'तारसप्तक' के कवि वक्तव्य 'पुनश्च' में अर्थवान शब्द की समस्या पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। शब्द का ज्ञान, शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड़ ही कृतिकार को कृती बनाती है। ध्वनि, लय, छंद, सामाजिक सन्दर्भ सभी इसी में विलय होते हैं।[3] इसके विपरीत **रघुवीर सहाय** ने

---

[1] अज्ञेय – युग संधियों पर, पृ० सं०-42

[2] आलोचना(पत्रिका), (62-63), पृ० सं०- 29

[3] अज्ञेय – तारसप्तक, पृ० सं०- 243

भाषा-शब्द को नहीं बल्कि सबसे बड़ी मुश्किल जनता को माना है। जनता के प्रश्नों का हल मात्र 'शब्द' से कैसे निकल सकता है उनके लिए यह कहना और मानना दोनों ही कठिन है। **मलयज** का विचार भी कुछ यही है कि 'शब्द-बाजा' कब तक बजेगा? इतने पर कवि और आलोचक अज्ञेय की चिंता का केंद्र शब्द में नया अर्थ भरने की छटपटाहट ही रही है। वे मानते है कि कविता ही कवि का परम वक्तव्य है यानी उसका मूल्यांकन करने के लिए सबसे बड़ा प्रतिमान काव्य-भाषा है। भाषा रचनाकार का एक सीमा तक ही साथ देती है इसलिए वे मौन की अभिव्यक्ति की माँग करते है। अज्ञेय की भाषा में इस मौन को **रामस्वरूप चतुर्वेदी** कला के स्तर पर ही नही, दर्शन के स्तर पर व्यक्त समस्या मानते हैं।[1] अज्ञेय की इस धारणा से मिलता-जुलता विचार **सूसन सोंटंग** ने अपने निबन्ध **'द एस्थेस्तिक्स आफ़ साइलेंस' (The Aesthetics of Silence)** में व्यक्त किया है कि, "अब कला का सर्वोत्तम गुण है, उस बिंदु तक पहुँचना, जहाँ उत्कृष्टता के सभी उदेश्य उसके लिए भावनात्मक और नैतिक रूप से बेमानी हो जाए और वह कला में स्वर की खोज (मुखरता की अभिव्यक्ति) के बजाए मौन में अधिक संतुष्टि अनुभव करे।"[2]

अज्ञेय ने मौन का भी अपना एश्वर्य माना है। **'अंतरा'** में वे कहते है कि, 'अस्ति-भवति और नेति' केवल मौन में - प्रत्यभिज्ञा- में दोनों एक हो सकते है। और जहाँ दोनों एक होते है वहाँ मौन ही हो सकता है। साथ ही मौन द्वारा संप्रेषण की तुलना अज्ञेय ने 'गूंगे के गुड से की है, जहाँ आग्रह आस्वाद्कता पर है।'[3]

स्पष्ट है अज्ञेय का यह भाषा-सम्बन्धी चित्रण शब्द और अर्थ के संश्लिष्ट उसी रूप का समर्थन करता है, जिसे कालिदास ने वागर्था विव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये' कहकर अभिव्यक्त किया। अज्ञेय ने कालिदास के इस श्लोक को अपने भाषा सम्बन्धी विचारों को व्याख्यायित करने के लिए 'दूसरा सप्तक' की सम्पादकीय 'भूमिका' में

---

[1] रामस्वरूप चतुर्वेदी – अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, पृ० सं०- 114

[2] Ed. William J. Handy & Max West Brook – Twentieth Century criticism(The Major Statements), pg- 455, Indian Edition 1976

[3] अज्ञेय – अंतरा, पृ० सं०- 73-74

उदधृत किया है । अज्ञेय के इस भाषा-चिन्तन एवं काव्य-भाषा को मूल्यांकन का प्रतिमान मानने के विचार न केवल रचनाकारों से स्वीकारा है बल्कि आलोचकों ने भी यथास्थान सराहा है । इस परिपेक्ष्य में **डॉ० नामवर सिंह** का मत उल्लेखनीय है कि, "...आधुनिक युग में कुछ कारणों से वह परम्परा विच्छिन्न हो गई और काव्य-भाषा विश्लेषण काव्य का मूल्यांकन का मूल आधार न रहकर, भाव विवेचन के बाद कला-विवेचन के रूप में पीछे से जोड़ दिया जाने वाला एक गौण कार्य रह गया । नयी कविता के उदय के साथ जब पुन: कविता की रचना में 'वागर्थ प्रतिपत्ति' की स्थापना की गई तो सम्भवतः काव्य समीक्षा में भी उसका प्रतिफलन दिखाई पड़ा और पूर्ववर्ती आलोचना की त्रुटि का परिहार करते हुए काव्यभाषा को पुन: मूल्यांकन के मूलाधार के रूप में प्रतिष्ठित करने के प्रयास शुरू हुए।"[1] इस तरह नामवर सिंह ने अज्ञेय के भाषा सम्बन्धी चिन्तन का समर्थन किया है साथ ही अज्ञेय के कथन 'कविता कवि का परम वक्तव्य है' इस पर भी विचार प्रकट किया है कि 'तारसप्तक' में अज्ञेय का यह वक्तव्य ऐतिहासिक महत्त्व रखता है । नयी कविता की आलोचना में इस वक्तव्य का निर्वाह दृढ़ता से हुआ होता, तो आज स्थिति कुछ और होती ।'[2]

अज्ञेय नए शब्दप्रयोग के ही नहीं, अपितु शब्दों में प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थ भरने को भी कवि-कर्म की सबसे बड़ी चुनौती मानते हैं । जिसके चलते अज्ञेय ने 'तारसप्तक' के वक्तव्य में साधारणीकरण के पुराने ढर्रे को बदलने की माँग की है । जब वे कहते है – **'देवता इन प्रतीकों के कर गए है कूच, ये उपमान मैले हो गए है, जैसे अधिक बासन घिसने से मुल्लमा छूट जाता है ।'** इससे उनका अभिप्राय केवल अभिव्यक्ति की नहीं, अपितु उसकी रचना-प्रक्रिया के परिवर्तन की भी घोषणा करते हैं । रिचडर्स ने भी सम्प्रेषणता पर विचार किया है, वे सम्प्रेषण को सचेष्ट कार्य नहीं मानते । इसके साथ ही साधारणीकरण के प्रतिपादकों और उसके व्याख्याकारों ने सम्प्रेषण तथा साधारणीकरण को अब तक ग्राहक व भावक की समस्या के रूप में देखा । इसके विपरीत अज्ञेय ने समस्या का कोण बदला और पाठक की बजाए इसकी जिम्मेदारी कवि या रचनाकार की

---

[1] डॉ० नामवर सिंह – कविता के नए प्रतिमान, 2003, पृ० सं०- 97

[2] वही , पृ० सं०- 106

समस्या है । यदि सम्प्रेषण नहीं हो रहा है तो कवि की समस्या है कि वह विषय के सम्प्रेषण के लिए नए तरीके खोजें । वे 'तारसप्तक' के कवियों पर साधारणीकरण के सिद्धांत न अपनाने पर आलोचकों ने कई आक्षेप लगाए, जिन्हें अज्ञेय ने गलत ठहराते हुए कहते है कि प्रयोगवादी न केवल इस सिद्धांत को अपनाते है बल्कि इसी के माध्यम से वे अपने प्रयोगों की आवश्यकता सिद्ध करते हैं । 'दूसरे सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय ने रागात्मक सम्बन्ध वही रहने पर भी उनकी प्रणालियों के बदलने की चर्चा की हैं ।[1]

डॉ० नामवर सिंह ने अज्ञेय के इस मत को उद्धृत करते हुए यह स्थापित किया है कि, "यही कारण है कि नयी कविता छायावाद के समान ही अनुभूति पर बल देते हुए भी भावों की शाश्वतता के प्रति उतनी आश्वस्त नहीं है । इसलिए नए कवि अनुभूति से अधिक अनुभूतियों के परिवर्तित सन्दर्भ पर बल देते हैं । स्पष्टत: उनका बल रागात्मकता से अधिक रागात्मक सम्बन्धों पर हैं ।"[2] इतने पर भी नया कवि साधारणीकरण तथा सम्प्रेषण की समस्या को बार-बार उठाता है । अज्ञेय साधारणीकरण को परिभाषित करते हुए कहते है कि, "जब चमत्कारिक अर्थ मर जाता है और अभिधेय बन जाता है, तब उस शब्द की रागात्मक शक्ति क्षीण हो जाती है । उस अर्थ से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित नहीं होता । कवि तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है, जिससे पुन: राग का संचार हो, पुन: रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो । साधारणीकरण का अर्थ यही है।"[3]

साधारणीकरण और सम्प्रेषणीयता से ही **रचना-प्रक्रिया** का प्रश्न जुड़ा है । रचना-प्रक्रिया के स्वरूप और उसकी निर्मिति को लेकर भी विद्वानों ने गहन-चिंतन किया है, जिनमें प्राय: मतैक्य नहीं मिलता । भारतीय काव्यशास्त्र में राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में काव्य-सृजन के लिए कवि को भावयित्री प्रतिभा पर निर्भर माना है । टी.एस. इलियट कवि-प्रतिभा की बजाए अभ्यास पर बल देते हैं, साथ ही कवि के पास अभिव्यक्त

---

[1] अज्ञेय – दूसरा सप्तक ,भूमिका , पृ० सं०- 8 (अज्ञेय का कथन है - हमारे मूल राग-विराग नहीं बदले - प्रेमभाव भी प्रेम है और घृणा अब भी घृणा, यह साधारणतया स्वीकार किया जा सकता है...राग वही रहने पर भी रागात्मक संबंधों की प्रणालियाँ बदल गई है ...जैसे-जैसे बाह्य वास्तविकता बदलती है, वैसे-वैसे हमारे उससे रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने की प्रणालियाँ भी बदलती है और अगर नहीं बदलती तो उस बाह्य वास्तविकता से हमारा सम्बन्ध टूट जाता है।')

[2] डॉ० नामवर सिंह – कविता के नए प्रतिमान, पृ० सं०- 25

[3] अज्ञेय – दूसरा सप्तक, भूमिका, पृ० सं०- 10

करने के लिए 'व्यक्तित्व' होता ही नही, अपितु एक विशिष्ट माध्यम होता है । जिसमें प्रभाव और अनुभूतियाँ विशिष्ट और अप्रत्याशित रूपों में जुड़ी होती हैं ।[1] अज्ञेय भी इलियट के इस मत समर्थन करते हुए कहते है कि, "काव्य रचना का किसी भी कला-सृष्टि का अधिकार तभी आरंभ होता है, जब व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विलयन हो जाए, यह मानना तो दूर की बात रही, आज का कवि साधारणतया इतना भी नहीं मानता कि कविता या कि कला-सृष्टि, व्यक्ति के विलयन का माध्यम है कि कविता के द्वारा कवि व्यक्ति को वृहत्तर इकाई में विलीन कर देता है ।"[2]

अज्ञेय कवि प्रतिभा के लिए दो अभीष्ट स्वीकार करते है - अनुभव की अद्वितीयता और अर्थ की साधारणतया और इसी के माध्यम से रचना-प्रक्रिया परिभाषित की जा सकती है । इन दोनों ध्येयों का योग ही इष्ट हैं । जिस प्रक्रिया से यह योग सिद्ध होता है, वही रचना-प्रक्रिया है और सब प्रक्रियाएँ यंत्र की है और उनके प्रति अधिक सजगता भी उनकी यांत्रिकता को कम नहीं करती, हमारी यांत्रिकता को भले ही बढ़ा दे ।[3] कहने का तात्पर्य है कि अनुभूति की अद्वितीयता इस अर्थ में है कि कोई किसी दूसरे की अनुभूति नहीं भोग सकता । कोई अपनी एक अनुभूति के साथ ही अपनी किसी दूसरी अनुभूति को भी नहीं महसूस कर सकता । कवि जिस व्यापक सत्य को साधारणीकरण द्वारा संप्रेषित करता है वह अनुभूति जीवन की अनुभति से अलग होती है ।

अज्ञेय की इस रचना-प्रक्रिया सम्बन्धी दृष्टि की व्याख्या करते हुए **आनंद प्रकाश दीक्षित** कहते है कि, "रचना-प्रक्रिया के सन्दर्भ में, जैसा कि 'अज्ञेय' ने कहा है, दो बातों की जरूरत होती है । 1. कलात्मक अनुभूति या संवेदना की 2. उसके प्रति तटस्थ भाव की, जो उसे संप्रेष्य बना सके । कलाकार से अपेक्षा की जाती है कि वह व्यक्तिगत अनुभूति अपने सुख-दुःख को कलाकृति में इस प्रकार प्रस्तुत करे कि उसे उसका व्यक्तिगत सम्बन्ध या लगाव प्रतीत न हो, बल्कि वह साधारणीकृत, अत: सामाजिक ग्राह्य बनकर

---

[1] Ed. William J. Handy & Max West Brook – Twentieth Century criticism(The Major Statements), pg. 32-33, University of Texas, USA, 1974

[2] अज्ञेय – आत्मनेपद, पृ० सं०- 26-27

[3] अज्ञेय – आत्मपरक , पृ० सं०- 163-167

उपस्थित हो ।"[1] अज्ञेय ने अपने निबन्धों में कुछ ऐसे विषय भी उठाए है जो उनके रचना-प्रक्रिया सम्बन्धी चिन्तन को नए आयाम देते है । इनमें 'मैं क्यों लिखता हूँ', 'हिन्दी में शोध-कार्य : अपेक्षाएँ', 'साहित्य सर्जना और राजकीय संरक्षण', 'अच्छा साहित्य कैसे बिके?', 'साहित्य का पुरस्कार' आदि हैं।

भाषा-सम्प्रेषण तथा रचना-प्रक्रिया के साथ भावात्मक, सर्जनात्मक रिश्ता निभाने के लिए रचनाकार को अपनी मिथकीय विरासत को भी जानना होगा। अज्ञेय का मानना है जब-जब व्यक्ति, समाज, संस्कृति की आस्था टूटी है तब-तब वह मिथकों की ओर बढ़ता गया है। **मिथक** 'रहस्यमय शक्ति-स्रोत' होते है क्योंकि वे हमारी अपनी पहचान, अपने होने, 'बीइंग के बारे में', 'मैं कौन हूँ, क्या हूँ'- यह जानने के विषय में सहायक होते है । सभी संस्कृतियों के अलग-अलग मिथक होते हैं, वे उनकी रक्षा भी करते है, साथ ही रहस्यमय भाषा भी गढ़ते हैं। साहित्य के सन्दर्भ में मिथक, बिम्ब-प्रतीक-पुराण से जुड़ा होता है।'[2]

इस सन्दर्भ में **डॉ० माधुरी पाण्डेय** का कहना है कि मिथक के प्रति अज्ञेय की दृष्टि उनके सर्जक और आलोचक व्यक्तित्व को एक विशेष सन्दर्भ में परिभाषित करती है ।[3] काल-बोध के सन्दर्भ में भी अज्ञेय ने मिथक की उपयोगिता पर जोर दिया है - 'ज्यों-ज्यों हमारे जीवन पर समय का दबाव बढ़ता जाता है- ज्यों-ज्यों मनुष्य एक व्याधीन जिंस, एक expendable commodity का रूप लेता जाता है, त्यों-त्यों मिथक में हमारी दिलचस्पी और हमारी अस्मिता के लिए मिथक का महत्त्व बढ़ता जाता है ।'[4] हम जो जीवन जीते है, काल उसका एक मिथकीय आयाम है ।[5]

---

[1] सं० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी – अज्ञेय (काव्य-विषयक मान्यताएं- आनन्द प्रकाश दीक्षित), पृ० सं०- 10

[2] अज्ञेय – स्रोत और सेतु, पृ० सं०- 66-73

[3] डॉ० माधुरी पाण्डेय – अज्ञेय के काव्य में मिथकीय संचेतना, पृ० सं०- 25

[4] अज्ञेय – संवत्सर , पृ० सं०- 93

[5] अज्ञेय – भवन्ती, पृ० सं०- 97-98

अज्ञेय वर्तमान **क्षण** में जीने वाले रचनाकार है । जिससे आलोचकों ने उन्हें क्षणवादी कहकर उनकी रचनाओं का मूल्य कमत्तर आंका । काल-प्रतीति के सम्बन्ध में 'भवन्ती' की एक टीप में अपना चिंतन-सूत्र देते हुए कहते है कि , 'जो वर्तमान है, घटमान है, वह निरंतर हमें बदलता है क्योंकि हम उसमें है और हम जो भूत है और जो भविष्यत है उसे बदलते है क्योंकि वे हममें है । अतीत और भविष्य दोनों मेरी लम्बित छायाएं है, एक विगत की ओर, एक अनागत की ओर । वर्तमान अस्ति है छाया रहित अस्ति, अविराम अस्ति, अशेष अस्ति, सनातन ।[1]

अज्ञेय के **काल-चिंतन** का यही केन्द्रीय-बिंदू है, जिसकी विभिन्न सन्दर्भों में व्याख्या उनकी डायरियों, निबन्धों आदि में की गई है । संवत्सर-लीला और ऋतु-चक्र की प्रतिष्ठा भारतीय मनीषा की एकांत विशेषता है । नश्वरता से उबरने का हल वे ऋत और ऋतु-चक्र में, संवत्सर में खोजते है । ऋतु-चक्र में प्रतिष्ठित होने के कारण हर अंत पुनरारम्भ हो जाता है, और काल-चक्र अमरत्व का प्रतीक बन जाता है । अर्थात् नित्यता, नैरन्तर्य, अमरत्व सभी का मूलाधार वृत्त हैं ।

अज्ञेय काल की भारतीय अवधारणा को आवर्ती काल की अवधारणा मानते है । विवाह में प्रयुक्त होने वाला जड़ाऊ छल्ला, अमरत्व का प्रतीक अपनी पूंछ को निगलता सर्प, नटराज शिव का डमरू इसके प्रतीक है । डमरू आवर्ती काल का प्रमुख प्रतीक है । 'काल-प्रतीक के रूप में डमरू की कटि वर्तमान है - वर्तमान का क्षण - क्योंकि वर्तमान इससे अधिक कुछ हो ही नहीं सकता, दोनों ओर के त्रिकोण अथवा शंकु अतीत और भविष्यत है । काल जीवी हम सदैव वर्तमान के बिंदू पर स्थित रहते है, अस्ति उसी स्थिति का नाम है या हो सकता है । और जब-जब डमरू की जीभ इस या उस ताँत पर - अतीत या भविष्यत पर आघात करती है, तब-तब हमें काल का स्रोत के रूप में बोध होता है । काल-चेतना अनु-या-प्रति-गति की ही चेतना है - भविष्य की ओर गति या अतीत से परे गति है : स्मृति है अथवा प्रतीक्षा है ।'[2] काल केवल अस्तित्व के क्षण में जीवित है, सत है । विज्ञान का काल जड़ है जिसे हमने बराबर खंडों में विभाजित कर

---

[1] अज्ञेय – भवन्ती, पृ० सं०- 120

[2] अज्ञेय –आलवाल, पृ० सं०- 98-101

डाला है।[1] सच्चा सम्पूर्ण निश्छाय कालातीत शुद्ध क्षण वही होगा जिसमें न स्मृति का संस्पर्श हो, न आकांक्षा का और न तनाव का, ऐसा ही क्षण (मिले तो) जीवनमुक्ति का क्षण होगा ।[2] दिक् और काल सम्बन्धी अपने चिंतन के माध्यम से अज्ञेय ने पश्चिम के बरक्स भारतीयता की संकल्पना की वैज्ञानिकता को रेखांकित करने के साथ हमारे परिवेश की चेतना को व्यापक बनाने का काम किया है ।

इस तरह अज्ञेय ने अपने निबन्धों, डायरियों, आदि में इन बीज-पदों के माध्यम से अपने गहन चिंतन और समालोचक रूप का प्रमाण दिया है । इनके अलावा भी लेखक कई पदों को नए परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करता है लेकिन यहाँ सबका विश्लेषण संभव नहीं हैं । इसलिए उनके मूलभूत महत्त्वपूर्ण तथा चर्चित पदों का ही समाहार किया गया है ।

4.2.2 आलोचक अज्ञेय : पाठ, विचार और मूल्यांकन

अज्ञेय की आलोचना का सबसे सर्जनात्मक रूप उस विश्लेषण में दिखाई देता है, जहाँ वे अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन रचनाकारों पर विचार-विमर्श करते हैं । इन रचनाकारों एवं इनकी चयनित रचनाओं के परिप्रेक्ष्य में की गई टिप्पणियाँ आलोचना-जगत में सीधे-सीधे स्वीकार कर ली गई हो, ऐसा बिल्कुल नहीं है । लेकिन अज्ञेय द्वारा किए गए इस विश्लेषण में उनका गहन-चिन्तन मनन तथा उनकी आलोचकीय दृष्टि स्पष्ट देखी जा सकती है । अज्ञेय तथा उनके पूर्ववर्ती-समकालीन कवि-आलोचक सिद्धांत निरूपण के साथ-साथ अपने समय की रचनाशीलता के मूल्यांकन के कारण भी महत्त्वपूर्ण है । यहाँ आलोचना का केंद्र मात्र कृति नहीं, अपितु एक जीवन दर्शन को प्रस्तुत कर उस पर विस्तार से विचार करना है । अज्ञेय की आलोचना भी जहां एक ओर सिद्धांत निरूपण और साहित्य से जुड़े मूल्यों पर विचार करती है वही दूसरी ओर अपनी वैचारिकी को व्यावहारिक आलोचना में भी तबदील करती है । इस व्यावहारिक समीक्षा में अज्ञेय की ज्यादा दिलचस्पी नहीं है, फिर भी उनके कई निबन्ध इसका स्पष्ट प्रमाण हैं । उनकी इस आलोचना में अधिकांश संस्मरणात्मक विवेचन है तो कुछ साहित्यिक

---

[1] अज्ञेय – अंतरा, पृ० सं०- 28

[2] अज्ञेय – अंतरा, पृ० सं०- 34

विश्लेषण और सिद्धांत विवेचन के क्रम में दिए गए विचार हैं । अज्ञेय ने प्रेमचन्द, निराला, पंत, प्रसाद, महादेवी वर्मा, रेणु, हजारीप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर, जैनेंद्र आदि की रचनाशीलता का मूल्यांकन किया हैं । इसके साथ ही अज्ञेय ने अपने पूर्ववर्ती कवियों (विशेषत : भक्ति साहित्य और रीति साहित्य) की रचनाशीलता पर भी कुछ नयी स्थापनाएं प्रस्तुत की हैं । अज्ञेय की इस सभी को लेकर क्या नयी मान्यताएं एवं मूल्यांकित टिप्पणियाँ थी? उनका अध्ययन विषय-अपेक्षित हैं ।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन को 'अज्ञेय' उपनाम **प्रेमचन्द** का ही दिया हुआ है, जिसे आजीवन अनिच्छापूर्वक अज्ञेय ने ढोया है । इसका बदला अज्ञेय ने अपने प्रेमचन्द सम्बन्धी विश्लेषण में लिया हो, ऐसा कदापि नहीं है । प्रेमचन्द के मूल्यांकन के लिए अज्ञेय ने एक कसौटी दी है – 'मैंने यही प्रयत्न किया है कि दिखा सकूं कि एक बड़ा साहित्यकार अपने समकालीन या अनुवर्ती लेखक की चेतना में कैसे जीता है और इसलिए उसकी रचना-दृष्टि को कैसे प्रभावित करता है – जो रचना - दृष्टि फिर युवतर समकालीनों का सन्दर्भ अथवा परिवेश बन जाती है ।'[1]

अज्ञेय प्रेमचन्द की रचना-यात्रा का विवेचन करते हुए उन्हें समाज-सुधार और आदर्शवाद के निकट तथा राजनीतिक चिंतन से असम्पृक्त लेखक कहते है ।[2] जिसके प्रमाण स्वरूप वे लखनऊ में हुए प्रगतिशील लेखक संघ का अध्यक्षीय भाषण रखते है । जो प्रेमचन्द ने अपने विचारों के राजनीतिक दुरूपयोग के चलते प्रस्तुत नहीं किया । अज्ञेय ने प्रेमचन्द को देशी-विदेशी परम्पराओं में भी रखकर मूल्यांकित किया है । वे उनकी तुलना डिकेंस, थैकरे, गाल्सवर्दी, टालस्टाय और चेखव से भी करते है ।[3] देशी परम्परा में तो अज्ञेय को

---

[1] अज्ञेय – स्मृतिलेखा , पृ० सं०- 59

[2] वही , पृ० सं०- 48 (अज्ञेय का मत है- "प्रेमचन्द किस्सागोई की जमीन से उठकर समाज-सुधार और आदर्शवाद के गलियारों से गुजरते हुए राजनीतिक चिंतन की ओर आए थे और उनकी विचार यात्रा उनकी रचनाओं में स्पष्ट प्रतिबिम्बित है। कोई भी सहृदय पाठक उनका सहयात्री हो सकता है। उस सहयात्रा में वह यह भी देखेगा कि प्रेमचन्द की के विचार उन्हें राजनीतिक मनुष्य के निकटतर लाते है, लेकिन न व्यावहारिक-राजनीतिक बनाते है और न उस व्यवहार की ओर आकृष्ट करते है।")

[3] अज्ञेय – स्मृतिलेखा , पृ० सं०- 56 (अज्ञेय का मत है – "प्रेमचन्द की रचना-यात्रा का उल्लेख करते हुए मैनें कहा कि अंग्रेजी उपन्यास ने डिकेंस से लेकर गाल्सवर्दी तक जितना क्षेत्र पार किया था, प्रेमचन्द ने अपने सर्जक जीवन में उसे अकेले पार कर लिया। इस रूप में प्रेमचन्द केवल एक उपन्यासकार नहीं है, बल्कि आधुनिक हिन्दी उपन्यास के लिए एक पूरी परम्परा है।")

(समस्त भारतीय साहित्य में) कोई दूसरा साहित्यकार उनके समक्ष नहीं मिलता । साथ ही साहित्य में उनके बुनियादी सरोकार को संघर्ष नहीं संवेदना अर्थात् महाकरुणा का नाम दिया है ।

अज्ञेय ने प्रेमचन्द के साहित्य की कमज़ोरी को भी स्पष्ट किया है और साथ ही वे यह भी बतला देते है कि यह उनकी निंदा नहीं है । प्रेमचन्द के साहित्य का कमज़ोर पहलू बतलाते हुए **अज्ञेय** कहते है कि, "नि:संदेह प्रेमचन्द जी में अपने समाज की त्रुटिपूर्णता, अपर्याप्तता की भावना तीव्र थी और फलत: मनोनुकूल समाज की मांग उतनी ही प्रबल । हमारा अनुमान है कि आरंभ में इस बात को स्पष्ट रूप से वह नहीं देखते थे और इसीलिए 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' के यथार्थवाद में 'विशफुल थिंकिंग' का एक हल्का सा परदा है - दोनों में जो संस्थाएं समस्या के हल के रूप में पेश की गई है, वे वास्तव में तर्क सिद्ध सुधार चेष्टा का परिणाम नहीं, एक अस्पष्ट अपर्याप्तता को पूरने के लिए खड़े किए गए स्वप्न है, 'यूटोपिया' है ।"[1] लेकिन 'गोदान' तक आते-आते यह यूटोपिया रचने की वृति खत्म हो गई है ।

अज्ञेय एक यह भी टिप्पणी करते है कि प्रेमचन्द पात्रों में 'व्यक्ति' की बजाए 'टाइप' रचते है साथ ही गोदान के पात्रों पर अविश्वसनीयता का प्रश्नचिन्ह लगाते है - "गोदान में भी दोष है - उसका उच्च वर्ग वैसा यथार्थ और विश्वासोत्पादक नहीं है जैसा कि कुछ विदेशी लेखकों का, गोदान में होरी ही यथार्थ है न कि मेहता, लेकिन यह दोष या तो परिचय की कमी का परिणाम है या व्यक्ति की बजाए 'टाइप' रचने की वृति का 'इच्छित विश्वास' या आश्रय की माँग' का नहीं।"[2] लेकिन कुछ आलोचकों ने मेहता को प्रेमचन्द के सामाजिक-सांस्कृतिक विचारों का प्रतिनिधि माना है तो कुछ आलोचकों ने प्रेमचन्द के व्यक्तिगत जीवन तथा रचनाओं में व्यक्त अंतर्विरोधों को जोड़कर देखा हैं । उन्हें अज्ञेय की इस तरह की टिप्पणियाँ स्वीकार्य नहीं हैं । इतने पर भी अज्ञेय ने प्रेमचन्द का मूल्यांकन

---

[1] सं० निर्मला जैन – आधुनिक हिन्दी समीक्षा, प्र० सं- 1985, पृ० सं०- 149

[2] अज्ञेय – स्मृतिलेखा, पृ० सं० – 56

खुले मन से कर नए तथ्यों को उभारा है, जो प्रेमचन्द को समझने के लिए एक नया दृष्टिकोण देते हैं।

समकालीन रचनाकारों में 'वसंत का अग्रदूत - **निराला'** का भी विश्लेषण किया है। अज्ञेय ने निराला पर इसी शीर्षक से संस्मरण लिखकर उसमें उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को उभारा है। साथ ही निराला ने भी अज्ञेय को एक महान रचनाकार माना है।[1] एक दौर में अज्ञेय निराला के कटु आलोचक रहे थे लेकिन निराला की 'तुलसीदास' कविता से इतने प्रभावित हुए कि वे निराला को एक बड़ा कवि घोषित कर देते है, क्योंकि उनकी यह रचना सांस्कृतिक चेतना को सर्जनात्मक रूप में पेश करती है। इसकी समीक्षा करते हुए **अज्ञेय** लिखते है कि, "तुलसीदास जब-जब पढ़ने बैठता हूँ तो इतना ही नहीं कि एक नया संसार मेरे सामने खुलता है, उससे भी विलक्षण यह है कि वह संसार मानो एक ऐतिहासिक अनुक्रम में घटिता होता हुआ दीखता है। मैं मानो संसार का एक स्थिर चित्र नहीं, बल्कि एक जीवंत चलचित्र देख रहा होता हूँ। ऐसी रचनाएं तो कई होती है, जिनमें एक रसिक हृदय बोलता है। बिरली ही रचना ऐसी होती है, जिसमें एक सांस्कृतिक चेतना सर्जनात्मक रूप में अवतरित हुई हो।"[2] निराला की इस कविता पर प्रगतिवादी आलोचकों ने भी विचार किया है और उन्हें प्रतिक्रियावादी तथा साम्प्रदायिकतावादी दायरे में घसीटा है।

निराला ने 'छंद के बंध' तोड़ने का अद्भुत् साहस दिखाया है 'किन्तु वास्तव में उनका आग्रह बाह्य प्रसाधन के प्रति विद्रोह था। उनके मुक्त छंद में भी एक झंकार और ताल विद्यमान था। 'राम की शक्ति पूजा' जैसी रचनाएं हिन्दी में नहीं है। निष्कम्प संतुलन के साथ आवेगों की ऐसी तीव्रता और भाषा का तदनुकूल प्रवाह दुर्लभ है।'[3] निराला के सम्यक अध्ययन और मूल्यांकन के लिए अज्ञेय ने तीन कसौटियां निर्धारित की है -

---

[1] अज्ञेय – स्मृतिलेखा, पृ० सं०-67 (निराला ने अज्ञेय को 'अर्चना' काव्यसंग्रह की प्रति भेंट करते हुए लिखा था – 'To Ajneya, The Poet, writer and Novelist in the foremost rank.')

[2] अज्ञेय – स्मृतिलेखा, पृ० सं०- 63

[3] अज्ञेय – हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० सं०- 63

- पाठक पर पड़ने वाला प्रभाव
- कवि-व्यक्तित्व
- सामाजिक परिवृत्ति या स्थिति ।

निराला के व्यक्तित्व और उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति से उनके कृतित्व को जोड़कर देखने की प्रचलित मान्यताओं का खण्डन करते हुए **अज्ञेय** कहते है कि , "निराला बराबर ही अन्वेषक और आविष्कारक रहे, जब तक कि उनके दीर्घ और निरवधि एकाकीपन ने उनके व्यक्तित्व को विघटित करना आरम्भ नहीं कर दिया । यह एक मिथ्या प्रचार और निराला के विशालतर व्यक्तित्व पर लांछन है कि आर्थिक क्लेशों ने और विपन्नता ने उन्हें तोड़ दिया ।....विशुद्ध आर्थिक आधार पर निराला के व्यक्तित्व-विकास और उनके कृतित्व का अध्ययन फलप्रद नहीं हो सकता । उन्हें समझने के लिए कही विशालतर सामाजिक पृष्ठभूमि और मानसिक प्रक्रियाओं का गहरा और विस्तृत अन्वेषण अपेक्षित है ।"[1]

अज्ञेय ने निराला में स्वर-संवेदन की विशेषता लक्षित की है, लेकिन शब्द ध्वनियों के प्रति सजगता पंत में अधिक है । अज्ञेय ने **सुमित्रानंदन पंत** को 'स्वर-सिद्ध' कवि कहा है, लेकिन अपने उत्तरवर्ती रचना-काल में पंत ने इस पर कम बल दिया है ।[2] अज्ञेय ने स्वर मात्रा के प्रति सजगता लक्षित करने के लिए पंत की तुलना कीट्स से भी की । जिसके चलते वे उनकी सशक्त काव्य-भाषा का उदाहरण पेश करना चाहते थे, लेकिन पंत ने इस प्रशंसा को अनुकरण समझ निंदा के रूप में लिया । पंत की उत्तरकालीन रचनाओं की सीमाओं पर कई आलोचकों ने विचार किया । अज्ञेय ने वस्तु और रूप की एकरूपता पर बल दिया है । काव्य में कोई अनुभूति जिस सर्जित रूप में प्रस्तुत की जाती है तब उसे वस्तु और भाषा से अलग नहीं किया जा सकता । इस सन्दर्भ में अज्ञेय पंत की उत्तरकालीन रचनाओं का विश्लेषण करते हुए कहते है कि मेरी समझ में

---

[1] अज्ञेय – हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० सं०-39

[2] अज्ञेय – स्मृतिलेखा , पृ० सं०- 78 (अज्ञेय की टिप्पणी है- "स्वर-ध्वनियों पर पंत जी का ऐसा अधिकार था कि उन्हें सच्चे अर्थ में स्वर सिद्ध कवि कहा जा सकता है। वह उत्तर काल में इस प्रतिभा को कम महत्त्व देने लगे थे,...इसका महत्त्व उनकी दृष्टि में इसीलिए कम हो कि वह पूरी तरह प्राप्त कर चुके थे।")

तो अपनी उत्तरकालीन रचनाओं में अपनी बात कहने के लिए वह पद्य का उपयोग मात्र कर रहे थे, काव्य में जिस समग्र और अविभाज्य प्रतीक रूप की सर्जना होनी चाहिए, वह उनमें नहीं मिलती ।[1] अज्ञेय ने पंत के काव्य के अवदान का जो मूल्यांकन पेश किया है, उससे असहमत होने का भी कोई स्पष्ट कारण नहीं मिलता । वे मानते है कि, "काव्य में शब्द-संगीत का आधार व्यंजन ध्वनियाँ नहीं, बल्कि स्वर ध्वनियाँ है, इसकी अचूक पहचान पंत जी को थी और आधुनिक हिन्दी को यह उनकी बहुत बड़ी देन है कि उन्होनें अपने समकालीन और परवर्ती कवियों को स्वर सौन्दर्य की पहचान करा दी ।...पंत के काव्य में ऐसा बहुत कुछ है जो प्राणों को प्राणों से बाँध देता है और वही प्राण-परम्परा काव्य को ही नहीं, हमें भी जीवित रखती है - काव्य को हममें और हमें काव्य में ।"[2]

अज्ञेय **जयशंकर प्रसाद** को 'साधारणतया पुनरुत्थानवादी' कहते है ।[3] वे मानते है कि प्रसाद की दृष्टि अतीत से अनुशासित है, बौद्ध उत्कर्ष काल के प्रति उनमें सहज आकर्षण का भाव है । उनमें अपनी अनुभूति के प्रति एक संकोच का भाव भी है जो उनके सामाजिक परिस्थितियों के असामंजस्य के कारण भी आता है । इसलिए वे अपनी भावनाओं को मूर्त रूप देकर एक आध्यात्मिक आवरण के हवाले से पेश करते है । अज्ञेय ने अपने एक अन्य निबन्ध 'परिस्थिति और साहित्यकार' में जयशंकर प्रसाद की काव्यागत विशेषताओं का विश्लेषण किया हैं । 'ले चल वहाँ भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे' इन पंक्तियों को उद्धृत कर उनके तथाकथित पलायनवाद को व्याख्यायित करते हुए कहते है कि, "इससे यह अनुमान होता है कि कवि इन प्रौढ़, विकसित, उलझी हुई, आधुनिक रुचियों या मन:स्थितियों को ही छोड़कर एक सरल और अधिक सुखद जीवन प्रणाली की ओर जाना चाह रहा है, जिसमें व्यक्ति की आवश्यकताएं कम और उनकी पूर्ति अपेक्षाकृत सुगम हो ।"[4]

उनके इस पलायनवाद के विश्लेषण के लिए अज्ञेय तर्क की चार सीढ़ियाँ सामने रखते है –

---

[1] अज्ञेय – स्मृतिलेखा, पृ० सं०- 79

[2] अज्ञेय – स्मृतिलेखा, पृ० सं०- 78-82

[3] अज्ञेय – हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, (साहित्य-प्रवृत्तियों की सामाजिक पृष्ठभूमि), पृ० सं०-58

[4] सं निर्मला जैन – आधुनिक हिन्दी समीक्षा, पृ० सं०- 154

- यथार्थ असह्य है और उससे पीड़ा हो रही है।
- यथार्थ की अनुभूति से ही वह पीड़ा होती है।
- चेतना धर्म ही है यथार्थ की अनुभति।
- उस अनुभूति से मुक्ति पाने के लिए चेतना से मुक्ति पाना अनिवार्य है।[1]

इसी तरह एक अन्य पहलू पर अज्ञेय ने 'शेषा' में विचार किया है। अज्ञेय की चिंता है कि राजनीति में इकहरापन चल सकता है लेकिन साहित्य और संस्कृति में इकहरापन आत्मघात व अहित का परिणाम है। इस सन्दर्भ में अज्ञेय प्रसाद के साहित्य का विश्लेषण करते हुए कहते है कि, "अगर प्रगतिशीलता का कोई ऐतिहासिक सन्दर्भ भी है - और अगर नहीं है तो प्रगतिवादी जिस प्रगति का शोर मचाते है वह है क्या? तो प्रसाद क्यों प्रेमचन्द से कम प्रगतिशील माने जाए? प्रसाद के साहित्य ने भारतीय समाज में एक ऐतिहासिक अस्मिता-बोध, एक नियति-बोध (सेंस आफ डेस्टिनी) जगाने का प्रयत्न किया और ऐसे काल में किया जब देश अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ रहा था।...आत्म-बोध और ऐतिहासिक नियति-बोध से वह आस्था मिलती है जो स्वाधीनता-संग्राम का असली बल होती है, और प्रसाद ने उस संग्राम के आरंभिक युग में इस आस्था का एक पुष्ट आधार दिया। क्या वह युग-धर्म का निर्वाह नहीं था?[2] इन सभी तर्कों को मद्देनज़र करते हुए अज्ञेय ने प्रसाद के मूल्यांकन के लिए एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

अज्ञेय ने **फणीश्वरनाथ रेणु** और उनके कथा-साहित्य की भी आलोचना की है। वे रेणु को प्रेमचन्द का सहज उत्तराधिकारी और उनकी परम्परा का स्वाभाविक विकास मानने के प्रचलित मुहावरे के पक्ष में नहीं है। रेणु का कथा-साहित्य यथार्थपरक

---

[1] सं निर्मला जैन – आधुनिक हिन्दी समीक्षा , पृ० सं०- 155

[2] अज्ञेय – शेषा, पृ० सं०- 39-40

है, उसमें सामाजिक सरोकारों के साथ-साथ आम-आदमी की चिंताएं भी व्यक्त हुई हैं ।[1] उनके कथा-साहित्य में चित्रित वातावरण में गाँव की सारी बुराइयों-कमीनगी, गजालत के साथ एक अखंड मानवी विश्वास की चिंगारी सुलगती दिखती है । वे धरती के धनी है जो सजीव चरित्र रचने की अपूर्व प्रतिभा रखते हैं । वामनदास, हीरामन, मिरदंगिया जैसे पात्र प्रमुख उदाहरण है । 'तीसरी कसम' कहानी की नर्तकी के चरित्र के मनोजगत के उद्घाटन को अज्ञेय हिन्दी साहित्य में ही नहीं, समस्त भारतीय साहित्य में अलग ढंग की कहानी कहते हैं । रेणु की एक अन्य विशेषता यह भी बतलाते है की वे अपनी कथा को मिथकीय आयाम देते है – काल बद्ध घटना को कालातीत आयाम में स्थापित कर देते हैं । 'परती परिकथा' का कथानक इस दृष्टि से उल्लेख्य है ।[2]

अज्ञेय ने भक्ति काव्य और रीति काव्य के उन कवियों का भी विश्लेषण किया, जिन्हें आलोचकों ने महत्त्वपूर्ण ना समझ दरकिनार कर दिया था । हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वाले रामचन्द्र शुक्ल की मान्याताओं को कोई आलोचक बदल सका हो ऐसा कम ही लक्षित होता है । यह बात ओर है कि इस श्रृंखला में प्रयास करने वालों की कमी नहीं हैं । ऐसा ही कुछ प्रयास अज्ञेय ने भी किया है, लेकिन किसी की मान्यताओं को टक्कर देने के लिए नहीं, अपितु कुछ छूटे हुए पक्षों को उभारने हेतु । बहरहाल इन दोनों आलोचकों के मतों में साम्य-वैषम्य दोनों स्थितियां व्याप्त हैं । इस दिशा ने अज्ञेय ने **'हिन्दी साहित्य : चौपाई'** निबंध में सबसे पहले चौपाई छंद की शुरुआत कब हुई ? इसकी जांच की है । अज्ञेय शुक्ल के इस मत से सहमत नहीं है कि **तुलसीदास** ने अपनी रामायण मुसलमान कवियों की मनसवी शैली पर लिखी है । इसकी व्याख्या के लिए अज्ञेय ने कई तर्क सामने रखे जिनमें वे तुलसी के युग की पड़ताल कर यह बतलाते है कि इस समय इस्लाम का आतंक और अत्याचार हिन्दू जनमानस को कुचल रहा था । ऐसे वातावरण में अज्ञेय ने

---

[1] अज्ञेय – स्मृतिलेखा , पृ० सं०- 107 (अज्ञेय का मत है – "रेणु ने एक ऐसा रचना संसार उपस्थित कर दिया है, जो नया या अपरिचित तो नहीं है पर जो रेणु द्वारा खोले गए द्वार से आने वाले प्रकाश से ऐसा जगमगा उठता है कि हम अवाक् राह जाते है। आज हम उस परिवेश में रहते है, जिसे 'आम आदमी' को लेकर भड़काई गई एक लम्बी धुंधली बहस ने दम घोंटू बना रखा है और जिसमें कभी-कभार उठाई गई हर आदमी की अद्वितीयता की बात भी रुंध जाती है,...वे एक के बाद एक ऐसे चरित्र लगातार सिरजती चलती है, जो 'आम' है, 'मामूली' है, हमारे आसपास है, 'समांतर' है और जो अद्वितीय है, 'एकांत' अद्वितीय।")

[2] अज्ञेय- स्मृतिलेखा, पृ० सं०- 110-111

जायसी आदि मुसलमान कवियों की रचनाएं सामने रखी होगी यह अटपटा-सा लगता है । अज्ञेय ने इसके सापेक्ष तुलसी के अप्रतिहत कद को सराहते हुए तत्कालीन देश, काल और परिस्थिति में उनके छंद-चयन की प्रशंसा की है ।

अज्ञेय यह भी प्रतिपादित करते है कि चौपाई छंद जायसी से भी पहले रच-मंज चुका था ।[1] यह बौद्ध धर्म के सहजपंथी साधुओं के काव्य से चला आ रहा है । जिसके प्रमाणस्वरूप उन्होनें सिद्ध सरोज वज्र के कुछ छंद उद्धृत किए हैं । साथ ही यह भी रेखांकित किया है कि सहज पंथियों, जायसी आदि कवियों और तुलसीदास का कथ्य एक दूसरे से अलग था । अज्ञेय ने कबीर की भी आलोचना की है, जिसमें वे कबीर की भरपूर प्रसंशा करते है जबकि तुलसी उनकी दृष्टि में उतने प्रेरक एवं आत्मीय कवि नहीं है । इसके बजाए वे वाल्मीकि आदि-कवि की प्रतिभा से अभिभूत होते हैं ।

इसी तरह वे रीति कवि **केशव की कविताई** की व्यावहारिक आलोचना करते है । इसके लिए अज्ञेय ने एक नयी शैली - वार्तालाप शैली का प्रयोग किया है । प्रश्न-प्रति-प्रश्न द्वारा केशव की काव्यगत विशेषताओं का मूल्यांकन किया है । केशव के सन्दर्भ में रामचन्द्र शुक्ल की टिप्पणियाँ अपना एतिहासिक महत्त्व रखती हैं । रामचन्द्र शुक्ल ने माना है कि केशव को कवि हृदय प्राप्त नहीं था, लेकिन वे उनके काव्य 'रामचन्द्रिका' के संवादों की प्रशंसा करते है ।[2] इसके विपरीत अज्ञेय ने केशव की सबसे बड़ी उपलब्धि यह मानी कि उन्होनें हिन्दी कविता को अपेक्षित शास्त्र दिया और हिन्दी कविता की एक भारी कमी को दूर किया । केशव शब्द और अर्थ दोनों ही स्तरों पर चमत्कार रचने की क्षमता रखते है । उन्होनें अनेक छन्दों का प्रयोग किया है।[3] अज्ञेय मानते है कि केशव में

---

[1] अज्ञेय – हिन्दी साहित्य :एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० सं०- 171 (अज्ञेय का कथन है - "खोज करने पर पता चलता है कि चौपाई छंद जायसी से बहुत पहले चलता था, काफी मंज चुका था, भक्ति काव्य में ही बरता जाता था और यहाँ तक कि मनसवी शैली की जो ख़ास खूबी बतायी जाती है वह भी उस में थी।...चौपाई असल में चार पदों की होती है –एक दोहा आता था,..यह प्राचीन/भक्ति काव्य अवश्य ही तुलसीदास का जाना हुआ भी रहा होगा।")

[2] रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० सं०- 115 (शुक्ल का मत है – "केशव को कवि हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता भी न थी, जो एक कवि में होनी चाहिए।...'रामचन्द्रिका' में केशव को सबसे अधिक सफलता हुई है संवादों में। उनका रावण-अंगद संवाद तुलसी के संवाद से कही अधिक उपयुक्त और सुंदर है।)

[3] अज्ञेय – त्रिशंकु, पृ० सं०-101 (" कवि-प्रिया, रसिकप्रिया, नख-शिख वगैरह और रामचन्द्रिका का भी चरित काव्य उतना ही, जितना छन्दशास्त्र का खजाना। उतनी तरह के छंद शायद और किसी कवि ने नहीं लिखे होंगे।")

व्यंग्य करने की कला होती तो वे गजब कर जाते लेकिन युगानुरूप न होने पर भी उन्होनें यथास्थान काफी चुभती हुई काठ-सी कठेठी बातें कही है । उनके लेखन में भाषा और अर्थ दोनों का उक्ति-चमत्कार भरपूर हैं । इस चमत्कार की किसी ने तारीफ़ की है तो किसी ने निंदा, जैसे –

"ऐरी गोरी भोरी तेरी थोरी-थोरी हाँसी मेरी
मोहन की मोहनी की गिरा की गुराई है ।"[1]

इन पंक्तियों की व्याख्या करते हुए अज्ञेय ने बतलाया है कि अब तक आलोचकों ने इन्हें या तो मिठास-भरी बताया या निरा शब्दाडम्बर । वास्तव में यहाँ केशव उस गोरी की प्रशंसा करने के साथ-साथ उसे थोड़ा-थोड़ा बना भी रहे थे ।

इस तरह अज्ञेय ने अपने वैचारिक और आलोचनात्मक दृष्टिकोण से नई स्थापनाएं की ।

4.2.3 ललित निबन्ध : पाठ, विचार और मूल्यांकन

अज्ञेय ने अपने कथेत्तर गद्य में कुछ आत्मपरक निबन्ध भी लिखे है जिन्हें व्यक्ति-व्यंजक, व्यक्तित्व-व्यंजक, व्यक्तित्व-रंजित तथा ललित निबन्ध कई नाम दिए गए । अज्ञेय ने व्यक्तित्व-रंजित नाम स्वीकारा है और ललित निबन्ध को इसी का एक वर्ग मात्र कहा है । इन्हें अलग कोटि में रखने का कारण यह था कि इससे उन दूसरी अपेक्षाओं (विचार-वस्तु, इतिहास और शास्त्र-चर्चा) की काट हो जाएगी जो निबन्ध के नाम से जुड़ी है । अज्ञेय का मानना है कि ललित निबन्धों से ऐसी कोई अपेक्षा न की जाए । उसमें सर्जनात्मकता तथा लीला-भाव की प्रधानता होती है । लेखक की रूचि, दृष्टि, संस्कार, व्यसन आदि सब इसमें आ जाते हैं । उसका व्यक्तित्व ही उसके युग का प्रमाण बनकर सामने आता है जिससे अलग करके उस पर विचार नहीं किया जा सकता ।

---

[1] अज्ञेय – सर्जना और सन्दर्भ, पृ० सं०- 121 (केशव की कविताई)

हिन्दी ललित निबन्ध की वैचारिक पृष्ठभूमि की तीन विशेषताएं मानी गई है – (क) अखंड विश्व-दृष्टि (ख) मुक्त फक्कड़ भाव (ग) सामान्य में निगूढ़तम वैशिष्ट्य की तलाश । यूँ तो हिन्दी ललित निबंधकारों की संख्या कम ही मिलती है किन्तु इन विशेषताओं का किसी न किसी अनुपात में सभी ने समाहार किया हैं । अज्ञेय के ललित-निबन्धों में 'सब रंग कुछ राग', लिखि कागद कोरे', 'कहाँ है द्वारका', छाया का जंगल' चार निबन्ध-संग्रह आते हैं । अज्ञेय के आत्म व्यंजक निबन्धों की पहली विशेषता है – **हास्य और व्यंग्य की प्रमुखता ।** वे प्राय: स्थितिशीलता यांत्रिकता और जड़ता पर व्यंग्य करते हैं । इस हास्य और व्यंग्य में वे राजनेताओं, वैज्ञानिकों, साहित्यकारों आदि सभी को लपेट लेते हैं । 'सब रंग' के निबन्ध अज्ञेय ने कुट्टीचातन नाम से लिखे हैं । कुट्टीचातन जो स्वतंत्र तबीयत और रूचि का है, स्वभाव से चपल, विनोदी और मसखरा है, मदारी है । फक्कड़पन अंदाज में जिन्दगी जीता है । अज्ञेय का व्यक्तित्व भी कुछ ऐसा ही है । 'भूमिका तो रह ही गई', 'सेवा-पुराण' 'राष्ट्र के प्रतीक', 'मार्गदर्शन', 'पहला-रिपार्टर' आदि इसके स्पष्ट प्रमाण हैं । अपनी रचनाओं में भूमिका लिखने की जरूरत को अज्ञेय ने हमेशा से बेमानी माना है । अपनी इस धारणा को वे कुट्टीचातन के माध्यम से बतलाते है कि –

"भूमिका आरम्भ में, या अंत में, या मध्य में?....आप हमसे भी पूछेगें : आखिर कहना क्या चाहते हो?...लेकिन साहब, हमारे भूमिका बाँधने का कारण तो यही है कि हम कहना नहीं चाहते सिवा इसके कि कुछ कहना नहीं चाहते । यह बात भूमिका में विशेष स्पष्ट कह देने की है इस बात को लेकर भूमिका लिखने में दोहरा लाभ है : एक तो कथ्य की कमी भूमिका के घटाटोप में छिप जाती है, दूसरे पहले से ही ऐसा कह देने से विनय का, निरहंकार भाव से अपना अकिंचनत्व स्वीकार करने और परम सत्यवादी होने का श्रेय मिल जाता है । ....हमें भूमिका में यही कहना है कि पूरी पुस्तक पढ़िए तो शायद आपको पता लग जाए कि भूमिका में क्या होना चाहिए था - बस इतनी ही तो हमारी भूमिका है ।"[1]

---

[1] अज्ञेय – सब रंग और कुछ राग, पृ० सं०- 95-96

इसी तरह **'दिल्ली देखा की आगरा'** में मेरठ से दिल्ली तक लोकल रेलगाड़ी में यात्रा के अनुभवों का बड़ा दिलचस्प वर्णन किया है । बतकही के चटखारों में यात्रियों की बहस तथा हवालदार साहब की आप-बीती में लोकल गाड़ी में 'कंधा-घिसाई' का सारा दर्द छू हो जाने की बात कही है। जिनको पढ़ते हुए आश्चर्य का भाव आता है कि अज्ञेय ऐसा भी लिख सकते है । इसमें स्वयं लेखक कितना रस ले रहा है – "बात-चीत चल निकली थी, हँसी-मज़ाक भी हो रहा था, जो बोल नहीं रहे थे सुनने का ही रस ले रहे थे । हम भी सुनने वालों में थे : अगर श्रव्य के कच्चे धागे के सहारे भी हम मन ही मन नाटक रचते चल रहे थे तो इसलिए नही कि हम भरत मुनि को झूठा ठहरा रहे है, सिर्फ इसलिए कि जो सुन रहे थे, इतना मजेदार था कि कहानी अपने-आप बनाता चल रहा था । पर हम अपना पूर्वग्रह आप पर क्यों लादें : आप स्वयं सुन लीजिए ।"[1]

विद्यानिवास मिश्र का मानना है कि व्यक्ति-व्यंजक निबन्ध केवल सतह पर तर्कहीन होता है, अन्यथा उसमें सतह पर तर्क होता है, उसमें सतह पर ही तर्क का उपहास होता है, कुतर्क का उपयोग होता है और अनर्गल तर्क पेश किए जाते है । जिससे पाठक इस तर्क से भिन्न संगीत की तलाश करता है । 'मार्ग-दर्शन' में आदमी रास्ता पूछता है लेकिन कोई सही रास्ता नहीं बताता, जो बताता भी है वह उस ओर इशारा करता है जिस ओर नहीं जाना है । मार्गदर्शन प्रश्नचिन्ह बनकर रह जाता है । ऐसे में पाठक को स्वयं अन्विति दिखती है कि इस सारी उलझन और परेशानी में एक ही प्रतीयमान है कि मार्ग का दर्शन कठिन है । इसमें अज्ञेय मार्ग-संकेतों के सहारे विविध सभ्यता के कालों की पहचान कराते है । साथ ही आश्रम सभ्यता, सामंतीय सभ्यता तथा आधुनिक सभ्यता के सूचक मार्ग संकेतों का हवाला देते हैं । देश में प्रचलित नेताओं के नाम पर हर कस्बे या नगर में 'कस्तूरबा पथ', 'जवाहर रोड', 'गांधी मार्ग', 'आज़ाद मैदान', 'पटेल पथ और टंडन गली' जैसे नामकरण की वर्तमान प्रवृत्ति पर भी व्यंग्य

[1] अज्ञेय – सब रंग और कुछ राग, पृ० सं०- 23

किया हैं। इसी क्रम वे काशी के धुरंधर पंडित प्रवर 'अभिनव नाट्य शास्त्र' के रचयिता 'अभिनव भरत' को भी अपनी लपेट में लेते हैं।

उनके हास्य एवं व्यंग्य का आनन्द लेने के लिए सुरूचि सम्पन्न, बौद्धिक, बहुश्रुत एवं बहुपठित होना आवश्यक है। किसी भी विषय को लेकर वे दिक्-काल की सीमा का अतिक्रमण करके एक ही लय में कही से कही पहुँच जाते हैं। 'बायरन' से शुरू कर वे व्यास, वाल्मीकि, होमर, बनार्ड शा, कालिदास, गालिब, महादेवी वर्मा का उल्लेख करने लगते हैं। 'हौआ' और 'आदम' की बात करते हुए 'प्रियंवदा और शंकुतला', 'संजय और व्यास', 'इड़ा और मनु' का उदाहरण रखना उनके लिए सहज है। 'उनके निबन्धों में कही कालिदास और भवभूति की कोई सूक्ति उद्धृत रहती है तो कही वेद का कोई मंत्र। कही न्याय, वेदान्त या अन्य किसी दर्शन का कोई पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त रहता है तो कही पुरातत्व का कोई सन्दर्भ। कही अंग्रेजी भाषा की कोई कहावत उद्धृत रहती है तो कही ज्यामिति एवं गणित का कोई सूत्र। कही हिन्दी के किसी कवि की कविता पंक्ति मिल जाती है तो कही लोक साहित्य की कोई प्रसिद्ध उक्ति। आचार्य शुक्ल ने जिसे 'प्रसंग-गर्भत्व' कहा है वह अज्ञेय की निबन्ध शैली की एक प्रमुख विशेषता बन गई हैं।'[1] यही अज्ञेय के ललित निबन्ध की अगली विशेषता है – **विषयांतर।** निबन्ध जिस विषय से शुरू होता है वह अपनी कथा में कई कथा-धाराएं बुनता हुआ कही से कही पहुँच जाता हैं। वर्ण्य-विषय का सूत्र इतना फैल जाता है कि लेखक स्वयं अपने विषयांतर को 'किस्सा कोताह', बात मूलतः यह थी', माफ़ी चाहते है', हम प्रसंग से दूर नही जाना चाहते' या बहक गया' आदि कहकर दूर करता है। उदाहरण के लिए - **'नखरे में गर्म मसाला'** निबन्ध में अज्ञेय ईसा से पाँच हज़ार वर्ष पहले से लेकर उन्नीसवीं शती के खनिज तेल की समस्त यात्राओं की चर्चा करके उनका सम्बन्ध गर्म मसाले से जोड़ देते हैं।

इसी तरह **'कविता : श्रव्य से पठ्य तक'** निबन्ध में 'शब्द-क्रम के सम्यक वाचन' की भारतीय परम्परा के महत्त्व का बतलाते है और इसका सम्बन्ध आदि काव्य के उस प्रसंग

[1] सं विश्वनाथ प्रसाद – अज्ञेय (लेख- अज्ञेय के ललित निबन्ध – रामचन्द्र तिवारी), पृ० सं०- 226

से जोड़ते है जहाँ वत्कल वेशधारी राम-लक्ष्मण से मिलने के लिए हनुमान आते है । इस प्रसंग में हनुमान की वाणी की अनेक विशेषताओं - संस्कार एवं क्रम सम्पन्नता, अद्‌भुतता, अविलम्बिता, हृदयहारिता आदि – के साथ उसके 'कल्याणी' होने की बात भी कही गई है । इस 'कल्याणी वाक्' के सूत्र को पकड़कर वे वेद तक पहुँच जाते है और प्रतिपादित करते है कि यही पद मूलतः वेद का है ।

इसी विषयांतर की वजह से कई बार उनके विषय परत-दर-परत उलझते जाते हैं, जिससे हल्की मन:स्थिति के साथ कुछ **गंभीर तत्वों का भी प्रतिपादन** हो जाता हैं । हांलाकि गंभीर विषयों में एक सूत्र दूसरे सूत्र से इस तरह गूँथा होता है कि कही कोई गुंजाइश न रहे । लेकिन अज्ञेय ने अपने ललित निबन्धों में कही-कही गंभीर तत्व इस तरह शामिल किए है कि उनको अलग करके रखा जाए तो यह बतलाना मुश्किल है कि वह किस निबंध का अंश है । उदाहरणस्वरूप उनके **'गिलहरी'** निबंध में वे मानव की नैतिकता के स्रोत पर विचार करते हुए कहते है कि, "गुणी से गुण की उद्भावना करने की युक्ति की, तर्क की, कार्य-कारण-परम्परा को समझकर कार्य का कार्यत्व और कारण का कारणत्व पहचानने की और सम्बन्ध का सम्बन्धत्व देखने की क्षमता मानवीय बुद्धि की विशेषता है और मानव बुद्धिमान है इसीलिए वह नैतिक है, नीति का स्रोत हमें निरे सुखवाद में खोजना पड़े यह आवश्यक नहीं, मानव की बुद्धि ही उसकी नैतिकता की प्रतिज्ञा है ।"[1]

एक अन्य उदाहरण के रूप में उनके **'शारदीया धूप'** निबंध को लिया जा सकता है, जिसमें वे 'मनोदशा' का विश्लेषण करते हुए कहते है कि "यह मन स्वयंभू तो नहीं है । बाहर की स्थितियों के परस्पर संघात से, प्रभाव से ही तो मन बनता है । इसलिए 'मनोदशा' भी स्थितियों का परिणाम है चाहे कितना भी परोक्ष परिणाम ।"[2]

ललित निबन्धों का **भाषा** से गहरा सरोकार होता है । इसमें बहकने, बहकाने, बात को घुमाने, उसको कही से कही पहुँचाने अर्थात् द्विवेदी जी के शब्दों में कहा जाए तो

---

[1] अज्ञेय – सब रंग और कुछ राग, पृ० सं०- 40

[2] अज्ञेय – सब रंग और कुछ राग, पृ० सं०- 47

बतरसने का सहारा लिया जाता है । जिसका एक मात्र उदेश्य यही है कि पाठक लेखक की आत्मीयता से बंध जाए । उनके बीच ऐसी अंतरंगता बने कि लेखक का परिवेश पाठक का ही परिवेश लगने लगे । अज्ञेय ने कथेत्तर साहित्य में यथास्थान अपने को ही विषय बनाकर अपने परिवेश को व्यक्त किया है । उनके व्यक्तित्व-रंजित निबन्धों की एक अन्य बड़ी विशेषता लक्षित होती है - **लेखक और पाठक का पारस्परिक जुड़ाव ।** यह तादात्म्य कही-कही इतना गहरा प्रतीत होता है कि मानो अज्ञेय अपने पाठक के सामने बैठ कर सीधे बात कर रहे हो । जैसे **'सपने मैनें भी देखे है'** निबन्ध की पंक्ति देखी जा सकती है "और अब अपनी सुनाऊँ? हँसिएगा मत? मेरा सपना यह था कि मैं एक पोटली कंधे की लाठी में लटकाए चला जा रहा हूँ और अनंत काल तक चला जाऊँगा । मुझे घुमक्कड़ी पंसद थी, शहर हो कि जंगल, नदी नाले कि पहाड़, समुद्र कि रेगिस्तान कि तीर्थ स्थल कि पुराने खंडहर । कभी पैदल, कभी घोड़े पर, कभी तांगे-बैलगाड़ी में, कभी ऊँट-गाड़ी या शिकरम पर - मोटर का कभी ध्यान नहीं होता था, मोटर में तब तक बैठा भी नहीं था ।"[1]

इस तरह से उनके 'ऋण स्वीकारी हूँ', 'अज्ञेय अपनी निगाह में', 'लिखी कागद कोरे', 'हौआ प्रकरण', 'कुट्टीजात विनोदेन', 'भवन्ती', 'अंतरा', 'शाश्वती', 'अरे यायावर रहेगा याद' आदि प्रमुख हैं । इनमें वह 'लीरिक तत्व' विद्यमान है जिससे अज्ञेय की आत्मपरकता स्पष्ट लक्षित होती है । अज्ञेय का व्यक्तित्व पहली बार इनमें ऐसा व्यक्त हुआ है जो अन्य रचनाओं से अलग है । साथ ही इन रचनाओं से ज्ञात होता है कि 'अज्ञेय' एकांत प्रेमी और संकोची है । और समाज-भीरु तो इतने है कि कभी-कभी दुकान में घुसकर भी उल्टे पांव इसलिए लौट आते है कि चीज खरीदने के लिए दुकानदार से बात करनी पड़ेगी । वे बढ़ईगिरी, पशु-पक्षियों, बागवानी और यायावरी के शौकीन थे । लययुक्त गति के प्रति उनका अद्‌भुत आकर्षण दिखाई देता है । इसके विपरीत भी कुछ आलोचकों का कहना है कि अज्ञेय अपने बारे में आधी-अधूरी जानकारी प्रस्तुत करते है जिससे पाठक का उनके व्यक्तित्व के बारे में सही अंदाजा लगा पाना मुश्किल हो जाता है। इतने पर भी अज्ञेय के समस्त कथेत्तर गद्य में 'एक विशेष प्रकार का लालित्य मिलता

[1] अज्ञेय – आत्मपरक, (सपने मैनें भी देखे है), पृ० सं०- 271

है जिसका आधार इनकी रागमूलकता है । यह 'राग' लेखक की संवेदना का वह तत्व है जो उसकी अनुभव की परिधि में आने वाली वस्तुओं, व्यापारों और घटनाओं को तथ्य मात्र न रखकर अपने व्यक्तित्व का अंग बनाकर पेश करता है । उसकी भाषा जड़ प्रकृति की यांत्रिक अनुकृति न होकर चेतना-सम्पन्न कलाकार के प्राणों के स्पंदन से स्पन्दित होती है ।'[1]

इस तरह अज्ञेय ने अपने कथेत्तर साहित्य में अपनी साहित्यिक एवं आलोचनात्मक दृष्टि का परिचय दिया है । अज्ञेय, कवि अज्ञेय और आलोचक वात्स्यायन में भेद मानते है । साथ ही वे यह आग्रह भी करते है कवि अज्ञेय की विचारधारा को आलोचक अज्ञेय से अलग ही रखा जाए । कुछ समीक्षकों ने अज्ञेय के इस आग्रह का निर्वाह किया है तो कुछ ने दोनों को एकरूप करके पेश किया । इस सन्दर्भ में **परमानन्द श्रीवास्तव** का मानना है कि, 'अज्ञेय की आलोचना आलोचक का वक्तव्य न होकर कवि का वक्तव्य है या सर्जनात्मक आलोचक का ही कवि-वक्तव्य ।'[2]

अज्ञेय ने कुछ निबन्ध 'अज्ञेय' और कुछ लेख सच्चिदानंद हीरानन्द 'वात्स्यायन' के नाम से लिखे है । अज्ञेय अपने को मूलतः कृतिकार मानते है । वे एक लेखक की हैसियत से अपनी रचना के बारे में आलोचना करना पसंद नहीं करते, फिर भी वे लगातार आलोचना करते-लिखते आए हैं । साथ ही हिन्दी आलोचना जगत में अपनी नई-नई मूल्यांकन संबंधी मान्यताएँ भी स्थापित की हैं ।

अज्ञेय की आलोचना-दृष्टि को **श्री राम वर्मा** ने तीन धाराओं में बाँटा है – 'पहली यह कि वे अपनी सर्जना की व्याख्या करते है । आत्मरक्षा कवच बनने की स्थिति ने नया अज्ञेय पुराने अज्ञेय को मिटाता नहीं शोधित करता है । अस्वीकार नही करता बल्कि अस्वीकार को ओर अधिक तीव्र करता है क्योंकि वह असाध्य और दु:स्पर्धी है । अज्ञेय उतने और ऐसे कल्पनोंमत्त नहीं है कि वे छायावादी कवि कहें जा सके, न वे उतने या वैसे प्रगतिशील यथार्थ पर टिके है कि उन्हें प्रगतिवादी कहा जा सके । दूसरी धारा यह है कि वे दूसरों की आलोचना जब करते है तो सबसे पहले उसके अवगुण पर उनकी दृष्टि सीधी और सधी पड़ती है । वे जानबूझकर सायास और अपनी प्रतिष्ठा को बचाने के लिए वे

---

[1] सं० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी – अज्ञेय, (लेख- अज्ञेय के ललित निबन्ध- रामचन्द्र तिवारी), पृ० सं०- 222

[2] सं० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी – अज्ञेय, (लेख- आलोचक अज्ञेय – परमानंद श्रीवास्तव), पृ० सं०- 211

दुरालोचना नहीं करते है बल्कि सर्जक के पूर्वापर क्रम में उसके गुणों को ध्यान में रखते हुए उसके विकास के प्रकाश में अवरोधक की चर्चा करते है । तब भी कभी-कभी वे दूसरों के साथ चूक न कर बैठे हो ऐसा नहीं है । तीसरी यह कि वे आलोचना अपनी प्रस्तुत करे या दूसरे की, प्रथम पुरुष या अन्य पुरुष महत्त्वपूर्ण नहीं होते । मूल्य चिंताएं महत्त्वपूर्ण होती है । ये मूल्य चिंताएं काल की, दिक् की, व्यक्ति की, समाज की, इतिहास की, भूगोल की, संस्कृति की, सभ्यता की, श्रृव्य और दृश्य की, शब्द और इन्द्रियों और इन्द्रियातीत की यानी समग्र बहिरंग के विकास और अवरोध से संबंद्ध है ।'[1]

इस तरह अज्ञेय साहित्य के मूल्यों, समकालीन साहित्य की परख के सवालों को लेकर आरंभ से चिंतित दिखाई देते हैं । आलोचना को गौण व उपजीवी कर्म मानने वाले अज्ञेय का आलोचना करने के पीछे एक मूलभूत कारण यह भी रहा है, उन्ही के शब्दों में, "समकालीन आलोचना की त्रुटियों और उसकी एकांगिता को भी अनदेखा न करना होगा । एक एकांगिता ने नयी रचना का बहुत अहित किया है । उसने रचनाकारों को दिग्भ्रमित किया है और पाठक को भी इसलिए पथभ्रष्ट किया है कि उसने पाठक के सामने जो कसौटियां दी है वे स्वयं झूठी हैं । नयी कविता ने एक प्रकार फिर रचयिता और गृहीता समाज का सम्बन्ध स्थापित किया था, संचार की प्रणालियाँ बनाई थी और खोली थी । संकीर्ण और मताग्राही आलोचना ने फिर उन्हें अवरुद्ध कर दिया ।"[2]

इस संकीर्ण और मताग्राही आलोचना पर अज्ञेय ने कई जगह टिप्पणी की है ।[3] इसलिए उन्होनें ऐसी आलोचना पर बल दिया है जो रचनाकार के परिवेश और उसके मन की परख करते हुए मूल्यांकन करे ।[4] इसके अलावा **अज्ञेय** यह भी कहते है कि, "मुझे अपना

---

[1] तेवर (पत्रिका) अंक-6 (नाचत है भूमि री), पृ० सं०- 14-15

[2] अज्ञेय – चौथा सप्तक, भूमिका, पृ० सं०- 6

[3] अज्ञेय – शेषा , पृ० सं०- 14 (अज्ञेय की टिप्पणी है - "भारतीय लेखक से सवाल यह पूछेगें कि वह कहाँ मौलिक है, पर परख के लिए कसौटी कोई रखेगें(या जानेगें भी) तो एक मात्र पश्चिम के साहित्यकार की। जहां भारतीय लेखक उन पश्चिमी लेखकों से मेल खाता है, उन पश्चिमी कसौटियों पर खरा दीखता है, वहाँ वह उन्हें ग्राह्य है क्योंकि उतना तो वह 'अंतर्राष्ट्रीय कसौटियों पर खरा पाया जा चुका है', जहाँ वह उनसे अलग है वहाँ वे उसे त्याज्य गिनेगें क्योंकि उसमे कुछ अच्छा होता तो वह कही न कही पश्चिम के महान लेखकों में न दीखता? और इस गुलाम मानसिकता के साथ वे खोजने चले है भारतीय कृतिकार की मौलिकता, आंकने चले है उसका मोल।")

[4] अज्ञेय – सर्जना और सन्दर्भ , पृ० सं०- 47 (अज्ञेय का कथन है कि – "जो आलोचना इस गुण-दोष विवेचन से आगे नहीं बढ़ती, उसको लांघकर रचयिता के मन को नहीं परखती, वह आलोचना निस्सार है, बन्ध्या है और हमारी समझ में कलाकार के मन की परख के लिए यह देखना आवश्यक है कि अपनी परिवृति से उसका सम्बन्ध कैसा है, यथार्थ के आघात के प्रति उसका रवैया क्या है, उससे क्या प्रतिक्रिया उसमें होती है।")

आलोचक नहीं मिलता रहा है और इस तरह के निस्संग हितैषी सहयात्री की अनुपस्थिति का रिक्त मुझे स्वयं भरते रहना पड़ा हैं। यानी मैं भी चला हूँ और अपने साथ अपने को पथ-निर्देश देता हुआ और देश-काल की पहचान कराता हुआ भी चलता आया हूँ। आलोचना मैनें की है, पर अपने कवि रूप की रक्षा के लिए।"[1] लेकिन जहाँ भी उन्हें अपनी रचनाओं को लेकर अलग से कुछ कहना-सुनना पड़ा है वहाँ उन मंतव्यों का सीधे-सीधे कोई स्पष्टीकरण नहीं मिलता।

अज्ञेय आलोचना को रचना का धर्म भी मानते है। उनका कहना है कि, 'वास्तव में तो हर कवि की हर कविता की हर पंक्ति अपने से पहले के सभी कवियों की सभी रचनाओं पर – यानी उन सब पर जो उसने पढ़ी सुनी है या जिनके बारे में जाना है – एक निर्णय है! विशेष रूप से अपने समकालीन सब कवियों की सब रचनाओं पर ; और मानना चाहिए कि प्रतिकूल ही निर्णय। नहीं तो वह लिखे कैसे और क्यों?'[2] कृतिकार के रूप में ही सही अज्ञेय ने जितना भी चिंतन-मनन एवं विश्लेषण किया, वह भी एक तरह की आलोचना ही है। लेकिन अज्ञेय स्वयं को आलोचक कहते हुए भी आलोचक नहीं मानते, क्योंकि आलोचक को 'जैसा सुपठित' और 'शास्त्र-निष्णात' होना चाहिए वैसे वे अपने को नहीं पाते। आलोचक की बजाए वे स्वयं को 'कृतिकार' या 'अध्येता' कहना अधिक उचित समझते है। इस अध्येता के रूप में ही वे अपने कथेत्तर साहित्य के कुछ अंश कवि व कविता से जुड़ी मान्यताओं को प्रस्तुत करते है तथा साथ ही अपनी रचनाओं के सन्दर्भ में पाठक को भटकाव की स्थिति से दूर करते है। स्वयं को अध्येता कहने वाले अज्ञेय ने यथास्थान 'शुद्ध आलोचक' के रूप भी कुछ निबन्ध, सम्पादकीय एवं टिप्पणियाँ ही लिखी हैं। आलोचक के रूप में उनकी स्थापनाओं ने अपनी पिछली शताब्दी को बहुत आंदोलित किया हैं। उनके आलोचक रूप का वृत्त इतना बड़ा हैं, जिसके भीतर उनका कवि-आलोचक-चिंतक सभी रूप समाहित हो जाते हैं।

---

[1] अज्ञेय - भवन्ती, 1972 , पृ० सं०- 44

[2] वही , पृ० सं०- 52

पाँचवा अध्याय
अज्ञेय की सम्पादन-कला का मूल्यांकन

अज्ञेय की सम्पादन-कला का मूल्यांकन

5.1 हिन्दी पत्रकारिता और अज्ञेय

5.1.1 सम्पादित ग्रन्थ और अज्ञेय

5.2 सम्पादन-कला : चुनौतियाँ और सन्दर्भ

5.2.1 दिनमान और अज्ञेय

5.2.2 अज्ञेय और नवभारत टाइम्स

अज्ञेय की सम्पादन-कला का मूल्यांकन

5.1 हिन्दी पत्रकारिता और अज्ञेय :

किसी देश-समाज के भीतर की घटनाओं को लेकर परिवेश की एक समझ उत्पन्न करना पत्रकारिता का पहला व महत्त्वपूर्ण कर्तव्य हैं। पत्रकारिता ने युगों से अपने इस दायित्व का निर्वाह करने के लिए कई चुनौतियों का सामना कर अपनी उपस्थिति दर्ज की हैं। आज़ादी से पूर्व 'राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय चेतना की अनुभूति' का दौर था, जिसका उदेश्य स्वाधीनता पाना था। स्वाधीनता की प्राप्ति के प्रयास के तहत् ही हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की शुरुआत हुई। इस दौरान हिन्दी क्षेत्रों के बाहर भी विशेषकर हिंदीत्तर भाषी क्षेत्रों में भाषा को राष्ट्रीय अस्मिता का वाहक मानकर सभी पत्रकारों ने हिन्दी को ही अपनी भाषा के रूप में चुना और हिन्दी भाषा के विकास में अपना योगदान दिया।

भारतेंदु युग से पूर्व ही पत्रकारिता का आरंभ हो चुका था। हिन्दी भाषा का पहला समाचार-पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' (30 मई 1826) युगल किशोर के सम्पादन में निकला। यह पत्र बंगाल से निकला था और यही से हिन्दी पत्रकारिता के बीज प्रस्फुटित हुए थे। इस पत्र का उदेश्य भारतीय जनता के हितों की रक्षा कर उन्हें जागृत करना था। भारतेंदु ने 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', 'बाला बोधिनी' आदि पत्र निकाले। जिनका उदेश्य राष्ट्रीय चेतना, समाज सुधार, मानवीय हितों की सुरक्षा, स्वाधीनता की प्राप्ति था। भारतेंदु के इन पत्रों से प्रेरित होकर बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' निकाला। 1878 में 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' लागू हुआ, जिसमें लार्ड लिटन द्वारा प्रेस की आज़ादी पर रोक लगाई गई साथ ही वे सभी पत्र जब्त कर लिए गए जो बिट्रिश शासन का विरोध तथा स्वाधीनता के लिए जागृत कर रहे थे। 'हिन्दी प्रदीप' में इस एक्ट की न केवल भर्त्सना की गई बल्कि, इसके खिलाफ़ व्यंग्यपूर्ण लेख भी लिखे गए। इसी कड़ी में 'सारसुधा निधि', 'आनंद कादम्बिनी', 'बाह्मण', 'नागरी नीरद' आदि पत्रों का आगमन हुआ, जिनमें राष्ट्र हित के साथ-साथ किसी भी प्रकार की व्यावसायिक पत्रकारिता को हिन्दी पत्रकारिता से दूर रखा। जनवरी 1900 में हिन्दी साहित्य को दिशा-निर्देश देने वाली

पत्रिका 'सरस्वती' का प्रकाशन हुआ। इस पत्रिका द्वारा 1903 में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने एक ओर भाषा के स्तर पर काम किया, वही दूसरी ओर प्रेरक बनकर साहित्यिक और राष्ट्रीय चेतना को स्वर प्रदान किया। 'समालोचक', 'भारतेंदु', 'अभ्युदय', 'हिन्दी केसरी', प्रताप आदि पत्रों का उदेश्य भी राष्ट्रीय चेतना एवं भाषा नीति का प्रसार रहा।

छायावाद काल में 'इंदु', 'प्रभा', 'चाँद', 'माधुरी', 'शारदा', 'मतवाला आदि पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। इस युग के साहित्यकारों ने पत्रकारिता के विकास को नए आयाम दिए। जयशंकर प्रसाद, निराला, प्रेमचन्द, शिवपूजन सहाय, माधवराव सप्रे आदि साहित्यकारों के मार्गदर्शन में हिंदी पत्रकारिता को साहित्य के साथ जोड़कर आगे बढ़ाया। साहित्य और पत्रकारिता का जब सम्मिश्रण होता है तब पत्रकारिता मात्र सूचना ही नहीं, जनशिक्षण और सांस्कृतिक उत्थान का भी माध्यम बनती हैं। प्रेमचन्द ने हंस, माधुरी और जागरण का सम्पादन कर राष्ट्रचेतना से जुड़े विचारों को जन-जन तक पहुंचाया। 'हंस' स्वाधीनता आन्दोलन की वैचारिक पत्रिका थी, जिसे अंग्रेज सरकार का कोपभाजन सहना पड़ा था। सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने साहित्यिक पत्रकारिता की शुरुआत ऐसे समय में की थी जब राजनीतिक पत्रकारिता के समक्षक साहित्यिक पत्रकारिता ने भी अपनी जड़े जमा ली थी। निराला का सम्बन्ध प्रभा, सरस्वती, माधुरी, शिक्षा, आदर्श और मतवाला जैसी प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं से रहा। इनमें तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों पर हास्य, व्यंग्य-विनोद शैली में उन्होंने खूब लेख लिखे। कई दफ़ा लेखकों की रचनाओं न मिलने पर वे अपनी रचनाएँ ही छद्म नाम से छाप दिया करते थे। पत्रकारिता के क्षेत्र में साहित्यिक पत्रकारिता को मजबूत करने का काम शिवपूजन सहाय ने किया। जिससे हिन्दी पत्रकारिता भाषा के स्तर पर तथा साहित्यिक सरोकारों से भी सहज रूप से जुड़ती गई। इस तरह कई साहित्यकारों ने हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में आगे की पीढ़ी के पत्रकारों को दिशा-निर्देश देने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय ने साहित्य और पत्रकारिता दोनों मी ही समान योगदान दिया।

कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, यात्रा-वृत्तांत, आलोचना आदि विधाओं के साथ-साथ अज्ञेय ने पत्रकारिता के क्षेत्र में भी नए प्रयोग किए हैं। सम्पादक की भूमिका में अज्ञेय ने कई हिन्दी-अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों का सम्पादन किया। जिनमें तारसप्तक, दूसरा-तीसरा-चौथा सप्तक, पुष्करिणी, रूपाम्बरा, सैनिक, विशाल भारत, आरती, प्रतीक, थाट, वाक्, दिनमान आदि प्रमुख हैं। इन सभी पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों के सम्पादकीय से अज्ञेय ने हिन्दी पत्रकारिता के स्तर को उठाने तथा सम्पादक की जिम्मेदारियों से अवगत कराने का प्रयास किया हैं। अज्ञेय ने सम्पादकों की कम होती प्रतिष्ठा के लिए सम्पादकों को ही जिम्मेदार ठहराते हुए कहा कि, 'हिन्दी पत्रकारिता के आरंभ के युग में हमारे पत्रकारों की जो प्रतिष्ठा थी, वह आज नहीं हैं। साधारण रूप से तो यह बात कही जा सकती है, अपवाद खोजने चलें तो भी यही पावेंगे कि आज का एक भी पत्रकार या संपादक वह सम्मान नहीं पाता जो कि पचास-पचहत्तर वर्ष पहले के अधिकतर पत्रकारों को प्राप्त था। आक के संपादक पत्रकार अगर इस अंतर पर विचार करें तो स्वीकार करने को बाध्य होगें कि वे न केवल कम सम्मान पाते हैं, बल्कि कम सम्मान के पात्र हैं या कदाचित् सम्मान के पात्र बिल्कुल नहीं हैं, जो पाते हैं पात्रता से नहीं इतर कारणों से।'[1]

यूँ तो साहित्य जगत में अज्ञेय अपने लेखन के साथ ही विरोधों से घिरे रहे तथा उनके सम्पादन-कर्म पर भी छिट-पुट सवालिया निशान लगातार लगते रहे हैं। अज्ञेय के साहित्य-कर्म का गहराई से विश्लेषण करने वाले प्राय: उनके सम्पादन-पत्रकार कर्म को अनदेखा ही छोड़ देते हैं। क्योंकि हिन्दी साहित्य जगत में इन साहित्यिक पत्रकारों के कार्यों पर किसी लेखक पत्रकार ने कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं किया। साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित रमेशचंद्र शाह द्वारा लिखित मोनोग्राफ़ में भी अज्ञेय के सम्पादन-कर्म का कोई जिक्र नहीं मिलता। अज्ञेय के सहयोगी गण जिन्होंने अज्ञेय से सम्पादन-कर्म सीखा और आगे जाकर बड़े-बड़े पत्रकार बने। उन सहयोगियों ने भी 'सम्पादक अज्ञेय' के विषय में कुछ ख़ास नहीं लिखा। इतने पर भी कुछ बाद के समीक्षकों एवं शोधकर्ताओं ने अज्ञेय की पत्रकारिता एवं उनके सम्पादन-कार्य पर कुछ टिप्पणियाँ और लेख लिखे हैं जो उनके

[1] अज्ञेय - आत्मपरक , पृ० सं- 60

गंभीर सम्पादकत्व का परिचय देते हैं । 2010 में माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता व संचार विश्वविद्यालय की ओर से रमेशचंद्र शाह ने एक लंबे अरसे बाद हिन्दी पत्रकारिता में अज्ञेय के योगदान को एक पुस्तक के रूप में समेटा है ।

अज्ञेय के संपादन-पत्रकार कर्म को समझने के लिए दोनों को अलग-अलग रखकर विश्लेषित करना आवश्यक है । 'सम्पादक' के रूप में अज्ञेय ने कई ग्रन्थों व पुस्तकों का सम्पादन किया हैं । इन ग्रन्थों में 'तारसप्तक', 'दूसरा सप्तक', 'तीसरा सप्तक', चौथा सप्तक', 'प्रतीक', 'पुष्करिणी', 'रूपाम्बरा', 'नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ', 'वत्सल निधि प्रकाशन माला के ग्रन्थ', 'भारतीय कला-सृष्टि', 'जन जनक जानकी यात्रा', 'नए साहित्य-सृष्टा ग्रन्थमाला', 'चुनी हुई कविताएँ' आदि प्रमुख हैं ।

5.1.1 सम्पादित ग्रन्थ और अज्ञेय

हिन्दी साहित्य जगत् में 'सप्तकों' की श्रृंखला वह कड़ी है, जिसने हिन्दी कविता के महत्त्व को बताया । इन सप्तकों में सात-सात कवियों की रचनाओं के साथ-साथ उनका वक्तव्य भी शामिल किया गया हैं । इस तरह के काव्य-संग्रह की योजना का विचार-सूत्र किसका था? - इस विषय में कई मत मिलते हैं । 1943 में अज्ञेय द्वारा संपादित **'तारसप्तक'** (पहला) की योजना के विषय में संपादक ने भूमिका में स्वयं बतलाया है कि, "दो वर्ष हुए, जब दिल्ली में 'अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन' की आयोजना की गयी थी । उस समय कुछ उत्साही बन्धुओं ने विचार किया कि छोटे-छोटे फुटकर संग्रह छापने की बजाए एक संयुक्त संग्रह छापा जाए.... ।"[1]

स्पष्ट है योजना कुछ उत्साही बन्धुओं की थी, इसका प्रमाण स्वयं सम्पादक का वक्तव्य है कि यह योजना उनकी नहीं थी । इतने पर भी उनके सहयोगी लगातार उन पर आरोप मढ़ते रहे कि इस योजना की वाह-वाही अज्ञेय ने अपने नाम बटोर ली । 'ये उत्साही-बन्धु कौन थे?' इस विषय में भी कई मत मिलते हैं, जिससे कोई एक नाम स्पष्टत: नहीं मिलता । मुख्य रूप से इसकी योजना का विचार-सूत्र तथा नामकरण को

[1] अज्ञेय – तारसप्तक, भूमिका से

लेकर हुई बहस- प्रभाकर माचवे, नेमिचंद्र जैन, मुक्तिबोध और प्रयागचन्द्र शर्मा के ईद-गिर्द ही घूमती है । इस सप्तक की योजना का बुनियादी सिद्धांत क्या रहा? इनमें किन कवियों को शामिल किया गया और क्यूँ? सम्पादक ने स्वयं स्वीकारा है कि, 'तारसप्तक' की योजना का मूल आधार सहयोग होगा और इसमें संग्रहीत सभी कवि कविता में 'सत्य' के खोजी होगें और उनके कोई स्वतंत्र काव्य-संग्रह कही प्रकाशित न हुए हो ।[1] यह बात ध्यान देने की है कि उनका यह मूलभूत नियम आगे आने वाले सप्तकों पर ढीला पड़ता दिखाई देता हैं ।

इस योजना में शामिल बिन्दुओं को आधार बनाने के कारण 'तारसप्तक' को कुछ आलोचकों ने एक बड़े काव्यान्दोलन 'प्रयोगवाद' का नाम दिया । इसके विपरीत कुछ आलोचकों ने माना कि सन् 1946-47 तक एक साहित्यिक आन्दोलन के रूप में न तो 'प्रयोगवाद' की चर्चा थी और न 'तारसप्तक' के प्रकाशन को एक नई साहित्यिक रचना-प्रणाली स्थापित करने वाली घटना के रूप में देखा जाता था । 'तारसप्तक' से प्रयोगवाद के उदय पर प्रश्नचिन्ह लगाते हुए **रेखा अवस्थी** का कहना है कि, " 'तारसप्तक' तो क्या 'प्रतीक' के प्रकाशन तक भी नए-नए प्रयोग करने वाले कृतिकार के रूप में किसी की भी अलग से गणना नहीं होती थी....अज्ञेय सामान्यत: एक युवा उत्साही साहित्यकार और अनेक पत्रों के सम्पादक के रूप में देखे जाते थे । उन्हें तब तक छायावाद के रूमानी आग्रहों के भंजक के रूप में स्मरणीय या उल्लेखनीय मानने का प्रश्न ही नहीं था, चूंकि वे स्वयं अपनी रचना में उन आग्रहों के क्षयग्रस्त पहलुओं को उभार रहे थे । अत: 'तारसप्तक' के प्रतिनिधि कवि और सातो कवियों की सामूहिक प्रवृत्तियों को व्यक्त करने वाले संपादक के रूप में उन्हें इतिहास की दृष्टि से मान्य समझना तथ्य पर एक विशेष प्रकार का रंग चढ़ाना होगा ।"[2]

'तारसप्तक' में प्रस्तावित कवियों में अज्ञेय को छोड़कर सभी मार्क्सवादी विचारधारा से अनुप्राणित थे, लेकिन कागज़ की कमी और प्रकाशन की सुविधाओं के अभाव में ये सभी अज्ञेय के सम्पादकत्व का हिस्सा बने । संकलित कविताओं का विश्लेषण

---

[1] अज्ञेय – तारसप्तक भूमिका से

[2] रेखा अवस्थी – प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य, प्र० सं- 2012 , पृ० सं- 210

करने से ज्ञात होता है कि इनमें 'प्रयोग' का न तो अलग से कोई आग्रह था और न ही संकलित कवियों का ऐसा कोई 'वाद' या 'आन्दोलन' खड़ा करने की धारणा थी। लेकिन फिर भी 'तारसप्तक' की रचनाओं पर आलोचकों ने आरोप लगाए और इन आरोपों का कारण बताते हुए रेखा अवस्थी कहती है कि सम्पादक अज्ञेय निश्चित रूप से यथार्थवादी रचना-प्रवृत्ति के विरुद्ध रूपवादी, कलावादी, शुद्ध साहित्यिक आग्रह रखते थे तथा प्रगतिवाद के समानांतर एक विशुद्ध कलावादी-रूपवादी काव्यान्दोलन चलाने का प्रयत्न कर रहे थे। यह सब आरोप सम्पादक के वक्तव्य के कारण 'तारसप्तक' की रचनाओं पर लगाए गए हैं।[1]

इसी तरह उनके सहयोगी **नेमिचंद्र जैन** का विचार है कि, 'तारसप्तक किसी सुनिश्चित काव्यान्दोलन का अग्रदल था जिसके झंडाबरदार और नेता उसके संपादक महोदय थे।'[2] लेकिन ये आरोप-प्रत्यारोप मात्र भ्रामक धारणाएँ ही साबित हुई, क्योंकि 'तारसप्तक' की योजना में अज्ञेय को प्रकाशन की असुविधाओं के कारण, संयोगवश तथा सबकी सहमति से सम्पादक चुना गया था। साथ ही स्वयं को सम्पादक के पद के लिए चुने जाने में अज्ञेय की भी सहमति थी।

इसी कड़ी में अज्ञेय ने **'दूसरा सप्तक' (1951)** संपादित किया। जिसमें कोई उत्साही बन्धु या सहयोगी जन शामिल नहीं था। इसके कर्ता-धरता एक मात्र अज्ञेय ही थे। 'दूसरा सप्तक' में अज्ञेय ने ऐसी भूमिका लिखी जिसने परम्परा से चली आने वाली हिन्दी कविता की भूमिका ही बदल डाली। सम्पादक अज्ञेय 'दूसरा सप्तक' संपादित करते हुए यह आशा करता है कि यह नये हिन्दी काव्य को निश्चित रूप से एक कदम आगे ले जायगा और कृतित्व की दृष्टि से लगभग सूने आज के हिन्दी क्षेत्र में आशा की नयी लौं जगायेगा।[3] **अज्ञेय** ने 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में यह भी कहा है कि, "तारसप्तक का प्रकाशन जब हुआ, तब मन में यह विचार जरुर उठा था कि इसी प्रकार की पुस्तकों का एक अनुक्रम प्रकाशित किया जा सकता हैं, जिसमें क्रमशः नए आने वाले प्रतिभाशाली

---

[1] रेखा अवस्थी – प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य, प्र० सं- 2012, पृ० सं- 211

[2] नेमिचंद्र जैन – बदलते परिप्रेक्ष्य, प्र० सं 1968 , पृ० सं-155

[3] अज्ञेय – दूसरा सप्तक, भूमिका से , पृ० सं-3

कवियों की कविताएँ संगृहित की जाती रहें.... ।"[1] इसी अनुक्रम में सम्पादक अज्ञेय ने 'तीसरा सप्तक'(1959) और 'चौथा सप्तक'(1979) भी निकाला । इन सप्तकों के प्रकाशन ने आलोचकों में यह धारणा ओर सुनिश्चित कर दी कि सम्पादक महोदय सचमुच प्रयोगवाद नामक किसी नए काव्यान्दोलन के प्रवर्तक है ।[2]

'सम्पादक अज्ञेय' पर लगातार यह आरोप भी लगता रहा है कि उन्होंने 'सप्तकों' में शामिल कवियों पर अपने प्रयोगवादी विचार थोपने की कोशिश की हैं । इस आरोप की पुष्टि उनके 'दूसरे सप्तक' में शामिल कवि **शमशेर सिंह** अपने लेख में करते हुए कहते है कि, "तारसप्तक के सम्पादक के रूप में अज्ञेय ने सातों कवियों पर एक विशेष 'वाद' और समाजविरोधी कलावादी आग्रह का मुलम्मा चढ़ाने का प्रयत्न किया । सम्भवत: इसलिए आमंत्रित होने पर भी केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन और त्रिलोचन ने दो टूक शब्दों में सहयोग देने से इंकार कर दिया ।"[3]

इस तरह आरोपों के प्रतिक्रियास्वरूप 'सम्पादक अज्ञेय' लगातार अपनी भूमिकाओं एवं वक्तव्यों में यह कहते रहे कि, 'प्रयोग अपने आप में इष्ट नहीं है, वह साधन है और दोहरा साधन है । एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण क्रिया और उसके साधनों को जानने का भी साधन है ।'[4]

'तीसरा सप्तक' तक आते-आते यह प्रयोगशील कविता 'नयी कविता' के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी । जिसका आरंभिक संकेत सम्पादक दूसरे सप्तक में ही कर चुका था । इस रूपांतरण से ही आलोचकों ने नयी कविता की विशेषताओं व कमियों को खोजना शुरू कर दिया, साथ ही उसके समर्थन और आक्षेप की नारेबाज़ी बुलंद होने लगी । जिसके चलते 'सम्पादक अज्ञेय' ने अपनी सफाई में यह कहा कि 'नयी कविता के कवि को

---

[1] वही , पृ० सं- 5

[2] नेमिचंद्र जैन – बदलते परिपेक्ष्य , पृ० सं- 156

[3] आलोचना पत्रिका, जुलाई-सितम्बर 1967 ,

[4] अज्ञेय – दूसरा सप्तक, भूमिका से , पृ० सं- 5

सही आलोचक नहीं मिला इसलिए परिस्थिति की माँग यह है कि कविगण स्वयं एक दूसरे के आलोचक बनकर सामने आए ।'[1]

'सम्पादक अज्ञेय' पर यह भी आरोप लगाया गया कि दूसरे तथा तीसरे सप्तक में उन्होंने अपनी पसंद विशेष तथा समर्थक कवियों को ही शामिल किया । जिसका एक कारण यह भी हो सकता है कि उन्हीं के सहयोगियों ने तथ्यों को कुछ घुमाफिराकर या अपने स्तुति गान के लिए ही पेश किया हो । जैसे - **प्रभाकर माचवे** ने कहा है कि (दूसरा और तीसरा सप्तक) 'इन दोनों सप्तकों में मेरे पुराने विद्यार्थी नरेश मेहता, हरिनारायण व्यास आदि की रचनाएं मेरे आग्रह पर ही वात्स्यायन जी ने लीं ।'[2] आलोचकों ने सम्पादक द्वारा चयनित इन संग्रहों को सात-सात समर्थक कवियों का दल, षड्यंत्र तथा गुटबाज़ी का नाम दिया । जबकि सम्पादक ने अपने सभी सप्तकों के वक्तव्यों में तथा 'तीसरा सप्तक' की भूमिका में स्पष्ट कहा है कि, "इन सात कवियों का एकत्र होना किसी दल या गुट के संगठन के सूचक नहीं हैं ।....ये सात कवि भी विचार-साम्य या समान राजनीतिक या साहित्यिक मतवाद के कारण एकत्र नहीं हुए या किए गए ।"[3]

'तीसरा सप्तक' की भांति **'चौथा सप्तक' (1979)** भी 'एक संपादक की काव्य-दृष्टि, साहित्यिक रूचि और साहित्यिक विवेक का प्रतिफलन है ।'[4] यह लगभग बीस वर्ष बाद प्रकाशित हुआ । लंबे अंतराल में परिस्थितियाँ भी काफ़ी बदल चुकी थी । अज्ञेय ने काव्य-प्रवृत्तियों की पहचान के लिए दिए जाने वाले 'प्रगतिवादी और प्रयोगवादी' दोनों नामों को गलत ठहराया और कहा कि 'चौथा सप्तक' के प्रकाशन तक न केवल 'नयी कविता' प्रतिष्ठित और रूढ़ हो चली अपितु हिन्दी कविता ने नया नाम 'समकालीन कविता' धारण कर लिया है । साथ ही इसमें सम्पादक अज्ञेय ने 'वक्तव्य' को लेकर कुछ नियम भी निर्धारित किए हैं । अपने वक्तव्य में **सम्पादक अज्ञेय** कहते है कि, 'आज कविता पर एक दावे करने वाला 'मैं' बुरी तरह छा गया है । काव्य में बोलने वाला हर

---

[1] अज्ञेय – तीसरा सप्तक , भूमिका से , पृ० सं- 9

[2] सं विश्वनाथ प्रसाद तिवारी – अज्ञेय (लेख – सम्पादक अज्ञेय, प्रभाकर माचवे), पृ० सं- 239

[3] अज्ञेय – तीसरा सप्तक, भूमिका से, पृ० सं-12

[4] अज्ञेय – चौथा सप्तक, भूमिका से , पृ० सं- 11-12

'मैं' पर्सोना होता है, अभिनेय चरित्र होता है। जब कवि स्वयं अपनी बात भी कहता है तो वह हमें तभी स्वीकार होती है - जब वह कथ्य व वक्तव्य, प्रत्यक्ष रूप से कवि का न होकर एक पर्सोना व अभिनेय चरित्र के रूप में उसका हो।'[1]

सम्पादक के इस कथन का आशय यह समझा जाए कि कविता का 'मैं' कवि स्वयं न होकर कोई अभिनय चरित्र है या वक्तव्य में शामिल 'मैं' किसी अन्य पात्र की बोली है जिसे कवि तथा दूसरे को सौंप कर पाठक के समक्ष प्रस्तुत करने व स्वीकार कराने की अनुमति चाहता है। बहरहाल आलोचकों ने इस सप्तक में शामिल कवियों पर यह कहकर भी टिप्पणी की हैं कि इसमें चयनित सभी कवि अज्ञेय के अनुयायी ही थे।

सप्तकों की इस श्रृंखला के बीच 1945 में अज्ञेय ने इलाहाबाद से **'प्रतीक'** का सम्पादन किया। इसकी पहली संयोजना द्विमासिक थी। 'प्रतीक' के पहले अंक के सम्पादकीय में **अज्ञेय** ने लिखा था कि, "प्रतीक के पीछे जो उद्योग, जो योजना और जो आदर्श निहित है, वह पाठक की आलोचक बुद्धि को ही नहीं, संग्राहक संवेदना को भी छू सके, उसके साथ हमारा सम्बन्ध उत्पादक-वितरक और ग्राहक-भोक्ता का न होकर भावक और रसिक का हो।"[2] इसमें भारतीय ऋतुचक्र को बहुत महत्त्व दिया गया है। भारतीय साहित्य में ही नहीं, विश्व साहित्य में भी षडऋतुएं और प्रकृति-प्रेम वर्णन को चुन-चुन कर शामिल किया गया हैं। यह पत्र लगभग तीन वर्ष चला।

'प्रतीक' की उदारदृष्टि और सर्वग्राहिता की सराहना में तीन प्रमुख विशेषताओं पर ध्यान केन्द्रित करते हुए **निर्मल वर्मा** ने 'अज्ञेय की स्मृति में' लेख में लिखा है कि, 'अज्ञेय का स्वाधीनता बोध अप्रतिम और अक्षुण रहा। 'प्रतीक' की बुनियादी प्रतिबद्धता इसी 'स्वतंत्र मेधा' के प्रति रही। यही उसके वैचारिक खुलेपन और अंतर-आनुशासनिक दृष्टि के मूल में रहा। उसमें प्रकाशित सामग्री पर नजर दौड़ाते ही हमें इस खुली और उदार दृष्टि का आश्वासन मिल जाता है। 'प्रतीक' की दूसरी विशेषता थी – विचार-समर्थ भाषा-संवेदना। यदि किसी लेखक ने हिन्दी भाषा को विचारों का सबसे सशक्त माध्यम

---

[1] अज्ञेय – चौथा सप्तक , भूमिका से , पृ० सं- 12

[2] प्रतीक, प्रवेशांक से

बनाने की चेष्टा की, तो उनमें अज्ञेय अग्रणी थे । आकाशवाणी की भाषा हो, या हिन्दी पत्रकारिता में राजनीतिक शब्दावली का प्रयोग, अज्ञेय की कोशिश हमेशा यही रहती थी कि शब्दों का सही-सटीक इस्तेमाल हो सके । वे हिन्दी भाषा को पंडिताऊ बोझिलपन से छुटकारा दिलाना चाहते थे साथ ही अंग्रेजी की आक्रामक प्रभुसत्ता से भी मुक्ति । इसके लिए उन सब मोर्चों पर संघर्ष करना आवश्यक था, जहाँ सत्ताधारी शक्तियाँ भाषा को भ्रष्ट करने की प्रक्रिया में सत्य को संप्रेषित करने के साधनों को दूषित करती है । तीसरी विशेषता - अज्ञेय का संघर्ष भारतीय लेखक को जातीय विस्मृति के अंधेरे से भी मुक्त करना था ।'[1]

इसी तरह **प्रभाकर माचवे** ने भी 'सम्पादक अज्ञेय' के कार्यों तथा गुणों की चर्चा करते हुए बताया है कि, "सम्पादक के नाते वे निम्न बातों का ध्यान रखते थे, जो शायद महावीरप्रसाद द्विवेदी के बाद बहुत कम हिन्दी साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक कभी रख पाते हैं । ...ये गुण यों है - 1. प्रत्येक अंक में सामग्री की विविधता के साथ चमत्कार पैदा करना, स्तर रखना । 2. मित्रों के भी लेख या रचनाएं बे-मुरौवत लौटाना । 3. नए-नए लेखकों से लिखवाना, उन्हें प्रोत्साहित करना । 4. एक-दो कालम स्वयं लिखना, छद्म नाम से या गोपन रूप में – पर वह सर्वथा अनूठे रखना । 5. लेखानुकूल सजावट, रेखाचित्र, कवर, फोटो आदि में वैभिन्न का ध्यान रखना । 6. हिन्दी को अन्य प्रादेशिक साहित्यों और अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यों के नवीनतम प्रयोगों से अवगत रखना ।"[2]

कुछ आलोचकों ने 'प्रतीक' के सम्पादक पर दलबंदी करने का भी आरोप लगाया हैं । जबकि 'प्रतीक' के प्रवेशांक में **सम्पादक अज्ञेय** ने कहा था कि, 'प्रतीक' किसी दल का पत्र या आयोजन नहीं, देश की स्वाधीन साहित्यिक चेतना का प्रतीक है ।'[3] यही इसके नामकरण की सार्थकता है।

---

[1] सुमित, अंक 10 जुलाई 1999, (अज्ञेय की स्मृति में- निर्मल वर्मा)

[2] सं विश्वनाथ प्रसाद तिवारी – अज्ञेय (लेख – सम्पादक अज्ञेय, प्रभाकर माचवे), पृ० सं- 239

[3] अज्ञेय, प्रतीक, प्रवेशांक से

'प्रतीक' एक सहकारी योजना से आरंभ हुआ था। इस सम्बन्ध में **भारतभूषण अग्रवाल** की 'सम्पादक अज्ञेय' से हुई बातचीत के दौरान का यह एक प्रश्न उल्लेखनीय है। 'प्रश्न – इलाहाबाद में 'प्रतीक' की सहकारी तथा सहजीवन की योजना अब इतने समय के परिपेक्ष्य में कैसी लगती है? प्रयास क्या असफल रहा? वैसा प्रयास क्या आज भी उपयोगी होगा?

इस प्रश्न के उत्तर में **अज्ञेय** का कहना है कि इलाहाबाद का 'प्रतीक' का प्रयोग सफल भी हुआ और असफल भी। पूर्वग्रह, दुर्भावना या योजना को लेकर आने वालों की बात छोड़ दीजिए, असफलता का एक कारण यह भी था कि उसमें कुछ लोग ऐसे भी शामिल थे, जिन्हें उससे तुरंत पहले सहकारी जीवन के नाम पर केवल आज्ञाकारी जीवन का अनुभव हुआ था। सहकारी जीवन तभी संभव है जब उसमें भाग लेने वाले सभी लोग इतने स्वस्थ-संतुलित और स्वधीरता के अभ्यस्त हो कि नियम अथवा संयम का स्वेच्छा से वरण कर सकें।'[1]

'प्रतीक' के अंकों का आकलन कर **रमेशचन्द्र शाह** बतलाते है कि इस 'सहकारी' प्रयास के सहकारी बदलते रहे हैं। 'पहले दूसरे अंकों में स.ही.वात्स्यायन के साथ नेमिचंद्र जैन का भी नाम दिखाई देता है। बल्कि दूसरे अंक का सम्पादकीय तो नेमिचंद्र जैन का ही लिखा हुआ है – बकायदा उनके नाम से। तीसरे अंक से नेमिचंद्र जैन का नाम हट जाता है और सम्पादक मंडल में श्रीपत राय के साथ सियारामशरण गुप्त और नगेन्द्र के नाम जुड़ जाते हैं। अनंतर जब 'प्रतीक' इलाहाबाद से स्थानांतरित होकर दिल्ली से निकलने लगता है तो सम्पादक-मंडल की जगह केवल स.ही.वात्स्यायन का नाम रह जाता है, यानी अब वही सम्पादक है। और रघुवीर सहाय का नाम सहायक के रूप में जुड़ जाता है। सलाहकार के रूप में सियारामशरण गुप्त और श्रीपत राय आ जाते हैं।'[2]

---

[1] अज्ञेय – आत्मपरक , पृ० सं- 292

[2] रमेशचन्द्र शाह – पत्रकारिता के युग निर्माता स.ही.वात्स्यायन , पृ० सं- 65-66

जनवरी 1951 में 'प्रतीक' (मासिक) का दूसरा समारंभ दिल्ली से निकाला गया । इसके सम्पादकीय में **अज्ञेय** ने लिखा है कि, "एक मौलिक तत्व पर हमारा आग्रह अब भी उतना ही कट्टर है, जितना पहले कभी रहा - और वह यह कि 'प्रतीक' किसी दल का पत्र नहीं है । उसकी शक्ति ही इसी में है कि वह किसी दल का पत्र न होते हुए भी स्वाधीन-चेता साहित्यकारों के सहयोग से चलता है और चलेगा । हमारे साहित्यकार, शिल्पी, कलाकार, अपनी लंबी संस्कृति-परंपरा में मानसिक स्वातंत्र्य के इतने अभ्यस्त रहे है कि उन्हें सहसा ध्यान ही नहीं आता कि वह स्वातंत्र्य भी रक्षणीय कुछ है कि उसकी रक्षा के लिए संघर्ष करने का प्रश्न भी आ सकता है ।"[1]

इस मासिक 'प्रतीक' के कुछ अंकों के अज्ञेय के सम्पादकीय उनके निबंध संग्रहों में भी संकलित हुए हैं । इस पत्र के सम्पादकीयों में अज्ञेय कही नए लेखकों एवं सम्पादकों को राय देते हैं तो कही रेडियों पर प्रस्तुत होने वाली यंत्रचर्चा पर टिप्पणी करते हुए दिखाई देते हैं । **सम्पादक अज्ञेय** नए लेखकों से अपने लेखन की, पत्र की गुणवत्ता बनाए रखने के पक्ष में कहता है कि, 'नि:संदेह हमें अब चार करोड़ साक्षरों की ही नहीं, पूरे चालीस करोड़ की बात सोचनी है।...पर केवल अधिक छपे हुए पन्ने तैयार ही पर्याप्त नहीं है । जो छपे वह लेखक के नए डील के अनुपात में बड़ा और तगड़ा हो, यह भी लेखक को देखना है...'हमारे घर पाहुने आए' दे दाल में पानी' क्रमिक आत्मघात का मार्ग है और लेखक को केवल आत्मघात नहीं करना है, वरन् जीवन-दान भी देना है । ...बीसवीं सदी ही सही, कलियुग ही सही, मानव-आदर्श और मूल्य इतने नहीं बदल गए ।'[2]

प्रतीक के सम्पादकीयों का विश्लेषण करते हुए **रमेशचन्द्र शाह** का मानना है कि, ''प्रतीक' के सम्पादन-काल के अज्ञेय में तार्किक आत्मविश्वास जितना है, अनुभव-परिपक्वता उतनी नहीं । ...किन्तु अग्रगामी पत्रिका के संपादक के लिए विचारोत्तेजक और आलोचनात्मक होना पहली अर्हता है ; क्योंकि एक उत्तरदायी युवा पीढ़ी की रचना ऊर्जा को उसे प्रेरणा देनी है, अवकाश सुलभ कराना है । इस दृष्टि से ये सम्पादकीय चालू विचारों, अभ्यासों का बासीपन झाड़ने और सचमुच दिमाग को झंझोड़कर जगाने-

---

[1] अज्ञेय – प्रतीक (1951), सम्पादकीय से

[2] अज्ञेय – प्रतीक (मासिक –तीसरा अंक) सम्पादकीय- सामाजिक साहित्य- नई लीकें

उकसाने का काम करने वाले हैं। ....'प्रतीक' के सम्पादक के नीर-क्षीर विवेक और सूक्ष्म नैतिक मात्र ज्ञान का उदाहरण साफ़ दर्शाता है कि साहित्यिक पत्रकारिता में भी व्यापक पत्रकारिता की आचार-सहिंता के पालन का आग्रह कितना आवश्यक है और हमारे परिवेश में वह कितना विरल है। पत्रकार अज्ञेय की नीतिमत्ता निश्चय ही आज की तारीख में भी अनुकरणीय आदर्श हमारे सामने रखती है, इसे स्वीकार करने में हमें कोई हिचक नहीं होनी चाहिए।"[1]

'प्रतीक' के महत्त्वपूर्ण योगदान को बताते हुए **विद्यानिवास मिश्र** कहते है कि, "प्रतीक में अज्ञेय ने अपना सब कुछ लगाया और उसमें इतनी आर्थिक हानि सही कि उस हानि को पूरा करने के लिए उन्हें 1963 तक कठोर परिश्रम करना पड़ा। दिल्ली से निकला प्रतीक का दूसरा समारंभ 1952 तक चलता रहा और अंतिम अंक तक अपना स्तर लगातार बनाए रहा।"[2] 'प्रतीक' से जुड़े रघुवीर सहाय ने लम्बे समय तक अज्ञेय के साथ काम किया था। पत्रकारिता के दोनों आयामों में वे अज्ञेय के शिष्य, मित्र तथा उत्तराधिकारी बने रहे। **रघुवीर सहाय** अज्ञेय की सम्पादन कुशलता और प्रतीक के महत्त्व को रेखांकित करते हुए बताते है कि, 'प्रतीक बंद होने के बाद हठात् यह मालूम हुआ कि अपने को कहने का, अपने को पहचानने का बहुत बड़ा साधन छिन गया। 'प्रतीक' तो बंद हो गया, लेकिन उसने जो ऊर्जा फैलाई थी, वह नए कवियों में अपने-अपने ढंग से विकसित होती रही। अज्ञेय सिखाने और सिखाकर स्वतंत्र करने वाले अपूर्व गुरु, सहयोगी, सखा और मित्र थे। ऐसे पुरुष विरले ही होते हैं।'[3]

प्रतीक का नया और तीसरा समारंभ **दिसम्बर 1973 में 'नया प्रतीक'** नाम से हुआ। इसके सम्पादकीय 'पुनस्तत्रैव बैताल:' में अज्ञेय अपने उसी 'संकल्प' का पुन:स्मरण करते है जो उन्होंने 1947 के प्रतीक में किया था, "'प्रतीक' की पहली संयोजना में हमने कहा था कि वह आधुनिक हिन्दी के समूचे साहित्यिक कृतित्व का प्रतिनिधित्व करने का आयोजन करेगा और इस एक दायित्व को इतना बड़ा मान लेगा कि साहित्येत्तर विविध

---

[1] रमेशचन्द्र शाह – पत्रकारिता के युग निर्माता स.ही.वात्स्यायन , पृ० सं- 79-83

[2] रमेशचन्द्र शाह – पत्रकारिता के युग निर्माता स.ही.वात्स्यायन, पृ० सं- 87-88

[3] आजकल (पत्रिका), स्वर्ण जयंती अंक 1994, पृ० सं- 229

विषयों की लुभावनी सामग्री ढूंढने नहीं जाएगा । ...हम 'प्रतीक' के लिए विशुद्ध साहित्यिक विषयों से आगे बढ़कर साहित्य के भौतिक, दार्शनिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक आदि परिपाशर्वों से सम्बन्ध रखने वाली सामग्री भी प्राप्त करेंगे और इनसे तथा लौकिक जीवन से मिलने वाली प्रेरणाओं का अभिनन्दन करेंगे । ...जिस तरह आज़ादी के बाद जन्म लेने वाली एक पूरी पीढ़ी भी हो गई है जो कि आज के उत्तरदायी नागरिकों की है – और इसलिए प्रजातंत्र में हमारे शासन के आधार के लिए महत्त्व रखती है, उसी तरह 'प्रतीक' के पहले द्विमासिक रूप के बाद जन्म लेने वाले वयस्क पाठकों की भी एक नई पीढ़ी हो गई है जिस पर नए साहित्य को निर्भर करना है, जिसकी रुचियों और जरूरतों को उसे प्रतिबिम्बित भी करना है ।"[1] अज्ञेय के इस संकल्प से स्पष्ट है कि 'नए और वयस्क पाठकों की रुचियों और जरूरतों के प्रति संवेदनशीलता उनकी साहित्यिक पत्रकारिता की एक प्रमुख प्रेरणा थी । इस अंक और अगले तमाम अंकों की सामग्री का संयोजन भी इस प्रेरणा को चरितार्थ करने वाला है ।'[2]

'नया प्रतीक' के संपादक मंडल में स.ही.वात्स्यायन 'सम्पादक', विद्यानिवास मिश्र, फणीश्वरनाथ रेणु, कुंवरनारायण और रमेशचंद्र शाह 'सलाहकार' तथा इला डालमिया और नन्दकिशोर आचार्य सहायक है ।

सम्पादक 'प्रतीक' और 'नया 'प्रतीक' में कोई भेद नहीं मानता, इसलिए बार-बार वह 'नया प्रतीक' कहने की बजाए 'प्रतीक' ही कहता है । साथ ही यह आशा भी करता है कि, 'पहले भी 'प्रतीक' ने संकल्पपूर्वक यह काम किया कि छोटे-बड़े, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध, नए-पुरानों का भेद छोड़कर सभी साहित्यकारों को एक ही मंच पर प्रतिष्ठित किया – ऐसे मंच पर, जिसके आधार-स्तंभ साहित्य के दृढ़ मानदण्ड ही थे । आज भी 'प्रतीक' यही करना चाहेगा और आशा करेगा कि इसमें नए से नए लेखक का सहयोग भी उसे पूरे खुलेपन के साथ मिलेगा । पहले 'नए' लेखक बुजुर्गों की उपेक्षा से मर्माहत होते थे ; आज की नई परिस्थितियों में नए लेखक सबसे संगठन करते हैं और उसके सहारे पुरानों को

---

[1] नया प्रतीक – स.ही.वात्स्यायन, सम्पादकीय 1973

[2] रमेशचन्द्र शाह – पत्रकारिता के युग निर्माता स.ही.वात्स्यायन, पृ० सं- 91

अपनी उपेक्षा से मर्माहत करना चाहते हैं। 'प्रतीक' पाठकों के किसी वर्ग या समूह की उपेक्षा या बहिष्कार नहीं करना चाहता था, उसी तरह अब भी नहीं चाहेगा। तथाकथित लोक-रूचि का अनुकरण करने और हर किसी की पीठ (और मौका पड़ने पर तलुवे) सहलाने की रजामंदी का जो निहित आश्वासन हो सकता है, उसके लिए 'प्रतीक' तैयार नहीं है और न होगा। 'प्रतीक' व्यावसायिक पत्र नहीं होगा, लोक-रूचि का अनुचारी नहीं होगा। बल्कि इसके विपरीत वह यही सिद्ध करके दिखाना चाहेगा कि व्यवसाय या लोकरुचि के सामने आत्मसमर्पण किए बिना भी समकालीन साहित्य को समाने लाने का कार्य किया जा सकता है।'[1]

इसके अंकों में रामस्वरूप चतुर्वेदी का नई कविता और युवा कविता की तुलनात्मक आलोचना, नए लेखक बैजनाथ राय का आलोचना का सन्दर्भ : समकालीन चिंतन, नए युवत्तर कवियों के साथ-साथ भवानीप्रसाद और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की कविताएं, ओम प्रभाकर और माहेश्वर तिवारी के गीत तथा असद जैदी, अशोक अग्रवाल आदि नए-नए उभरते कवियों-कथाकारों की रचनाएं छापी गई। 'साहित्यिक पत्रकारिता करते हुए अज्ञेय ने विभिन्न ज्ञानात्मक अनुशासनों के सर्वाधिक बुद्धि-वैभवशाली प्रतिनिधियों की खोज की और न केवल खोज की, अपितु संपादक के रूप में उनका भरसक सहयोग लेते हुए उनसे बहुत कुछ ऐसा लिखवाया और छापा, जो अन्य किसी के द्वारा संभव नहीं था। अनूठे दर्शनशास्त्री जड़ावलाल मेहता और यशदेव शल्य को सर्वप्रथम हिन्दी में लिखने को उन्हीं ने प्रेरित किया। साहित्यिक पत्रकारिता में संवाद-भेंटवार्ता की खोज अज्ञेय को बराबर रही हैं। 'प्रतीक' और 'नया प्रतीक' में उन्होंने लेखकों के साक्षात्कार प्रकाशित किए जिन्हें वे 'भेंटवार्ता' कहते थे। इसके अतिरिक्त उनकी साहित्यिक पत्रकारिता में मानव जीवन और मानव समाज के लिए साहित्य एवं साहित्यकार के महत्त्व का दृढ़ विश्वास प्रेरक रहा है। अज्ञेय पत्रकार-सम्पादक के रूप में कितना परिश्रम करते थे, जो भी छापना हो, उसमें कोई त्रुटि न होने पाए, इस बारे में कितने सावधान रहते थे, इसका अंदाजा अज्ञेय और रमेशचंद्र शाह के बीच हुए इस पत्र-व्यवहार से लगाया जा सकता हैं -

---

[1] नया प्रतीक – स.ही.वात्स्यायन (सम्पादकीय से)

"प्रियवर,

आपका लेख (समकालीन रचना में स्वतंत्रता का अर्थ) मार्च अंक में दे रहा हूँ। पर संशोधन के बावजूद यह टंकित-प्रतिमुद्रित रूप बड़ी कठिनाई प्रस्तुत कर रहा है। आपके पास तो अतिरिक्त प्रतियाँ होगी। क्या एक काम तुरंत करके दे सकेंगे? उसमें जितने quotes हैं- हिन्दी/संस्कृत सभी सब एक बार शुद्ध लिख भी दें और प्रत्येक का source भी पूरा दें। या पाठ न लिखे तो source का ही पूरा विवरण दे दें तो यहीं देखकर शोध कर लूँगा। ....."[1]

किसी भी रचना के चयन या उसके संशोधन में सम्पादक अज्ञेय की ऐसी सर्तकता देखी जा सकती है। सम्पादकत्व की जिम्मेदारियों को ईमानदारी से पूरा करते हुए अज्ञेय का यह साहित्यिक पत्र 'नया प्रतीक' 1979 के अंत में बंद हो गया था।

अज्ञेय ने खड़ी बोली काव्य का प्रतिनिधि संकलन **'पुष्करिणी' (1959)** नाम से निकाला। 'जिसके तीन प्रस्तावित खंड थे लेकिन दो खंड ही प्रकाशित हो सके और इस समय दूसरा खंड ही उपलब्ध है।'[2] इस संकलन की भूमिका में **सम्पादक अज्ञेय** ने बताया है कि, ' 'पुष्करिणी' में प्रथम खंड में खड़ी बोली का आरंभिक काव्य है। प्रथम खंड में जिस प्रकार दो स्वतंत्र प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं - एक जिसमें नैतिक भावना या उपदेशात्मकता प्रधान है, दूसरी जो मुख्यतया वर्णनात्मक है - उसी प्रकार दूसरे खंड में भी प्रवृत्तियाँ समानांतर चलती हैं। एक तो राष्ट्रीय जागरण और उद्बोधन का - जो सांकृतिक चेतना का काव्य है, दूसरा वह जिसे 'छायावादी' कहा जाता है और जो गीतितत्व या अंतर्भावना का नवोत्थान है।'[3]

इसके दूसरे खंड में मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सियाराम शरण गुप्त, रामधारी सिंह 'दिनकर', जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानंदन

---

[1] रमेशचन्द्र शाह – पत्रकारिता के युग निर्माता स.ही.वात्स्यायन, पृ० सं- 103-104

[2] डॉ सुरेश चन्द्र पाण्डेय – अज्ञेय-साहित्य विमर्श (खंड-4), प्र० सं 2010, पृ० सं- 325

[3] अज्ञेय – पुष्करिणी, भूमिका से, पृ० सं- 5

पंत, महादेवी वर्मा की चयनित रचनाएं संकलित हैं। जिससे कवि के व्यक्तित्व के साथ-साथ उसके कृत्तित्व के भी सभी पहलू पाठक के सामने प्रस्तुत किए जा सके। साथ ही सम्पादक ने इन कवियों की मुख्य विशेषताएं लक्षित कर उनकी कविता में उभरने वाले बिन्दुओं पर टिप्पणी भी की हैं। उदाहरणस्वरूप - अज्ञेय मैथिलीशरण गुप्त का काव्य भारतीयता काव्य और माखनलाल चतुर्वेदी को राष्ट्रीयता का कवि, रामधारी सिंह दिनकर को मस्ती और मौज का उपासक, जयशंकर प्रसाद को सौन्दर्य-रूप माधुरी का कवि, पंत को गीति काव्य का कवि मानते हैं। साथ ही वे यह भी मूल्यांकन देते हैं कि, 'छायावादी कवियों ने भाव, भाषा, छंद और मण्डन शिल्प सभी को नया संस्कार दिया; छंद, अलंकार, रस, ताल, तुक आदि को गतानुगतिकता से उबारा, नयी प्रतीक-योजना की स्थापना की।'[1]

1960 में संपादित **'रूपाम्बरा'** सुमित्रानंदन पंत की षष्ठिपूर्ति के उपलक्ष्य पर प्रस्तुत किया गया। यह आधुनिक हिन्दी के प्रकृति काव्य का संकलन है। इसके संकलनकर्ता और सम्पादक सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' तथा सहायक सम्पादक सर्वेश्वरदयाल सक्सेना हैं। इस काव्य खंड में कुल तीन अवतरण हैं। पहला अवतरण 'विभावन' है, जिसमें अमीर खुसरो तथा नजीर अकबराबादी और भारतेंदु हरिश्चन्द्र से लेकर श्याम नारायण पाण्डेय तक 29 कवियों की 34 रचनाएं संकलित हैं। दूसरा अवतरण 'भावन' है जिसमें श्रीधर पाठक से लेकर वीरेंद्र मिश्र और राजेन्द्र प्रसाद सिंह तक कुल 42 कवियों की 74 रचनाएं संकलित हैं। तीसरा अवतरण 'अनुभावन' है, जिसमें केसरी कुमार और अज्ञेय से लेकर कीर्ति चौधरी तक कुल 40 कवियों की 69 कविताएँ संकलित हैं।

इस अवतरण की सूची में कवि नरेश कुमार मेहता का नाम सूचित है लेकिन उनकी कविताओं को मात्र इसलिए प्रकाशित नहीं किया क्योंकि कवि ने अनुमति नहीं दी थी। अज्ञेय ने अपना सम्पादकत्व कितनी ईमानदारी से निभाया है यह निर्णय इसका स्पष्ट

[1] अज्ञेय – पुष्करिणी , पृ० सं- 17

प्रमाण है । इसी ग्रन्थ के 'रूप दर्शिका' खंड में विद्यानिवास मिश्र, रघुवंश और भारतभूषण अग्रवाल के हिन्दी प्रकृति-काव्य पर समीक्षात्मक लेख दिए गए हैं।

14 नवम्बर 1949 को भारत संघ के प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू की षष्ठिपूर्ति के उपलक्ष्य पर **'नेहरू-अभिनन्दन ग्रन्थ'** भेंट किया गया । 'सच्चिदानंद वात्स्यायन' इस ग्रन्थ की सम्पादन समिति और प्रबंध समिति के एक सदस्य थे । यह ग्रन्थ अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं में संपादित हुआ है । इस ग्रन्थ में नेहरू के व्यक्तित्व और भारतीय संस्कृति और समाज पर देश के जाने-माने विद्वानों, चिंतकों, कला-विशेषज्ञों, साहित्यकारों आदि के लेख संकलित हैं। उन्होंने नेहरू के व्यक्तित्व पर कोई लेख न लिखकर कवि 'अज्ञेय' की एक कविता 'नदी के द्वीप' दी है । मात्र एक कविता के भावार्थ से नेहरू के विशाल व्यक्तित्व को समेटने की कुशलता उनके अच्छे सम्पादकत्व का ही लक्षण है । इसके अलावा **प्रभाकर माचवे** अपने लेख 'सम्पादक अज्ञेय' में बताते है कि, 'इस समय मैनें वात्स्यायन जी की अद्भुत जीवट, सहिष्णुता, कठिन परिश्रम करने की आदत, आत्म-नियमन और भाषा के विषय में साग्रह अनुशासनबद्धता का बड़ा समीप से परिचय पाया । ....नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ में इलाहाबाद के तब के एक प्रसिद्ध हिन्दी लेखक की रचना विशेष रूप से मांगकर वात्स्यायन जी ने निर्मम भाव से लौटा दी थी, चूंकि वह अच्छी नहीं थी । यह हिम्मत उनके सम्पादन का एक गुण है।'[1]

वत्सलनिधि द्वारा आयोजित लेखक शिविरों का विस्तृत विवरण, संवित्ति 1,2,3,4,5 के रूप में सच्चिदानंद वात्स्यायन ने **'वत्सलनिधि प्रकाशन माला के ग्रन्थ'** का सम्पादन किया । प्रत्येक संवित्ति में अज्ञेय का एक लेख-निबन्ध शामिल है जो उनके निबन्ध संग्रहों में भी संकलित हैं । अज्ञेय ने **'नए साहित्य-स्रष्टा ग्रन्थमाला'** में रघुवीर सहाय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, अजित कुमार तथा शान्ति मेहरोत्रा की रचनाओं का सम्पादन किया हैं। साथ ही उनकी रचनाओं का आकलन कर उनके विषय में अपनी राय व्यक्त की हैं । अज्ञेय का अंतिम संपादित ग्रन्थ 2002 में **'चुनी हुई कविताएँ'** हैं ।

---

[1] सं विश्वनाथ प्रसाद तिवारी –अज्ञेय ,(लेख- सम्पादक अज्ञेय, प्रभाकर माचवे), पृ० सं- 238

सम्पादक अज्ञेय अपनी ही चयनित कविताओं के संकलन की महत्ता को लक्षित करते हुए भूमिका में बताते है कि यह चुनाव अपने समाज की काव्य-चेतना और अपने युग के काव्य-विवेक को ध्यान में रखकर किया है।[1]

जिन ग्रन्थों का सम्पादन 'सच्चिदानंद वात्स्यायन' ने किया है वहाँ वे एक अलग व्यक्तित्व के रूप में नज़र आते हैं ना कि लेखक-रचनाकार 'अज्ञेय' की भूमिका में। साथ ही वे लेखक-रचनाकार अज्ञेय के कथन को 'अज्ञेय' के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं, बजाय 'मेरे' या 'मैनें' सम्बोधनों के। अपने समकालीन रचनाकारों की रचनाओं के सम्पादन में अज्ञेय एक नेता के रूप में आते हैं। इतने पर भी उनके सहयोगी **प्रभाकर माचवे** ने आंकलन कर यह बताया है कि, "उनके (अज्ञेय) हिमायतियों और उन्हें हिकारत से देखने वाले सभी लोगों से एक बात की प्रशंसा सदा सुनी कि अज्ञेय एक कुशल सम्पादक रहे हैं...।"[2]

5.2 सम्पादन कला : चुनौतियाँ और सन्दर्भ

अज्ञेय ने अंग्रेजी-हिन्दी **पत्र-पत्रिकाओं** का भी सम्पादन किया हैं। हिन्दी पत्रकारिता के आरंभ में भारतेंदु, बालमुकुन्द गुप्त, प्रेमचन्द, निराला आदि कई कवियों तथा कथाकारों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही हैं। इसी परम्परा में अज्ञेय ने भी अपना एक अलग स्थान बनाया, साथ ही उन्होंने हिन्दी पत्रकारिता की उन्नति के साथ-साथ साहित्यिक पत्रकारिता को भी बढ़ावा दिया। अज्ञेय के 'आत्मनेपद' से पता चलता है कि उन्हें बचपन से ही पत्रकारिता एवं सम्पादन का शौक रहा था। ऊटकमंड में रहते हुए, चित्र संग्रह करते हुए - "एक दिन सहसा पाया कि मैनें एक हस्तलिखित पत्रिका निकाल दी है– **'आनन्द-बन्धु'**। और इस पत्रिका में पहले पृष्ठ पर कविता से लेकर अंत में

---

[1] अज्ञेय – चुनी हुई कविताएँ, भूमिका, पृ० सं- 12

[2] सं विश्वनाथ प्रसाद तिवारी – अज्ञेय (लेख- सम्पादक अज्ञेय, प्रभाकर माचवे), पृ० सं- 235

सम्पादकीय के बाद चित्र-परिचय तक सबकुछ था, जैसा कि उससे पहले के वर्षों की 'सरस्वती' में हुआ करता था, स्वर्गीय महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादकत्व में ।"[1]

इस आरंभिक उपक्रम के बाद अज्ञेय की पत्रकारिता कैसी रही? किस ओर रुख लेती गई? इस विषय में सम्पूर्ण विवरण नहीं मिलते, क्योंकि 'सम्पादक अज्ञेय' पर विचार-विमर्श करने वालों ने अपने विचारों का कोई लिखित नमूना ही नहीं दिया था । यथास्थान उनके सम्पादन-कर्म पर की गई टिप्पणियों एवं बहसों से ज्ञात होता है कि अज्ञेय जब अंग्रेजी सेना में कार्यरत थे, तब असम के मोर्चे पर विश्वयुद्ध के समय उन्होंने एक पत्र असमिया-रोमन में निकाला था । अज्ञेय ने अपने क्रांतिकारी-जीवन की अंतिम सज़ा 1933-34 में लाहौर में काटी थी । ऐसा माना जाता है कि इसके बाद से ही अज्ञेय ने पत्रकारिता के क्षेत्र में बकायदा पर्दापण किया था । 1936 में अज्ञेय **'सैनिक'** (साप्ताहिक) पत्र के सम्पादक बनकर आगरा आए । इस पत्र में वे मात्र एक वर्ष ही कार्यरत रहे । 'सैनिक' के अंकों की उपलभ्यता आसान नहीं ; न ही उपलभ्य अंको में अज्ञेय के सम्पादकत्व के चिन्ह खोज पाना । इस पत्र की जानकारी के विषय में उनके सहयोगी **प्रभाकर माचवे** का कथन उल्लेखनीय है, 'सबसे पहले मेरा साक्षात्कार अज्ञेय जी से 1936-37 में आगरा में हुआ । बनारसीदास चतुर्वेदी तब उनके बहुत प्रशंसक थे । वे ही कृष्णदत्त पालीवाल से कहकर 'सैनिक' में उन्हें संपादक के रूप में लाए । 'सैनिक' में ही मेरठ के किसान सम्मेलन और हिन्दी साहित्य परिषद् के समारोहों के व्यंग्यमय विवरण मैनें और उन्होंने मिलकर लिखे थे। 'सैनिक' में वात्स्यायन जी कई नामों से लिखते थे । राजनैतिक पत्रकारिता भी करते और कहानियाँ भी लिखते । तब की फ़ाइल 'सैनिक' की कही प्राप्त हो तो बहुत मनोरंजक सामग्री मिल सकेगी ।'[2]

1937 के अंत में सम्पादक बनारसीदास चतुर्वेदी के आग्रह से अज्ञेय **'विशाल भारत'** में उनके सहायक बनकर आए । लगभग दो-ढाई साल तक अज्ञेय अकेले ही 'विशाल भारत' देखते रहे । 'इस पत्र में लगातार चौदह किस्तों में 'फ्रायडवाद और एम.एन राय का मानवतावाद' पर एक धारावाहिक लेखमाला प्रकाशित की, जिसमें अज्ञेय ने

---

[1] अज्ञेय – आत्मनेपद , पृ० सं- 15

[2] सं विश्वनाथ प्रसाद तिवारी – अज्ञेय (लेख- सम्पादक अज्ञेय, प्रभाकर माचवे), पृ० सं- 236

'प्रगतिशील लेखक संघ' को संकीर्ण तथा साम्यवादी दल का दुमछल्ला बताया और उसे 'साम्यवादी साहित्य संघ' की संज्ञा प्रदान की। साथ ही साथ 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्पर्धा में 'भारतीय पुनरुज्जीवन संघ' स्थापित करने की असफल कोशिशें की।'[1] 'विशाल भारत' में अज्ञेय विविध विषयों पर लिखते थे, साथ ही सम्पादकीय में राजनीतिक नोट भी लिखते थे। विदेशी राजनीति की उन्हें विशद जानकारी थी। अज्ञेय के सम्पादकत्व की प्रशंसा करते हुए **प्रभाकर माचवे** कहते है कि, " 'विशाल भारत' में जनवरी 1939 में 'देहाती मेले में' और 'अर्थशास्त्र' मेरी दो इम्प्रेशनिस्ट कविताएँ', अज्ञेय जी ने छापी – तब से मैं उनके सम्पादन का कायल हो गया।"[2]

'विशाल भारत' का सम्पादन करते समय अज्ञेय ने कैसी मुसीबतें उठाई उनका जिक्र **पद्मा सचदेव** द्वारा लिए गए साक्षात्कार में मिलता है। जिनमें प्रत्येक व्यक्ति का पत्र खोलकर पढ़ लेने तथा अपने अनुसार उसका उत्तर देने वाले सहायक संपादक कमलाकांत वर्मा की कारगुजारियां बतलाते हुए **अज्ञेय** कहते है कि, "वह 1939 का समय था। कमलाकांत जी का दूसरों के पत्र पढ़ने का चस्का काफी आगे बढ़ चुका था। वे तो संपादक श्री राम शर्मा तक की डाक पढ़कर उसका उचित-अनुचित उत्तर देने से न चूकते थे। हमारी क्या बिसात थी। हमारे पिताजी के पत्र वे न केवल पढ़ते ही थे, अपितु कई बार उनके उत्तर भी खुद ही दे देते थे। हमने कहा तो कोई सुनवाई न हुई। उन्हीं दिनों बनारसीदास चतुर्वेदी की चिट्ठी आई कि उनकी चिट्ठियों का गोलमाल हो रहा है। हमने कहा, जब तक हमारी चिट्ठियां कमलाकांत जी पढ़ते रहे, कुछ नहीं हुआ। अब तो वे दूर-दूर तक हाथ साफ़ करने लगे हैं। लिहाज़ा कमलाकांत जी को हटा दिया गया। फिर धीरे-धीरे यह पत्र भी बंद हो गया।"[3]

अज्ञेय ने प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त' के साथ मिलकर पटना से एक मासिक पत्रिका **'आरती'** भी निकाली। इसके बाद दिल्ली रेडियो के हिन्दी समाचार विभाग में गए। उन दिनों की परिस्थितियों का परिचय देते हुए अज्ञेय बतलाते हैं कि, "उन दिनों हिन्दी का

---

[1] डॉ० भरत सिंह - कवि कहानीकार अज्ञेय और मुक्तिबोध : संवेदना और दृष्टि, प्र० सं- 1998, पृ० सं-200-201

[2] सं विश्वनाथ प्रसाद तिवारी – अज्ञेय (लेख- सम्पादक अज्ञेय, प्रभाकर माचवे), पृ० सं- 236

[3] धर्मयुग (पत्रिका), 10 अप्रैल 1988, पद्मा सचदेव – लौटोगे नहीं यायावर?

काफी विरोध था। बुखारी का जमाना था । उर्दू ही उर्दू चलती थी । ब्राडकास्टिंग में कृश्नचन्दर, नून मीम राशिद, मंटो आदि थे । कोशिश यही रहती थी कि रेडियो की भाषा आम बोली जाने वाली भाषा हो । रेडियो छोड़कर फिर 1943 में आर्मी में चला गया ।"[1] इनके अलावा अज्ञेय ने **'थाट',** तथा 1955 में त्रैमासिक अंग्रेजी पत्रिका **'वाक्'** का सम्पादन किया । **1973 -74** में जयप्रकाश नारायण के अनुरोध पर **'एवरीमैंस'** वीकली पत्रिका का सम्पादन किया ।

5.2.1 दिनमान और अज्ञेय

21 फरवरी, 1965 में साप्ताहिक पत्र **'दिनमान'** निकला । इसके मुख्य पृष्ठ पर पाठकों के लिए एक सूत्रवाक्य अंकित था - **'राष्ट्र की भाषा में राष्ट्र का आह्वान'** । इस पत्र के सम्पादन का कार्यभार संभालने के लिए बेनेट कोलमैन कंपनी की ओर से रमेश जैन ने अज्ञेय के समक्ष यह प्रस्ताव रखा । जिसके लिए सम्पादक अज्ञेय ने प्रबन्धक के सामने दो प्रमुख शर्तें रखी थी । पहली, सम्पादकीय विभाग के लिए सहकर्मियों का चयन वे स्वयं करेंगे तथा दूसरी, प्रबंधन की ओर से सम्पादन कार्य में कभी कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा । साथ ही वे प्रबन्धक को यह भरोसा भी दिलाते है कि जब तक 'दिनमान' स्थापित नहीं हो जाएगा, मैं कही नहीं जाऊँगा ।[2]

अज्ञेय हिन्दी में 'टाइम' और 'न्यूजवीक' जैसी सुसज्जित पत्रिका निकाल रहे है, जिससे हिन्दी का बौद्धिक जगत इस पत्र को लेकर काफी उत्साहित और उत्तेजित था । इसके प्रकाशन के लिए कई प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने शुभकामनाएं भेजी थी, जो आगे आने वाले अंकों में भी लगातार मिलती हैं । अज्ञेय के गुरु राष्ट्रकवि **मैथिलीशरण गुप्त** ने कहा कि 'दिनमान' सही दिशा में हमारे लिए कल्याणकारी हो, यही कामना है । वही सूचना एवं प्रसार मंत्री **इंदिरा गांधी** ने कहा – वात्स्यायन जी हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध और

---

[1] रमेशचन्द्र शाह – पत्रकारिता के युग निर्माता स.ही.वात्स्यायन, पृ० सं- 30

[2] धर्मयुग, 10 अप्रैल, 1988 (अज्ञेय का कथन है- "जब दिनमान का काम शुरू किया था तो मालिकों ने कहा था कि आप टिककर तो रहते नहीं, पत्र का क्या होगा? मैनें कहा था जब तक 'दिनमान' स्थापित नहीं हो जाएगा, मैं कहीं नहीं जाऊँगा। जितनी ग्राहक संख्या उन्होंने बनाने को कहा था, जब उससे भी दस हज़ार अधिक हो गई तो मैनें कहा, अब अगर छोड़ना चाहूँ तो चौंकना नहीं चाहिए। मैं साल भर की छुट्टी पर गया तो रघुवीर सहाय पत्र देखने लगे। वे मुख्य सहायक सम्पादक थे। मैं पूरी तरह संतुष्ट तो न था, पर फिर भी ठीक था।")

प्रतिष्ठित रचनाकार है । मुझे आशा है कि उनके निर्देशन में यह पत्रिका भारतीय पत्रकारिता के क्षेत्र में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त करेगी । इसी तरह उस समय के शिक्षा मंत्री **मोहम्मद करीम छागला** की कामना थी - अज्ञेय का नाम साहित्य में सुरुचि, शालीनता, नवीनता और प्रौढ़ि का वाचक समझा जाता है । मुझे पूरा विश्वास है कि उनके सम्पादकत्व में निकलने वाला 'दिनमान' दिनमान के ही समान प्रतापी और जाज्वल्यमान होगा ।' आगे आने वाले अंकों में 'चिट्ठी-पत्री' में उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री **सुचेता कृपलानी** का संदेश है कि - ....श्री वात्स्यायन हिन्दी साहित्य में नई चेतना के अग्रदूत रहे हैं। 'दिनमान' हिन्दी पत्रकारिता में एक स्थायी मानदंड बने और जनतांत्रिक समाज तथा राष्ट्रीय एकता के पथ को आलोकित रखे - यही मेरा आशीर्वाद है। इसी तरह एक सांसद **हेम बरुआ** की चिट्ठी – आपके साहित्य के साथ आपकी दृष्टि और दूरदर्शिता का भी कायल रहा हूँ। मुझे पक्का विश्वास है कि 'दिनमान' एक संगठित भारत का परिपेक्ष्य प्रस्तुत करेगा, जिसका या तो अस्तित्व ही नहीं या फिर जिसका विकृत रूप ही देखने में आता है ।[1]

सम्पादक स.ही.वात्स्यायन 'दिनमान' की साज-सज्जा को लेकर बेहद सर्तक रहते थे । पहले अंक की साज-सज्जा, विशेषतया आवरण पृष्ठ उन्हें अच्छा नहीं लगा, जिससे उन्होंने उन प्रतियों को बुक स्टॉल पर भेजने से रोक दिया था । यह उपक्रम आगे आने वाले अंकों के साथ भी हुआ। जिस पर प्रबन्धक ने भी अपना कोई विरोध नहीं जताया । दूसरे अंक में एक पाठक की **'दिनमान' के नामकरण** को लेकर शंका और जिज्ञासा छापी गई - ''दिनमान' नाम तो किसी दैनिक पत्र का ही हो सकता है । साप्ताहिक के लिए यह नाम कैसे सार्थक है? इस नाम के अंतर्गत दिन भर का लेखा-जोखा ही प्रस्तुत हो सकता है, सप्ताह भर का नहीं ।' इस शंका के समक्ष **सम्पादक सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन का उत्तर था – 'दिनमान' अर्थात् सूर्य, दिन, सप्ताह, मास, वर्ष सभी की माप प्रस्तुत करता है, इसलिए वह युग-मान भी है ।'**

---

[1] रमेशचन्द्र शाह – पत्रकारिता के युग निर्माता स.ही.वात्स्यायन, पृ० सं- 35-38

इस नामकरण के सन्दर्भ में **रमेशचन्द्र शाह** का मानना है कि वैसे कुमाऊँनी बोली में 'दिनमान' शब्द 'दिन भर' के अर्थ में प्रयुक्त होता है और मुझे कुछ ऐसा याद पड़ता है कि किसी ने इस नाम का सम्बन्ध मनोहर श्याम जोशी की सूझ या सुझाव से भी जोड़ा था ।'[1] इसी विषय में एक अन्य विचारक **अच्युतानंद मिश्र** का मानना है कि, "नामकरण से लेकर दिनमान के कलेवर, सामग्री चयन, पाठक वर्ग और उनकी भागीदारी पर अज्ञेय ने गंभीर विमर्श किया था ।...साप्ताहिक 'दिनमान' (सूर्य) का सम्पूर्ण सौरमंडल ही नहीं उससे भी आगे सम्पूर्ण ब्रह्मांड था । उसमें हर सप्ताह ज्ञान-विज्ञान, देश-विदेश, इतिहास, अनुसंधान, भाषा, खेल साहित्य से लेकर राष्ट्रीय अस्मिता और मानवता की गरिमा तक सब कुछ धड़कता था ।"[2]

'दिनमान' के नामकरण के इसी स्वर को आगे बढ़ाते हुए एक आलोचक **आलोक पाण्डेय** का कहना है कि, "जहाँ तक दिनमान की बात है तो साहित्यकारों, पत्रकारों और पाठकों की एक पूरी की पूरी पीढ़ी ही मौजूद है इस बात की गवाही देने के लिए कि दिनमान का अर्थ सिर्फ सूर्य नहीं था, व्यंजना की धरातल पर पूरी गरिमा और भव्यता के साथ वह अपने युग का मान भी था । उसने हिन्दी पत्रकारिता को जो क्षेत्राधिकार मान दिया वह आज भी प्रतिमान है ।"[3] इसमें कोई दोहराय नहीं है कि 'दिनमान' अज्ञेय का ही दिया हुआ नाम है, जो अपने समाज की नब्ज़ पकड़ने की ताकत रखता था ।

इस पत्र के अंकों में 'चिट्ठी-पत्री', 'पत्रकार-संसद', 'राष्ट्रीय समाचार', 'राज्यों के समाचार', 'राजनैतिक दल', 'विश्व के समाचार', 'उद्योग और व्यापार', 'खाद्य और कृषि, 'विज्ञान', 'आधुनिक जीवन', 'रंगमंच', 'कला', 'धर्म-दर्शन', 'साहित्य' तथा 'खेल और खिलाड़ी', 'चरित-चर्चा', 'नारी-जगत', 'यात्रा-साहित्य' आदि प्रमुख स्तंभ रहे हैं ।

'दिनमान' को अंग्रेजी पत्रों का उपक्रम कहकर **लोहिया ने एक व्यंग्यात्मक टिप्पणी भी की थी,** "सुना, मालिकों ने 'अमेरिकी टाइम' के नमूने पर 'दिनमान' निकालने की

---

[1] रमेशचन्द्र शाह – पत्रकारिता के युग निर्माता स.ही.वात्स्यायन, पृ० सं- 36

[2] www.Hindisamay.co.in (अच्युतानंद मिश्र – अज्ञेय और हिन्दी पत्रकारिता)

[3] इन्द्रप्रस्थ भारती, सितम्बर 2011 जुलाई त्रैमासिक, अज्ञेय विशेषांक (लेख-विरल पक्ष, आलोक पाण्डेय), पृ० सं- 60

सोची है। .....एक ओर पुराने हिन्दुस्तान की नासमझ पूजा करने वाले पीछे देखू लोग हैं तो दूसरी ओर अमेरिकी या रूसी या पश्चिम योरोपीय नकल पर चलने वाले लोग। तीसरी ओर 'नकली एशियाई रुख अपनाने वालों' से भी लोहिया को वितृष्णा है। क्या खाक लिखेंगे वे विदेशी मामलों पर। .....देखें, आप कैसे इस दुहरी-तिहरी समस्या से निबटते हैं। निबटने का माद्दा भी आप में है कि नहीं?" इस टिप्पणी को सम्पादक स.ही.वात्स्यायन ने 27, फरवरी 1965 के अंक में अपने प्रत्युत्तर के साथ छापा ; **सम्पादक वात्स्यायन** का कथन है कि, "'दिनमान' के लिए अमरीकी 'टाइम' नमूना नहीं है। हाँ, समाचार संग्रह के लिए जितना बड़ा संगठन 'दिनमान' कर सकेगा, करेगा। विदेशी मामलों पर लिखनेवाले हिन्दुस्तानियों की 'रुख' के अलावा एक कमी यह भी रहती है कि उनके सोचने पर अंग्रेजी की छाप बहुत गहरी रहती है, वे भारतीय भाषाओँ में नहीं सोचते, अनुवाद में सोचते है – चाहे वे अंग्रेजी-विरोधी ही क्यों न हों। 'दिनमान' ऐसी भाषा में ऐसे चिंतन का प्रयत्न करेगा कि उसमें न तो 'हिन्दुस्तान की नासमझ की पूजा' दिखेगी और न हिन्दुस्तान की किसी भी भाषा का कम-समझ मलीदा।"[1]

इसी तरह एक अंक में **सुरेन्द्र चौधरी** इत्यादि चार वामपंथियों के हस्ताक्षर से एक क्रुद्ध पत्र भी छपा है, जो कहता है – 'डांगे के शिविर में रणदिवे' शीर्षक आपकी समाचार टिप्पणी में 'जनयुग' में प्रकाशित नामवर सिंह के लेख के बारे में दी गई सूचना भ्रामक है। यह भी कि **'आक्षेपों की भाषा आवश्यकता से अधिक गिरी हुई और संस्कारहीन है। हम 'दिनमान' की इस पैगंबरी नीति का विरोध करते हैं।'**

इन विरोधों से सम्पादक वात्स्यायन तनिक विचलित नहीं होते। बल्कि, ऐसी टिप्पणियों पर अपना सटीक प्रत्युत्तर देते हैं। **सम्पादक ने इसका प्रत्युत्तर दो भागों में दिया है** - एक तो प्रत्यारोपी प्रश्न और दूसरा अपने 'स्टैंड' के सही होने के दृढ़ विश्वास पर आधारित संकल्प है - '(क) कितनी संस्कारहीनता आपकी नज़र में आवश्यक है? (ख) विचारों

[1] दिनमान 27, फरवरी 1965

की टकराहट के लिए गुंजाइश आप रखते हैं तो उतना यथेष्ट है – राजनीतिक स्थितियों के विवेचन में 'दिनमान' मतैक्य नहीं चाहता। पर इसके लिए यत्नशील रहेगा कि इतिहास को सही सिद्ध करे।'[1]

इसी तरह 'दिनमान' के सम्पादकीयों में पत्रकार अज्ञेय की बेबाक़ टिप्पणियाँ यथास्थान देखी जा सकती हैं। एक सम्पादकीय 'हिन्दी की राह के रोड़े', जिसमें प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी पर भी टिप्पणी करने से नहीं चूकते। **पत्रकार अज्ञेय** कहते है कि, "अच्छा नेता कम बोलता है, लोकतंत्र भारत के अधिकतर नेता अधिक बोलते हैं। इसलिए नेताओं की अधिकतर बातें अब अनसुनी कर देने लायक हो गई हैं। लेकिन बीच-बीच में कोई बात ऐसी भी कह दी जाती है, जिससे एकाएक कई खतरनाक संभावनाएं उधड़कर समाने आ जाती हैं। खतरनाक इसलिए कि जिस मनोवृत्ति या पूर्वग्रह का परिचय वह बात देती है, वह मनोवृत्ति दूषित है। प्रधानमंत्री जब ग़ालिब और कृशनचन्दर के काम की तुलना करती है, तब उनकी बात हँस के उड़ा दी जाती है, क्योंकि वह केवल समकालीन साहित्य के बारे में एक राजनेता का अज्ञान ही सूचित करती है और ऐसे लोगों के इस अज्ञान के हम अभ्यस्त हो गए हैं।"[2]

स्पष्ट है ऐसी कटु आलोचना अपने समय के राजनेता की कोई पत्रकार करने का साहस आज भी नहीं करेगा। यह **पत्रकार अज्ञेय** की निर्भीकता ही है, जो सत्य कहने के लिए प्रेरित करती हैं।

'दिनमान' की **भाषा** को लेकर भी टिप्पणियाँ की गई, अपनी एक भूल के सुधार स्वरूप एक पाठक आत्म-स्वीकार करता है, "मेरी गलत धारणा थी कि दैनिक या साप्ताहिक पत्र में उर्दू-मिश्रित, सरल भाषा होनी चाहिए, किन्तु आपकी यह पत्रिका पढ़कर जरूर मुझे अपना विचार बदलने को बाध्य होना पड़ा। बिना वजह भाषा के

---

[1] रमेशचन्द्र शाह – पत्रकारिता के युग निर्माता स.ही.वात्स्यायन, पृ० सं- 39-40

[2] रमेशचन्द्र शाह – पत्रकारिता के युग निर्माता स.ही.वात्स्यायन, पृ० सं- 48-49

सरलीकरण का बहाना बनाकर अनावश्यक उर्दू शब्दों को घुसेड़ना राष्ट्रभाषा के लिए अहितकर है। 'दिनमान' की भाषा मुझे अत्यधिक पसंद आई।"[1]

अज्ञेय की समूची पत्रकारिता को लेकर उनके सहयोगी **श्री त्रिलोक दीप** ने अज्ञेय से साक्षात्कार में उनकी पत्रकारिता की भाषा पर प्रश्न किया। जिसके जवाब में **पत्रकार अज्ञेय** ने कहा था, 'दिनमान' में मैनें भाषा को ओर अधिक ध्यान दिया था। मैनें अपने सहयोगियों के मन में यह बात बैठा दी थी कि 'दिनमान' में हम जो कुछ लिखेंगे, भले ही उसकी सामग्री कहीं से अनुवाद करके ही पाई हो, उसके इसी रूप में प्रस्तुत करेंगे जैसे कि वह मूल हिन्दी में ही लिखा गया है। अनुवाद की भाषा हम नहीं चाहते थे, हम मौलिक पत्रकारिता की भाषा चाहते थे।'[2] अज्ञेय जानते थे कि हिन्दी की प्रतिष्ठा की बुनियाद हिन्दी की प्रेषणीयता और उसकी आंतरिक शक्ति में हैं। इसी विश्वास पर उन्होंने अपनी समूची संगठन शक्ति 'दिनमान' के विकास पर लगाई। कुछ महीनों के भीतर ही 'दिनमान' हिन्दी का नहीं, भारत का अन्यतम साप्ताहिक पत्र बन गया था। इसकी प्रशंसा करते हुए कुछ विदेशी पत्रकारों ने कहा कि, 'जिस भाषा में दिनमान जैसा साप्ताहिक पत्र निकले उसे क्षमाप्रार्थी होने की आवश्यकता नहीं। 'दिनमान' ने न केवल फैलते हुए विश्व की जानकारी सुलभ करायी – सुरुचि का भी परिमार्जन किया।'[3]

इस पत्र के स्तम्भों में 'राजनैतिक दल' स्तंभ बहुत लोकप्रिय हुआ था, क्योंकि यह प्रतिष्ठित राजनेताओं से सीधे बातचीत करवाने का जरिया बनाया गया। 'साहित्य' के साथ-साथ 'साहित्यालोचना' को भी महत्त्व दिया गया। मुक्तिबोध की पुस्तक 'नई कविता का आत्मसंघर्ष' पर समीक्षा के साथ-साथ पुस्तक का मूल पाठ भी उद्धृत किया गया है। 'दिनमान' का वह अंक काफी चर्चित रहा था, जिसमें 1966 में बिहार में पड़े सूखे की रिपोर्ट छपी थी। 'सूखे की रपट' शीर्षक से छपी इस रिपोर्ट को मार्मिक ढंग से लिखवाने में सम्पादक ने कथाकार फनीश्वरनाथ रेणु का सहयोग लिया। यह सहयोग

---

[1] दिनमान, 3 सितम्बर 1965

[2] साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 18 मार्च 1981 (अज्ञेय से भेंटवार्ता, त्रिलोक दीप)

[3] विद्यानिवास मिश्र – अज्ञेय : वन का छंद, पृ० सं- 30

'पत्रकारिता के इतिहास में न केवल अभूतपूर्व, अपितु अभूतपश्चात ही कहा जाएगा । इस सचित्र विवरण ने व्यापक प्रभाव उत्पन्न किया था । अनेक अखबारों ने उससे प्रेरित होकर उसी का अनुकरण करते हुए उस विभीषिका को उजागर किया था ।'[1] इनके अलावा मथुरा का बलात्कार, गांधी मूर्तियों की दुर्दशा, किसानों की बर्बादी, भूख और गरीबी और पिछड़ेपन के छोर पर खड़ा कबीर का 'पूरब' था, जो बुरा था उसे अच्छा बनाने की चिंता थी और जो अच्छा था उसे और अच्छा बनाने की जद्दोजहद, संग्रहालयों की आवश्यकता और संरक्षा के तर्क थे, तो अंतर्राष्ट्रीय फिल्म महोत्सवों की रपटें थी । यह पहली गंभीर राजनीतिक समाचार पत्रिका थी, जिसने हिन्दी में सिनेमा की गम्भीरता को समझा और समझाने की कोशिश की ।[2]

इसके अलावा 'दिनमान' में 'साहित्य स्तम्भ' ने भी स्थान बनाया, जिसमें महत्त्वपूर्ण पुस्तकों, साहित्य-गोष्ठियों की समीक्षा दी जाती थी । इस सन्दर्भ में **कृष्णदत्त पालीवाल** ने बतलाया है कि, "आज हिन्दी में पुस्तक समीक्षा की जो दुर्गति है, उसे देखकर 'दिनमान' याद आता है कि कैसे विषय के जानकारों से पुस्तक समीक्षा को स्तरीय बनाया गया था । अज्ञेय जी को यह ज्ञान था कि कैसे समय-समाज की आलोचना दृष्टि अच्छी पुस्तक समीक्षाओं के भीतर से ही निकलती हैं ।"[3]

अपने इस पत्र को लेकर स्वयं सम्पादक की क्या धारणा है यह जानना भी आवश्यक है । **त्रिलोक दीप** द्वारा लिए गए एक साक्षात्कार में अज्ञेय से प्रश्न पूछा गया कि, **"आप तो 'दिनमान' के जनक हैं । तब से लेकर अभी तक की पत्रकारिता के बारे में आपके क्या विचार हैं?**

इसका उत्तर देते हुए **सम्पादक अज्ञेय** कहते है कि, "जब मैंने आरंभ किया तब एक तो यह बात थी कि ऐसा कोई पत्र हिन्दी में क्या, किसी भी भारतीय भाषा में था ही नहीं । उस परिस्थिति में जो काम किया, उसकी ओर लोगों का ध्यान ज्यादा आकृष्ट हो यह तो

---

[1] रमेशचन्द्र शाह – पत्रकारिता के युग निर्माता स.ही.वात्स्यायन, पृ० सं- 49

[2] इन्द्रप्रस्थ भारती, जुलाई-सितम्बर 2011 (अज्ञेय विशेषांक)- लेख – विरल पक्ष, आलोक पाण्डेय, पृ० सं- 60

[3] कृष्णदत्त पालीवाल – अज्ञेय होने का अर्थ, पृ० सं- 190

स्वाभाविक था। फिर मैं तो आरंभ से ही पेशेवर पत्रकार नहीं था। साहित्य से इस क्षेत्र में आया था, इसलिए शायद मैंने भाषा की ओर अधिक ध्यान दिया था - मुझे लगता है कि बाद में उसके प्रति उदासीनता बढ़ती गई। ....न तो उसके अपने संवाददाता थे, न वह किसी संवाद एजेंसी का ग्राहक था। उस संगठन के पास अंग्रेजी पत्रों के लिए अंग्रेजी एजेंसियों के संवाद आते ही थे। यानी एक तरह से अंग्रेजी अखबार का पिछलग्गू बनके यह पत्र चल सके, ऐसी ही कल्पना व्यवस्थापकों ने की थी।"[1]

अज्ञेय साहित्यकार पहले थे, पत्रकार बाद में। इतने पर भी उन्होंने पत्रकार के रूप में 'दिनमान' को एक शुद्ध साप्ताहिक पत्र के रूप में सामने रखा। साहित्यकार और आलोचक **रोहिताश्व** अज्ञेय के 'दिनमान' एवं पत्रकार-कर्म को लेकर कहते है कि, 'अज्ञेय बीसवीं सदी के एक ऐसे अलक्षित पत्रकार थे जिन्होंने पत्रकारिता में साहित्य, संस्कृति और राजनीति तीनों का प्रिज्म तैयार करने का यत्न किया और इस प्रयोग में वे सफल रहे और तभी उनसे पत्रकारिता के गुर सीख चुके आलोक मेहता ने मुझसे गोवा में कहा था कि मैंने अज्ञेय से पत्रकारिता का प्रशिक्षण प्राप्त किया है। यह अज्ञेय की ही शख्सियत थी जिसने सभी विचारधाराओं और सभी धुरों के लेखक-पत्रकारों को न सिर्फ़ एक मंच पर एक साथ खड़ा करवाया, वरन् उनसे 'दिनमान' में लिखवाया भी। उन्होंने लोहियावादी, प्रगतिशीलवादी, जनवादी और कट्टर वामपंथी लेखकों को इकठ्ठे 'दिनमान' से जोड़ा। उनका यह प्रयोग कामयाब भी रहा और चर्चित भी तथा अपरिमेय भी।'[2]

बड़े-बड़े आलोचक एवं पत्रकार जिन्होंने कभी अज्ञेय के साथ काम भी नहीं किया, वे भी अज्ञेय के इस रूप के कायल हैं। एक साक्षात्कार में **राजेन्द्र यादव** से पूछा गया कि, 'ऐसा कोई पत्रकार जिसने आपको सर्वाधिक प्रभावित किया हो? इस प्रश्न के उत्तर में **राजेन्द्र यादव** ने तपाक से कहा – वात्स्यायन अज्ञेय। अज्ञेय पत्रकार के रूप में मुझे सबसे ज्यादा प्रभावित करते है या कहूँ तो मैं उनका भक्त हूँ।'[3]

---

[1] साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 18 मार्च 1981 (अज्ञेय से भेंटवार्ता, त्रिलोक दीप)

[2] डॉ अमरीश सिन्हा – अज्ञेय : एक अलक्षित पत्रकार, (अज्ञेय की पत्रकारिता और पश्च पत्रकारिता), पृ० सं- 191

[3] समयांतर, मार्च 2011, अनूप कुमार तिवारी और सत्यप्रकाश सिंह से बातचीत में, पृ० सं- 29

'दिनमान' के सहयोगी **रघुवीर सहाय** अज्ञेयोत्तर 'दिनमान' तथा अज्ञेयकालीन 'दिनमान' के अंतर्निहित विकास-क्रम को समेटते हुए बताते है कि, "1969 से 1982 तक, यानी जब मुझे पुराने साथियों से अलग होकर त्यागपत्र देने को बाध्य होना पड़ा, उत्साहवर्धक सफलताओं, पत्रकारिता के नए अव्यावसायिक रचनात्मक प्रयोगों और आकस्मिक तनावों के साथ निरंतर सहकारिता का दौर रहा जिसके लिए सहयोगी 'नवभारत टाइम्स' ने लिखा है – 'न केवल गैर-पेशेवर राजनीतिक मत को 'दिनमान' में स्थान मिला, बल्कि इसने पाठकों को पत्रकार की तरह चौकन्ना और परिपक्व बनाया। कई लोग 'दिनमान' से शिक्षित होकर पत्रकार बने।' इस समय वे साथी कहाँ-कहाँ क्या काम कर रहे हैं, इसका ब्यौरा नहीं है। पर वे जहाँ भी हों, हिन्दी पत्रकारिता में साहित्य की ऊर्जा को सम्पूजित करना नई पीढ़ी के लिए संभव बनाने वाले वात्स्यायन जी का नाम नहीं भूलेगें।"[1]

पत्र-पत्रिकाओ के सम्पादन में अज्ञेय ने कई चुनौतियों का सामना किया, लेकिन यह उनकी सम्पादन नीति ही थी जिससे उन्होंने कभी समझौता नहीं किया। उनके अपने निश्चित मानदंड थे जिन पर वे कार्य करते थे। उन्होंने सम्पादकों और पत्रकारों को भी मानदंडों पर चलने के लिए प्रेरित किया। नीतिविहीन कार्यों को ही उन्होंने पत्रकारों एवं सम्पादकों की घटती प्रतिष्ठा का कारण बताया।

5.2.2 अज्ञेय और नवभारत टाइम्स

दिनमान के बाद अज्ञेय ने अगस्त 1977 में दैनिक **'नवभारत टाइम्स'** का सम्पादन-कार्य संभाला। इस विषय में **अच्युतानंद मिश्र** ने लिखा है कि, 'दिनमान की लोकप्रियता और अज्ञेय की प्रतिष्ठा का लाभ टाइम्स ग्रुप को भी अवश्य मिला था। इसी तरह इमरजेंसी के दौरान जब सरकार समर्थन के कारण 'नवभारत टाइम्स' अलोकप्रिय हो गया था तो बड़ी खुशामद करके अज्ञेय जी को इसका सम्पादक बनाकर लाया गया था। इस चयन के पीछे जनता सरकार में अज्ञेय की सम्मानित छवि को भुनाना भी एक

[1] आजकल , स्वर्ण जंयती अंक 1994 , पृ० सं- 230

कारण था ।'[1] इस समय अज्ञेय की पत्रकारिता काफी हद तक उनकी आजीविका का भी साधन थी । इस पत्र का उन्हें एक बंधा-बंधाया ढाँचा ही विरासत में मिला था, जिससे यहाँ किसी नए प्रयोग व नवाचार की कोई गुंजाइश नहीं थी । फिर भी अज्ञेय ने इस पत्र के सम्पादकीयों में अपनी कुशलता दिखाई । राजनीति और संस्कृति, धर्म और दर्शन के सामने जो पुच्छलतारे इस काल में उदित हुए थे - उसकी पहचान और परख करना अज्ञेय बेखूबी जानते थे । 14 अगस्त 1977 का सम्पादकीय उन्होंने 'नाम में क्या रखा' लेख 'कुट्टीचातन' नाम से लिखा । वे कहते है कि, "अब नयी सांकेतिक मुद्रा है जाति सूचक नाम छोड़ने की । ठीक है आप नाम छोड़ दीजिए । कहावत भी है कि नाम में क्या रखा है? लेकिन नाम छोड़ देने के साथ क्या आप यह व्यवस्था भी करेंगें कि उसमें कहीं जाति के प्रभाव की बू न रहे?"[2]

इसके अलावा अज्ञेय ने इस पत्र में 'आकाश भारती : सामजिक चुनौती' (11 मार्च 1978), 'स्वायत्त आकाशवाणी' (12 मार्च 1978), 'पाकिस्तानी फैसला' (21 मार्च 1978), 'भारतीय संस्कृति केवल अतीत की वस्तु नहीं' (16 जून 1978) 'पालिकाएं साहित्यकार और नागरिकों के बीच कड़ी बने' (1 सितम्बर 1978), आदि महत्त्वपूर्ण लेख लिखे । 6 दिसम्बर 1977 में 'नवभारत टाइम्स' ने राजेन्द्र प्रसाद व्याख्यान माला आयोजित की, जिसमें अज्ञेय व्यक्ति एवं व्यवस्था' विषय पर कहते है कि, 'स्वतन्त्रता को जातिगत अनुभव से अलग रखना इतिहास की अवज्ञा है ।' इसी तरह 1978 में जब अज्ञेय को 'कितनी नावों में कितनी बार' के लिए भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला । 'नवभारत टाइम्स' ने 22 जनवरी 1979 को इस पुरस्कार की रिपोर्ट लिखते हुए कहा – 'भारतीय भाषाओं में 1962 से 1971 के मध्य प्रकाशित कृतियों में श्री अज्ञेय की कृति सर्वश्रेष्ठ चुनी गई ।'[3]

---

[1] रमेशचन्द्र शाह – पत्रकारिता के युग निर्माता स.ही.वात्स्यायन, पृ० सं- 31 (सद्यः प्रकाश्य ग्रन्थ - अच्युतानंद मिश्र – पत्रकारिता के तीन महानायक)

[2] (द्वितीयक स्रोत) कृष्णदत्त पालीवाल – अज्ञेय होने का अर्थ, पृ० सं- 193

[3] (द्वितीयक स्रोत) कृष्णदत्त पालीवाल – अज्ञेय होने का अर्थ, पृ० सं- 193

अज्ञेय ने साहित्यिक और गैर साहित्यिक यानी साहित्येत्तर सामाजिक - राजनीतिक दोनों सरोकारों वाली पत्रकारिता की । पत्रकारिता से अपने जुड़ाव के सन्दर्भ में स्वयं **अज्ञेय** का मानना है कि **'मैं सहज प्रवृत्ति से पत्रकार नहीं हूँ ।'**[1] वे यह भी मानते है कि 'साहित्यकार रूप-सृष्टा है, उपदेशक नहीं । उसके सिरजे रूप से अगर समाज की संवेदना का संस्कार होता है या कोई नया आयाम खुलता है, तो वही उसकी उपलब्धि होती है ।'[2] साथ ही वे लेखक का बहैसियत लेखक के, एक अतिरिक्त निजी उत्तरदायित्व भी मानते है और एक अतिरिक्त सामाजिक उत्तरदायित्व भी ।'[3] सर्वेश्वरदयाल सक्सेना द्वारा लिए साक्षात्कार में **अज्ञेय** कहते है कि, 'कलाकार की एकांत साधना को अत्यधिक महत्त्व देता हुआ भी मैं समझता रहा हूँ कि समय-समय पर उसे महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं पर अपना अभिमत प्रकट करना चाहिए, किन्तु अपने साहित्यिक व्यक्तित्व का ऐसा सामाजिक उपयोग होने देने में उसे दलबंदी से बचना चाहिए क्योंकि बिना इसके वह अपने निजी दायित्व से स्खलित हो जाता है ।'[4] अज्ञेय ने अपने इस सामाजिक दायित्व को निर्भीकता एवं ईमानदारी के साथ निभाया है । वे अपने पत्रकार-कर्म को लेकर कहते है कि, 'पत्रकार के रूप में मैंने अलग जो किया है, अच्छा ही काम किया है। परिश्रम बहुत किया है और उन दिशाओं में किया है, जिनकी प्राय: उपेक्षा होती रही, पर कुछ अधिक कर पाया, ऐसा तो मुझे नहीं लगता ।'[5]

पत्रकार के सरोकार देश और काल दोनों ही आयामों में अधिक विस्तृत होते हैं । पत्रकारिता के लिए भी साहित्य-सृजन जितनी ही गम्भीरता अनिवार्य है । पत्रकार-सम्पादक को विचार के साथ-साथ कर्म के नैतिक आधारों में भी अग्रणी होना चाहिए । साहित्य सृजन और पत्रकारिता दोनों को प्राय: अलग-अलग रखा गया है लेकिन अज्ञेय ने दोनों में लिखने की कलात्मकता दिखाई है । जिससे हिन्दी पत्रकारिता को एक नया स्वरूप एवं आयाम मिला । साथ ही इस क्षेत्र में सप्तकों, विशाल भारत, प्रतीक, नया

---

[1] आजकल, स्वर्ण जयंती अंक 1984 (सर्जन का काम कूड़ेदान पलटना नहीं हैं - अज्ञेय), पृ० सं- 225

[2] रमेशचन्द्र शाह – पत्रकारिता के युग निर्माता स.ही.वात्स्यायन, पृ० सं- 16

[3] संकल्प-रथ, 16 मार्च 1974, अज्ञेय जैसा मैंने देखा - समझा, द्र० शारदाप्रसाद तिवारी

[4] ज्ञानोदय मार्च 1960 (अज्ञेय से कुछ प्रश्न- सर्वेश्वरदयाल सक्सेना)

[5] साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 18 मार्च 1981 (अज्ञेय से भेंटवार्ता, त्रिलोक दीप)

प्रतीक, दिनमान आदि सभी का महत्त्वपूर्ण योगदान अलक्षित है । इन पत्र-पत्रिकाओं ने नए-नए उभरते लेखकों को एक प्लेटफार्म दिया, जिससे उनके रचना-कौशल को नई दिशा मिली । साहित्य-जगत में व्यवस्था कुशल अज्ञेय के सम्पादक-पत्रकार रूप को आलोचकों ने खुले मन से स्वीकारा हैं ।

उपसंहार

उपसंहार

हिन्दी आलोचना और साहित्य जगत् में अज्ञेय का महत्वपूर्ण स्थान रहा हैं। मेरा मानना है कि इनके सृजन सम्बन्धी विचारों को समझे बिना न इनके साहित्य को लेकर कोई समझ बनाई जा सकती है न ही इनके प्रयोगों को समझा जा सकता हैं। हिन्दी आलोचना जगत् में कई रचनाकारों ने अपनी रचनाओं का मूल्यांकन स्वयं किया हैं, लेकिन अज्ञेय ने रचना-मूल्यांकन को लेकर जो दृष्टि एवं विचार पेश किए है उन्हें जाने-समझे बिना हिन्दी आलोचना का ज्ञान अधूरा ही रहेगा । किसी भी रचनाकार के लिए अज्ञेय के साहित्य को समझने के लिए उनकी आलोचनाओं तथा प्रतिक्रियाओं को समझना अत्यंत आवश्यक हैं । अज्ञेय ने कविता, कहानी, उपन्यास, निबन्ध, नाटक, यात्रा-वृतांत, संस्मरण, आलोचना, सम्पादन आदि सभी विधाओं में अपना स्थान बनाया हैं। साथ ही इन विधाओं में रचित रचनाओं पर स्वयं विश्लेषण भी किया हैं। यथास्थान आलोचकों के काम से असंतुष्ट होकर उन्होंने आलोचकों को नए तरीके अपनाने की सलाह भी दी हैं। साहित्य जगत् में अज्ञेय कई भूमिकाओं में सामने आते हैं और इन सभी भूमिकाओं में सफलता भी हासिल करते हैं। इसके अलावा हिन्दी साहित्य जगत् में वे 'अज्ञेय' और 'सच्चीदानंद हीरानन्द वात्स्यायन' दो व्यक्तित्वों में सामने आते हैं, जिनका भेद स्पष्टत: लक्षित होता हैं। आरंभ से ही आरोपों को झेलने वाला यह रचनाकार परिस्थितियों के आगे कही भी घुटने नहीं टेकता अपितु, नए उत्साह के साथ उन चुनौतियों का सामना करता हैं। साहित्य जगत् में अज्ञेय अपना ही स्थान मजबूत नहीं करते बल्कि, नए उभरते रचनाकारों को भी अपनी पैठ जमाने के लिए प्लेटफार्म देते हैं। जिन रचनाकारों को हिन्दी आलोचकों का निष्पक्ष मूल्यांकन नहीं मिला, उन्हें अज्ञेय जैसे रचनाकार से जरुर कुछ प्रेरणा लेनी चाहिए।

'आलोचना' साहित्य का एक ऐसा शास्त्र है जो किसी रचना की बहुलार्थकता तथा उसकी जटिलताओं की गाँठे खोलकर उसे पाठक के लिए संप्रेषणीय बनाता हैं । सृजन से पुनर्सृजन की इस प्रक्रिया में आलोचक को पूर्वग्रहों, विद्वेष भरी मानसिकता से दूर रहना चाहिए । सृजन-कर्म और आलोचना-कर्म दोनों का ही सामाजिक दायित्व है

कि वह देश और काल में निरंतर बदलती हुई संवेदना एवं मूल्यों को संप्रेषित करने का प्रयास करें, जिससे साहित्य को जानने-समझने और आत्मसात करने में पाठक एवं रचनाकार दोनों के साथ न्याय हो सके।

हिन्दी आलोचना के विकास में साहित्य को जानने-समझने तथा समृद्ध करने की शुरुआत भारतेंदु युग से हुई। इस काल के आलोचक मूलतः सर्जक साहित्यकार ही थे। इससे पहले मध्यकाल में भी छिटपुट सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक आलोचना के लिए स्फुट काव्य उक्तियां प्रयोग में लाई गई। लेकिन वे काव्य का न तो विस्तृत विश्लेषण कर पाई, न ही उनको जाँचने के लिए कोई निश्चित मानदण्ड दे पाई। हिन्दी आलोचना के स्वरूप में बदलाव गद्य की नई-नई विधाओं के साथ हुआ। साहित्य का पाठक अब राजदरबारों के रसिक सहृदय राजा-सामंत नहीं, अपितु मध्यवर्ग का शिक्षित, शोषित एवं पीड़ित व्यक्ति था। प्रेस-मुद्रण की सुविधाओं ने जिस तेजी से साहित्यिक विधाओं का विकास किया, उतनी तेजी से आलोचना आगे नहीं बढ़ी। उसकी स्थिति अभी भी परम्परा मोह व सैद्धांतिक मानदंडों में जकड़ी थी। आलोचना के नाम पर निबंध, पुस्तक समीक्षाएँ व परिचय ही लिखा जा रहा था। हिन्दी प्रदीप, सरस्वती, समालोचना, नागरी प्रचारणी आदि पत्र-पत्रिकाओं ने काव्य-समीक्षा को रीतिवादी परिपाटी से हटाकर परिचयात्मक व प्रचारात्मक तथा व्यावहारिक सिद्ध अपनाई। साथ ही द्विवेदी युगीन आलोचकों में निर्भीकता के साथ-साथ यथास्थान गुटबंदियां भी दिखाई देती है, जिससे कुछ रचनाओं को बेवजह निंदा-प्रशंसा सहनी पड़ी। मिश्रबन्धुओं ने तारतमिक श्रेणी विभाजन आलोचना को प्रश्रेय दिया ताकि पाठक अपनी रूचि के अनुरूप बिना पढ़े ही कृति का चुनाव कर सकें। इस युग में कुछ आलोचक ऐसे भी उभर रहे थे, जिन्होनें परम्परागत प्रतिमानों का निषेध कर आलोचना का स्वरूप व्याख्यात्मक बनाया।

हिन्दी आलोचना के मानदण्डों में बड़ा बदलाव रामचन्द्र शुक्ल ने किया। शुक्ल जी ने परम्परागत - शास्त्रीय आलोचना शैलियों का मान रखते हुए अपने युग की आवश्यकताओं व परिस्थितियों को देखते हुए नए मानदंडों का निर्माण किया। जिनमें भारतीय और पाश्चात्य दोनों मानदंडों का समन्वय किया गया हैं। उन्होनें ऐसी

आलोचना की शुरुआत की जो सभ्यता और संस्कृति के बीच से पनपी । उनके मानदंडों का आलोचना के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिन्हें आगामी आलोचकों ने थोड़े बदलावों के साथ अपनाया भी हैं । शुक्लोत्तर समीक्षकों ने सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण से रचनाओं का विश्लेषण किया । इस युग में हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र आदि प्रमुख आलोचक रहे । स्वच्छंदता एवं सौष्ठव दोनों दृष्टियों का समन्वय करने वाले वाजपेयी ने साहित्य के मूल्यांकन के लिए कवि की अंतर्वृत्तियों, मौलिकता, कलात्मक सौष्ठव, शैली, रचना के बाह्यंगो, समाज की प्रेरणा, समय, दार्शनिक-राजनीतिक विचार आदि के अध्ययन को अनिवार्य माना । इनके मानदण्ड दोहरे है, जिससे इनकी विश्लेषण-दृष्टि यथास्थान संकुचित व अतिवादिता का शिकार लगती है । हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना-दृष्टि रचनात्मक है, जो रचना के मूल्यांकन में उसके मूल सौन्दर्य तथा विधायक तत्वों को महत्त्व देती है । उन्होंने आलोचना के क्षेत्र में निर्णयात्मक, व्याख्यात्मक, प्रभाववादी दृष्टियों को अनुस्यूत कर इन्हें एक-दूसरे की पूरक बनाया । वे साहित्य सौन्दर्य के आस्वाद और परिक्षण के लिए साहित्य के ही मानदण्ड चुनते हैं । नगेन्द्र ने पाश्चात्य आलोचकों की तर्ज पर कुछ सैद्धांतिक ग्रन्थ भी लिखे हैं तो वही व्यावहारिक आलोचना में उनकी दृष्टि मुख्यत: कविता के शिल्प पर ही सिमटी हुई दिखाई देती है । प्रतिमान के रूप 'संस्कृति बोध' को महत्त्व देने वाले आलोचक देवराज ने सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों आलोचनाएँ क्लासिक भावधारा से की है । शुक्लोत्तर युगीन आलोचकों ने 'छायावाद' पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से आलोचनाएं की । जिससे छायावाद के कवियों ने असंतुष्ट होकर स्वयं अपने युग तथा रचना के मर्म को अभिव्यक्त किया । इस कवि-आलोचकों में (पंत,प्रसाद,निराला,महादेवी) अपने साहित्यिक मूल्यों तथा सृजन का विश्लेषण कर मौलिक स्थापनाएं की, साथ ही पाठकों को आलोचकों के भटकाव से बचाकर अपने युग व रचना की संवेदनाएं स्पष्ट की ।

साहित्य और आलोचना को पहली बार सैद्धांतिक स्तर पर 'राजनीति' से मार्क्सवादी आलोचकों ने जोड़ा । इस वर्ग के आलोचकों में शिवदानसिंह चौहान, डॉ रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, नामवर सिंह आदि ने मार्क्सवाद के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन

किया। मार्क्सवादी विचारधारा के साथ-साथ आधुनिकतावादी विचारधारा की शुरुआत हुई। प्रगतिवादियों ने इस विचारधारा को अपने विकास में बाधित तथा अपनी विरोधी समझ इस विचारधारा के कवियों की रचनाओं पर टिप्पणियां करना, गुटबाजी कर इस वर्ग को दरकिनार करना शुरू किया। आधुनिकतावादी विचारधारा पर पाश्चात्य विचारकों का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है, लेकिन इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि वे सभी पश्चिम नकलची या अनुकरणित विचारधारा के पिछग्गलू है। इन्होंने प्रगतिवादियों के तर्कों का खण्डन कर मूल्यांकन के लिए रचनाकार की मन:स्थिति एवं उसके मन में रचना के मर्म को जानने का प्रयास किया। इस वर्ग में इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय, जैनेन्द्र आदि समीक्षक प्रमुख हैं। इनके समीक्षा सिद्धांत पाश्चात्य मनोशास्त्री फ्रायड, एडलर, युंग से प्रभावित हैं। आलोचना को आपद धर्म मानते हुए भी इन रचनाकारों ने अपनी लीक से हटकर अपनी विचारधारा को स्वयं विश्लेषित कर पाठकों को आलोचकों के भटकाव से बचाया। 'पाठ' की पाठक केन्द्रित आलोचना को हिन्दी आलोचना में स्थापित करने का काम अज्ञेय ने ही किया। काव्य-सृजन में नए प्रयोगों के साथ-साथ समीक्षा के लिए भी इन्होनें नई दृष्टि व मूल्यों की खोज की, साथ ही टी.एस इलियट और नई समीक्षा की अनेक मान्यताएं हिन्दी काव्य जगत में बहस का हिस्सा बनने लगी।

नई कविता की तरह कथा-साहित्य में भी नवीन चेतना और रूपों की समीक्षा की जाने लगी। 1955 ई० में सरस्वती प्रेस से भैरवप्रसाद गुप्त के सम्पादन में 'कहानी' पत्रिका से नए आलोचनात्मक लेखों की शुरुआत हुई। जहाँ कहानी को मात्र मनोरंजन का साधन न मान आज के जटिल जीवन की वास्तविकता पेश करने वाली विधा माना जाने लगा और स्वयं कथाकार 'आलोचक' बनकर अपनी रचनाओं में व्यक्त नई विचारधारा को वैयक्तिक रूचि के आधार पर व्याख्यायित करने लगे। इनमें मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, नामवर सिंह, देवीशंकर अवस्थी, कमलेश्वर, भारतभूषण अग्रवाल, इन्द्रनाथ मदान आदि प्रमुख हैं। इस विकास क्रम में विमर्शवादी आलोचना ने भी नए मानदंडों का प्रयोग कर अपने सृजन एवं मूल्यांकन से अपनी पीड़ा व्यक्त की।

इस तरह 1950 के बाद हिन्दी आलोचना में कई दृष्टिकोण एक साथ उभरते दिखाई देते है, जिनमें कुछ आलोचक पारम्परिक मार्ग, कुछ प्रगतिशील विचार, कुछ आधुनिकतावाद व कुछ तीखे तेवर के साथ अपनी साहित्यिक समझ से आलोचना करते रहे है। आलोचक की वैयक्तिक रूचि व राग-द्वेष के कारण ही आपसी मतभेद एवं रचना के मूल्यांकन में भी टकराहट होती है। जिसका हर्जाना रचनाकारों के साथ-साथ उसकी कृत्तियों को भी भरना पड़ता है। हिन्दी साहित्य में अज्ञेय ऐसे ही रचनाकारों में से है जिनकी कृत्तियाँ तथा उनके विचार शुरू से ही विवादित रहे। सन् 1933 से कविताओं एवं कहानियों के क्षेत्र में जिन नए विचारों व शैलियों का सूत्रपात किया, उन्हें आलोचकों ने अज्ञेय की मौलिक दृष्टि न मानकर प्रगतिवादी विचारधारा के विरुद्ध एक षड्यंत्र एवं पाश्चात्य अनुकृत घोषित किया। अज्ञेय की आलोचना शुक्लोत्तर युग से शुरू हो जाती है। अज्ञेय ने काव्य-संग्रहों की भूमिका के साथ-साथ पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से भी अपने कविता व सृजन सम्बन्धी नए विचारों को अभिव्यक्त किया। जब किसी कवि के नए भाव-बोध, विचार, सोच, रचना-प्रक्रिया, भाषा-सम्प्रेषण, शैली आदि को पुरानी विचारधारा तथा सीमित पैमानों में मापा जाता है, तब कवि व उसकी कविता दोनों का सही अर्थ सम्प्रेषित नहीं हो पाता। किसी रचना को लेकर आलोचकों में मतभेद की स्थिति होना स्वाभाविक है, लेकिन जब मूल्यांकन वैयक्तिक रूचि व पूर्वग्रहों के आधार पर किया जाए, तब कवि व कविता दोनों भटकाव के ही शिकार बनते है। इन्हीं सीमित दायरों में कवि अज्ञेय व उनके काव्य पर काफी आरोप लगाए गए। आरोपों को ख़ारिज करने वालों की संख्या भी कम नहीं हैं। यथास्थान स्वयं अज्ञेय भी अपने कवि रूप का स्पष्टीकरण करते चलते है।

हिन्दी आलोचना में 'कवि अज्ञेय' एवं उनकी कविताओं पर मुख्य रूप से प्रयोगवादी, परम्पराद्रोही, पश्चिमीवादी, नकलची, व्यक्तिवादी, अहंवादी, समाज विरोधी, कलावादी, प्रतीकवादी, रहस्यवादी, नव-रहस्यवादी आदि मोटे-मोटे आरोप मढ़े गए। 1943 में अज्ञेय ने 'तारसप्तक' का सम्पादन किया। जिसके द्वारा काव्य में सत्य की खोज, प्रयोग की महत्ता पर बल दिया गया। लेकिन 'प्रयोग' शब्द की अनुगूँज 'प्रतीक' पत्र के सम्पादन के दौरान सुनाई देती हैं। सप्तकों की श्रृंखला में तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं में

आए वक्तव्य सभी वाद-विवाद का विषय बने और कुछ समीक्षकों ने जान-बूझकर अज्ञेय पर दलबंदी आलोचना की । अज्ञेय को प्रयोगवाद का प्रवक्ता तथा उनकी कविताओं को प्रयोगवादी कहकर आलोचकों ने मात्र रूप-विधान तथा बुद्धिवाद के कटघरे में डाल दिया । अज्ञेय आरम्भ से ही इस 'प्रयोगवाद' नाम से संतुष्ट नहीं थे । उनके लिए 'प्रयोग' मात्र साधन था, किसी वाद या गुटबाज़ी का हथकंडा नहीं । वे काव्य में घिसे हुए अर्थहीन विषयों – शब्दों - प्रतीकों आदि के नए प्रयोगात्मक रूप की खोज पर बल देते हैं । लेकिन उनकी कविताओं पर विचार करने पर मुझे लगता है कि अज्ञेय ने प्रयोग करने की मात्र कोशिश भर की है । वे हिन्दी साहित्य जगत् में कुछ अलग तरह की शैली-शब्द लाना चाहते है और बहुत हद तक वे इसमें सफल भी होते है किन्तु कई बार पाठक-आलोचक उनकी इस प्रयौगिक शब्दावली से तालमेल नहीं बना पाता, जिससे रचनाकार का सम्प्रेषण अधूरा व अटपटा-सा रह जाता हैं और वह दरकिनार कर दिया जाता हैं । कवि अज्ञेय की सीमित कविताओं का विश्लेषण कर आलोचकों ने उन्हें 'परम्पराद्रोही' भी घोषित किया । उनकी कविताओं का आंकलन किया जाए तो ऐसा कदापि प्रतीत नहीं होता कि 'कवि अज्ञेय' परम्परा से कटकर कोई प्रयोग या नवीनता नहीं लाना चाहते थे । उन्होंने अपनी रचनाओं में परम्परागत प्रतीकों-उपमानों का बहुतायत प्रयोग किया हैं लेकिन वे संस्कार देने वाली, जीवन राग को ध्वनित करने वाली परम्परा के पक्षधर है । वे अपना मूल सत्व खो चुकी रुढ़िवादी परम्परा का विरोध करते हैं । उनकी कविताओं में परम्परा एक ऐसी काली रेखा है जिसके बिना प्रकाश की राह नहीं खोजी जा सकती । अर्थात् अज्ञेय उस अर्थ में परम्पराद्रोही नहीं है जैसे उनकी रचनाओं पर आरोपित किया गया है । पूर्ववर्ती और परवर्ती अज्ञेय में छायावादी अवशेषों की पड़ताल करने वाले तथा विलायती सन्दर्भ खोजने वाले समीक्षक प्राय: यह भूल जाते है कि प्रत्येक व्यक्ति पर अपने युग-समाज का प्रभाव ज्यादा या कम अवश्य ही पड़ता है । साथ ही जब व्यक्ति कोई अध्ययन-चिन्तन करता है या किसी विचारक के निकट सम्पर्क में आता है तब उन विचारधाराओं का अच्छा-बुरा प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक ही हैं । बहरहाल अज्ञेय के काव्य में यह प्रभाव बाहरी, ऊपरी या आरोपित-सा प्रतीत नहीं होता, बल्कि यह प्रभाव उनके समाज एवं संस्कृति का प्रतिमान बनकर उनकी कविताओं से फूटता है । अज्ञेय की

दो से तीन कविताओं को छोड़कर उनकी अधिकांश कविताओं में जमीनी संस्कारों तथा नवीन प्रयोगों की ही अनुगूँज व्याप्त हैं। मात्र कुछ कविताओं के सामने पूरे काव्य को पश्चिमी नकल कहना अतिवादिता ही है। क्योंकि ऐसे तो सभी रचनाकारों पर किसी ना किसी विचारधारा-विचारक का प्रभाव खोजकर उसे नकलची कहना बेहद सरल है।

प्रगतिवादी रचनाओं का केंद्र 'समाज' रहा, लेकिन प्रयोगवादी व नई कविता के कटघरे में शामिल किए गए कवियों ने 'व्यक्ति' को अपना केंद्र बनाया। अज्ञेय ने भी अपनी रचनाओं में व्यक्ति को प्रमुखता दी। जिसके कारण कुछ आलोचकों ने उन्हें सीधे-सीधे व्यक्तिवादी, अहंवादी व समाज विरोधी कहा है। कुछ समर्थक आलोचकों ने इस तथ्य में यह भी जोड़ा कि अहंवादी व्यक्ति भी सामाजिक दायित्व व कल्याण कर सकता है। अहंवादिता कोई दोष नही है और ना ही अज्ञेय समाजविरोधी है। वास्तव में वे ऐसे समाज से संतुष्ट नहीं है जिसमें विकृत्तियां भरी हैं। क्योंकि ऐसा समाज व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं व्यक्तित्व के विकास में बाधक बनता हैं। वे केवल व्यक्ति की बात नहीं करते, अपितु वे व्यक्ति के व्यक्तित्व को महत्त्वपूर्ण मनाते है। इस व्यक्तित्व के बल पर ही व्यक्ति स्वतंत्र खड़ा हो सकता हैं। अपनी रचनाओं में जब अज्ञेय व्यक्ति का व्यक्तित्व विकसित मोड़ पर पाते है तब उसे स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए उसी में विलयित कर देते हैं। यह विलयन भी प्राय: आलोचकों को खटकता रहा हैं। जब कवि अज्ञेय अपनी रचनाओं में सामाजिक विसंगतियों एवं बुराइयों की बात करते है तब भी समीक्षकों को उनकी यह चिंता मात्र ढोंग-दिखावा भर ही लगती हैं। मतलब चिट भी अपनी पट भी अपनी। अज्ञेय ने कविताओं के माध्यम से सम्प्रेषण की समस्या पर भी लगातार विचार किया है। साधारणत्व ही सम्प्रेषण का मूल धर्म है। अर्थ के सम्प्रेषण के लिए ही वे प्रतीकों, उपमानों, बिम्बों आदि की नवीनता पर जोर देते हैं। 'देवता इन प्रतीकों के कर गए है कूच' - अज्ञेय की इस पंक्ति पर आलोचकों ने खूब टिप्पणियाँ की हैं। उनके भाषा-शब्दों को जड़ाऊ, अनगढ़ ठोकरों सी, जनजीवन के मुहावरों से वंचित, किताबी गढ़ी हुई कृत्रिम कहकर नकारा गया। लेकिन अज्ञेय की रचनाओं का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि उनमें संस्कृत, तत्सम-तद्भव, उर्दू, हिन्दी, अंग्रेजी, देशज, विदेशी, लोक ग्रामीण मिश्रित व चलताऊ शब्दों का अनूठा प्रयोग किया गया हैं।

भूमण्डलीकरण के दौर में व्यक्ति प्रकृति से निरंतर कटता जा रहा है । अज्ञेय की कविता 'असाध्य वीणा' बदलते समय-समाज की भागम-भाग में व्यक्ति को उसके भीतर के मौन से जोड़ती है । वह व्यक्ति को प्रकृति के विभिन्न उपादानों तथा स्वर ध्वनियों से वाकिफ़ कराती हैं । अज्ञेय के काव्य-नाटक 'उत्तर प्रियदर्शी' को लेकर भी समीक्षकों में मतभेद रहा हैं । अज्ञेय स्वयं इसे 'गीति नाट्य' कहते है । लेकिन इस नाटक में गीतों की योजना, सरीकी लय-तुक उस तरह से नहीं मिलती, जैसी गीति-नाट्य के लिए अपेक्षित हैं । इसमें यथास्थान काव्यात्मकता एवं नाटकीय स्थितियों का संयोजन भी कमज़ोर दिखाई देता हैं । कविता से रागात्मकता और नाटक से वस्तु की नाटकीयता लेकर इसकी रचना की गई है । रचनाकार ने यथास्थान रंग-निर्देशों के साथ-साथ पात्रों की वेशभूषा का भी उल्लेख किया हैं । नाट्यकाव्य की सीमाओं के रहते हुए भी अज्ञेय के इस नाटक को नाट्य काव्य की परम्परा में स्थान दिया जा सकता है ।

कहानी, उपन्यासों में अज्ञेय अपने मनोवैज्ञानिक सामाजिक चिंतन में जैनेन्द्र, यशपाल आदि से एक कदम आगे ही दिखाई देते हैं । इस दौर के हिन्दी कथा साहित्य पर पाश्चात्य विचारकों व विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता हैं । अज्ञेय के कथा-साहित्य में भारतीय विचारकों के साथ-साथ पाश्चात्य विचारकों - ब्राउनिंग, डी.एच लारेस, कीर्क गार्द, जेम्स ज्वायस, रोम्यां रोला, फ्रायड, युंग, एडलर, मार्क्स, सार्त्र आदि की विचारधाराओं को आधारस्वरूप इस्तेमाल किया गया हैं । 'कथाकार अज्ञेय' ने मात्र 3 उपन्यास और 67 कहानियों के माध्यम से इस क्षेत्र में भी अपना रचना-कौशल दिखाया हैं । शेखर : एक जीवनी (भाग-1,2) में मनोवैज्ञानिक दृष्टि, नदी के द्वीप में प्रेम-विवाह-सहजीवन में व्यक्ति की स्वतंत्रता, अपने-अपने अजनबी में अस्तित्ववाद ; तीनों उपन्यास तीन अलग-अलग विचारधाराओं को केन्द्रित कर लिखे गए हैं । हिन्दी साहित्य जगत में तीनों उपन्यास नए ढंग से लिखे गए । आत्मकथात्मक शैली में लिखे गए 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास के शीर्षक को लेकर ही समीक्षकों ने सवाल उठाया - उपन्यास या जीवनी? जबकि कथा-साहित्य में ऐसे शीर्षकों की कमी नहीं है । यह उपन्यास दो भागों में बंटा है, जिसमें एक रात में देखे हुए विजन की कथा है । 'नदी के द्वीप' में चार

असाधारण पात्रों के जीवन-सम्बन्धों की कहानी हैं । अपने-अपने अजनबी काल और मृत्यु के प्रति दो संस्कृतियों और सभ्यताओं का चित्रण किया गया है ।

आलोचकों ने अज्ञेय के समस्त कथा-साहित्य को पाश्चात्य प्रभाव एवं अनुकरण पर रचित माना । जिस दौर में अज्ञेय ये उपन्यास-कहानियाँ लिख रहे थे, उस समय के आलोचक-पाठक इन बदलती नई शैलियों एवं सम्बन्धों से वाकिफ़ नहीं थे । उनके उपन्यास-कहानियों को मात्र मनोवैज्ञानिक, व्यक्तिवादी, अहंवादी, क्षणवादी, अश्लील, असामाजिक, अभिजात्यवादी, अस्तित्ववादी आदि कटघरों में सीमित करने वाले समीक्षक यह स्पष्ट करना भूल जाते है कि अज्ञेय ने कथा-साहित्य में इनका प्रयोग अंधाधुंध तरीके से नहीं किया । अपितु वे अपने पात्रों को इन विचारधाराओं में तरोड़-मरोड़ कर अपने ढंग से प्रस्तुत करते हैं । फ्रायड के सिद्धांतों से प्रभावित अज्ञेय ने शेखर में 'आडिप्स काम्पलेक्स' और 'इलेक्ट्रा काम्पलेक्स' सिद्धांत को विपरीत ढंग से प्रयोग किया है । अज्ञेय ने अपने पात्रों में असाधारणता लाने के लिए उन्हें अपने युग-समय-समाज के विपरीत ढाल कर पेश किया हैं । अपने पात्रों के असाधारण व्यक्तित्व की कमियों को छुपाने के लिए अज्ञेय ने जरूरत से ज्यादा उनके लिए सफाई भी पेश की हैं । उनकी कहानियों के पात्र भी यथास्थान पाठकों को गुमराह ही करते हैं । ऐसे व्यक्तित्व की असाधारणता आलोचकों के साथ-साथ पाठकों को भी खटकती हैं, लेकिन पूर्वग्रहों में लपेटकर फिजूल की बहस करना रचना की अन्य खूबियों से भटका देता हैं ।

अज्ञेय के पात्र टूटते-टूटते बनते है, निखरते हैं, विकसित भी होते हैं, लेकिन विकसित होकर कही पहुँचते नहीं है, बल्कि तोड़ने वाले को अपनी ओर आकर्षित करते हैं । वे परिवार-समाज के संकुचित-सीमित नियमों में बंधने की बजाए उसमें अपना अलग व्यक्तित्व द्वीप की भांति खड़ा करना चाहते हैं । अपने जीवन के नियम वे स्वयं निर्मित करने के पक्षपाती हैं । उनके बीच आने वाली हर तरह की रुकावटों का विद्रोह करते हैं । शेखर, शशि, रेखा, भुवन, चंद्रमाधव, सेल्मा, योके आदि सभी पात्रों में अपने अलग स्तर का एक विद्रोह-भाव दिखाई देता हैं । कई जगह इनका विद्रोह खोखला व बेदम भी प्रतीत होता है । प्रेम-विवाह-सहजीवन के चुनाव में व्यक्ति स्वतंत्र होना चाहिए । उसमें

समाज-परिवार तथा जीवनसाथी का हस्तक्षेप भी स्वीकार्य नहीं हैं। अज्ञेय के यहाँ प्रेम में बस प्रेम ही सर्वोपरि है अन्य कोई दूसरा सम्बन्ध नहीं । अभिजात्य, शिक्षित वर्ग से चुने गए इन पात्रों का अपना सेलेक्टिड समाज है, उसी के अनुरूप उनकी भाषा-रहन-सहन आदि का होना भी स्वाभाविक हैं । पाश्चात्य, बंग्ला, संस्कृत आदि कवियों की कविताएँ पात्रों द्वारा सुनाना उनके इंटलेक्चुअल दिखने-दिखाने का ही ढंग हैं । अज्ञेय के पात्रों से उस दौर का पाठक अपना ताल-मेल नहीं बैठा पाता था, लेकिन वर्तमान युग का पाठक समुदाय इतना वैल-मैनेंजड-एजुकेटिड है कि वह ऐसे उपन्यासों की भाषा एवं पात्रों की असाधारणता के साथ आराम से फिट हो जाता हैं । इसलिए अज्ञेय अपने लेखन के लिए शुरू से ही एक शिक्षित पाठक की अपेक्षा करते आए हैं । आज के समाज में अज्ञेय के ये स्वतंत्र ख्याल खुलकर स्वीकृति पाते है क्योंकि सम्बन्धों के जिस स्वतंत्र रूप की अभिव्यक्ति अज्ञेय तब कर रहे थे, उन सम्बन्धों को आज कानूनी मान्यताएँ भी मिल चुकी हैं । यह बात अलग है कि मध्यवर्गीय तबके को आज भी इन विचारों व सम्बन्धों की स्वतंत्रता खटकती ही हैं ।

अज्ञेय ने अपनी कहानियों में जहाँ एक ओर सामाजिक यथार्थ का वर्णन किया है, वही दूसरी ओर व्यक्ति के मन की गुत्थियों को सुलझाने तथा मध्यवर्ग की ऊहापोह को शब्दबद्ध भी किया हैं । उन्होंने क्रान्तिकारी जीवन, सैनिक जीवन, भारत-विभाजन तथा समाज एवं उससे मिलने वाले सम्मान के खोखलेपन से जुड़ी कहानियाँ लिखी हैं । रोज, हीलीबोन की बत्तखे, पठार का धीरज, पगौड़ा वृक्ष, विपथगा, मेजर चौधरी की वापसी, जयदोल, खितीन बाबू, शरणदाता, कलाकार की मुक्ति आदि कहानियों में अज्ञेय की दृष्टि परवर्ती कथाकारों से अधिक विस्तृत दिखाई देती हैं । शिल्प विधान की दृष्टि से कहानीकार अज्ञेय ने विविध शैलियों, प्रतीकों, व भाषा-शब्दों का नया प्रयोग किया है । उनकी कहानियों में कोई सोचा-समझा 'नक्शा' या 'प्लाट' नहीं होता, अपितु पात्रों की संवेदना से ही कहानी बनती हैं । उनकी कहानियों के पात्र जितने भावुक व अंतर्मुखी है, उतने ही अपने बाहरी परिवेश-समाज के प्रति चिंतित, घोर जिज्ञासु व जागरूक भी है । उन्होंने प्रतीक योजना और सांकेतिकता का भी अद्वितीय प्रयोग किया है । उनके कथा - साहित्य में भारतीय-पाश्चात्य दोनों शैलियों -

प्रत्यावलोकन, आत्मकथात्मक, दृश्य विधान, विवरणात्मक, डायरी, संकेत, वर्णनात्मक, पत्र, मनोवैज्ञानिक आदि का मिला-जुला रूप प्रयोग किया गया हैं। हिन्दी आलोचना में 'कथाकार अज्ञेय' को शिल्प-विधान की दृष्टि से बेजोड़ माना गया हैं।

कथेत्तर गद्य साहित्य में उनके निबन्ध, डायरियां, साक्षात्कार, यात्रा-वृत्तांत, अनुवादित रचनाएँ आदि आती हैं। जिनमें अज्ञेय चिंतक के साथ-साथ एक समालोचक की भूमिका में भी दिखाई देते हैं। आलोचकों ने उनके निबन्धों आदि का विश्लेषण करने की बजाए विषय विशेष को लेकर ही उनकी बात काटने का प्रयास किया हैं। हिन्दी साहित्य जगत में अज्ञेय पर जितने भी आरोप लगाए गए उनका स्पष्टीकरण एवं प्रतिक्रियाएं इन्हीं निबन्ध संग्रहों-टीपों आदि में दी गई हैं। साथ ही उन्होंने साहित्य-रचना एवं उसकी स्वायत्तता, रचनाकार के दायित्व एवं परिवेश, संस्कृति और भाषा, समीक्षा के गिरते स्तर तथा मूल्यांकन के नए प्रतिमानों आदि को लेकर अपनी एक समझ व्यक्त की हैं। अज्ञेय की नज़र में आज का साहित्य वह है जो अपने समय की चिंताओं एवं संदेहों को व्यक्त करें, मूल्यों के संकट को पहचान उन्हें पाने के लिए छटपटाए और जो इस संकट के पार भी बचा रह सके। उसमें अपनी संस्कृति के स्वर सुने जा सके। वे भारतीय भाषाओं और संस्कृति के पक्षधर रहे हैं। उन्हें संस्कृति के नाम पर होने वाली राजनीति से परहेज हैं।

साहित्य के साथ समाज, संस्कृति, भाषा, परम्परा, स्वाधीनता आदि एक-दूसरे के बिना अधूरे हैं। उन्होंने भाषा के व्यवहार एवं उसके सांस्कृतिक रूप की भी खूब चर्चा की हैं। वे भाषा को रचनाशीलता का महत्त्वपूर्ण तत्व मानते है। आलोचकों ने अज्ञेय के इस भाषा चिन्तन को कोरा रूपवादी, भाववादी कहकर खारिज किया हैं। लेकिन कुछ समीक्षकों ने पूर्वग्रहों को छोड़ अपनी निष्पक्ष दृष्टि से अज्ञेय के भाषा चिंतन का विश्लेषण कर यथास्थान सराहा भी हैं। अज्ञेय शब्द और अर्थ के संश्लिष्ट उसी रूप का समर्थन करते है जिसे संस्कृत कवि कालिदास ने 'वागर्था विन संपृक्तौ वा प्रतिपतये' कहकर अभिव्यक्त किया था। व्यक्ति की सत्ता को प्रमुखता देने वाले अज्ञेय ने कुछ आत्मपरक निबन्ध भी लिखे हैं। जिन्हें व्यक्तिव्यंजक, व्यक्तित्व व्यंजक, व्यक्तित्व रंजित

तथा ललित निबन्ध कई नाम दिए गए । इनमें से अज्ञेय ने व्यक्तित्व रंजित नाम ही स्वीकारा है, जो ललित निबन्ध का ही एक भाग हैं । अज्ञेय के व्यक्तित्व को लेकर आलोचकों द्वारा कई प्रश्नचिन्ह लगाए गए लेकिन इन निबन्धों में यथास्थान स्थिति बिल्कुल विपरीत दिखाई देती हैं । कुट्टीचातन नाम से लिखे निबन्धों में अज्ञेय का हास्य-व्यंग्य भरा व्यक्तित्व नज़र आता है । यहाँ अज्ञेय ने हल्की मनस्थिति एवं विषयों के साथ गंभीर से गंभीर तत्वों का प्रतिपादन किया हैं । अज्ञेय का व्यक्तित्व इनमें ऐसा व्यक्त हुआ है जो उनकी अन्य रचनाओं से अलग हैं । कथेत्तर साहित्य में यथास्थान अज्ञेय के गंभीर विचार तथा व्यक्तित्व की परतें अधिक स्पष्टता से समझ आती है । उनके ललित निबन्धों से ज्ञात होता है कि अज्ञेय एकांत प्रेमी, संकोची, समाजभीरु है साथ ही वे बढ़ईगिरी, पशु-पालन, बागवानी, यायावरी का शौक रखते हैं ।

अज्ञेय ने आलोचना को आपदधर्म मानते हुए आलोचना की है । लेकिन वे उन अर्थों में आलोचक नहीं हैं जिन अर्थों में व्यावहारिक आलोचना और सैद्धांतिक आलोचना के पाठ और प्रतिमान बनते हैं । सप्तकों की भूमिकाएं तथा कुछ निबन्ध उनकी आलोचना दृष्टि को विस्तार देते हैं । उन्होंने एक ओर आलोचना को तार्किक संगति दी है तो दूसरी ओर भाषा-संवेदना को नया परिपेक्ष्य भी दिया है । उनकी आलोचना एक सुविचारित वार्ता हैं, जिसमें साहित्य, संस्कृति, सभ्यता, सौन्दर्यबोध, भारतीयता, आधुनिकता, काल आदि सभी विषयों पर एक स्पष्ट समझ दिखाई देती हैं । अपनी प्रत्येक आलोचना का उत्तर कई बार वे एक नई रचना द्वारा देते हैं । निरर्थक बहसों और विवादों में पड़ने के बजाए सार्थक रचना-कर्म में जुटे रहना और अपनी योजना को अंतिम परिणति तक पहुँचाना ही अज्ञेय की विशेषता है ।

अज्ञेय, 'कवि अज्ञेय' और आलोचक वात्स्यायन को अलग रखकर चलते हैं । कवि अज्ञेय की मान्यताएं आलोचक अज्ञेय से कई जगह टकराती है । अज्ञेय अपनी पसंद अनुसार अपनी रचना का पाठक व आलोचक चाहते थे । उनकी यह माँग कई बार अस्वाभाविक भी लगती है । उन्हें आलोचकों की कोई कमी नहीं थी, किन्तु कुछ आलोचकों की गुटबाज़ी ने उनके पाठकों की संख्या कम की है इसमें कोई दोहराय नहीं हैं

। आलोचना को रचना का धर्म मानने वाले अज्ञेय ऐसी आलोचना को श्रेय देते है जो रचनाकार के परिवेश एवं उसके मन की परख करते हुए मूल्यांकन करें । वे अपने पूर्ववर्ती और समकालीन रचनाकारों के सन्दर्भ में कुछ ऐसे पहलुओं पर गौर करते है जिन्हें उनके युगीन आलोचकों ने कमत्तर समझ कर छोड़ दिया था । इस तरह अज्ञेय की आलोचना जहाँ एक ओर सिद्धांत निरूपण और साहित्य से जुड़े मूल्यों पर विचार करती है वही दूसरी और अपनी वैचारिकी को व्यावहारिक आलोचना में भी तबदील करती है ।

साहित्य रचना के साथ-साथ अज्ञेय संपादक तथा पत्रकार की भूमिका भी निभाते रहे हैं । उनके सम्पादन-कर्म की शुरुआत 'तारसप्तक' से होती है । हिन्दी काव्य जगत में तारसप्तक का आना एक नई लहर, नया विवाद तथा एक उथल-पुथल का संकेत था । सहयोगी बन्धुओं ने तारसप्तक के सम्पादन के लिए व्यवस्था कुशल अज्ञेय को चुना तथा इसमें उन सात कवियों को शामिल किया, जिनके काव्य में नए प्रयोग एवं सत्य की तलाश की जा रही थी । साथ ही जिनके कोई स्वतंत्र संग्रह प्रकाशित नहीं हुए थे । अज्ञेय ने इसी श्रृंखला में दूसरा, तीसरा, चौथा सप्तक भी निकाले । आगामी सप्तकों के कर्ता-धर्ता मात्र अज्ञेय ही रहे । चयनित कवियों तथा वक्तव्यों के मूल-भाव तक सम्पादक की जांच-परख में तय हुए । इन सप्तकों में शामिल सम्पादक अज्ञेय के विचार कविता के क्षेत्र में बड़े बदलावों तथा विवादों का केंद्र बने । चौथे सप्तक में चयनित कवि उनके पसंदीदा अनुयायी भक्त टाइप ही थे । आलोचकों ने सम्पादक अज्ञेय के इन सप्तकों को उनकी गुटबाज़ी एवं षड्यंत्रों का ही नाम दिया हैं । अज्ञेय ने साहित्यिक और साहित्येत्तर सामाजिक-राजनीतिक दोनों तरह की पत्रकारिता की । उन्होंने अपने ग्रथों एवं पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी पत्रकारिता के स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयास किया । साथ ही अपने पत्रों - विशाल भारत, प्रतीक, नया प्रतीक, दिनमान आदि में वे एक कुशल सम्पादक के कर्तव्यों तथा कुशल लेखन में सुधार की स्थिति को यथास्थान व्यक्त करते आए है । अपनी पत्र-पत्रिकाओं में विषय के साथ-साथ साज-सज्जा, पृष्ठ-सज्जा, कवर पेज, चित्रांकन आदि सभी को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया हैं ।

अज्ञेय अपने लेखन के साथ शुरू से ही स्पष्ट करते रहे थे कि रचनाकार अज्ञेय और सच्चिदानंद वात्स्यायन दोनों अलग-अलग व्यक्तित्व हैं। लेकिन 'कवि अज्ञेय' की 'कथाकार अज्ञेय' पर यथास्थान छाप देखी जा सकती हैं। जिन ग्रंथो का सम्पादन 'सच्चिदानंद वात्स्यायन' ने किया, उनमें यदि वात्स्यायन 'रचनाकार अज्ञेय' के साहित्य पर कुछ कहना चाहते है तो वे मेरे, मैनें, मैं जैसे सम्बोधनों की बजाए 'लेखक अज्ञेय' लिखकर अपना विचार देते हैं। सम्पादक अज्ञेय जब अपने समकालीन रचनाकारों की रचनाओं का सम्पादन करते है तब उनकी छवि एक नेता के रूप में दिखाई देती हैं। एक ऐसा नेता जो अपनी जनता के नेतृत्व के लिए खुद को हर तरह से परिपूर्ण एवं सक्षम समझता है। सहज रूप से पत्रकार न होते हुए भी अज्ञेय ने कई पत्र-पत्रिकाओं का कुशल सम्पादन किया हैं। 'दिनमान' इसका उत्तम उदाहरण है, जो हिन्दी पत्रकारिता जगत में अपना एक अलग स्थान रखता है। हिन्दी आलोचना जगत में यूँ तो सम्पादक-पत्रकार अज्ञेय को विद्वानों ने अनदेखा ही किया हैं। फिर भी पिछले कुछ वर्षों में अज्ञेय के इस रूप का जितना विश्लेषण किया गया, उसमें अज्ञेय के सम्पादक-पत्रकार कर्म को सराहनीय ही माना हैं।

आज साहित्य जगत में अज्ञेय अपनी रचनाओं के रूप में जीवित हैं। उनके लेखन में व्यक्त खुले-नए विचार ही उलझाव, विवाद व आरोपों का कारण बने। कई जगह अज्ञेय ने स्वयं भी इन विवादों को हवा दी, तो कई बार वे आलोचकों के इन अधूरे मूल्यांकन से दुखी भी होते थे और स्वयं उसके विश्लेषण हेतु एक नई पुस्तक सामने रख देते। आज जब रचनाकार प्रतिक्रियाएं देने हेतु मौजूद नही है तो उनकी रचनाओं को लेकर समीक्षकों ने भी अपने कटु आरोपों व टिप्पणियों का स्वर धीमा कर लिया हैं। आज वे आलोचक इन जन्मशतियों में अज्ञेय के योगदान को भूरि-भूरि सहारते नजर आते हैं। जहाँ मैनेजर पाण्डेय अज्ञेय को 'विशेष का सर्जक' कहते हैं। राजेन्द्र यादव 'रवीन्द्रनाथ ठाकुर' के बाद अज्ञेय को भारतीय साहित्य की बड़ी हस्ती कहते हैं। इसी तरह नामवर सिंह ने भी अज्ञेय को 'अमृत-पुत्र' कहकर उनकी कविताओं का संकलन 'नेशनल बुक ट्रस्ट' के लिए तैयार किया। साथ ही 'शेखर : एक जीवनी' को हिन्दी के पांच महान उपन्यासों में से एक घोषित किया। उनके मरण के बाद रचनाओं का

बदलता मूल्यांकन अंध भक्तिपरक भावुकता तथा अवसर विशेष में अपना नाम दर्ज करने का ही प्रमाण हैं। उनके जन्मशती पर बढ़-चढ़ कर होने वाली संगोष्ठियों में आज भी ऐसे दोनों तरह के आलोचक देखे जा सकते हैं। कुछ कट्टरपंथी विद्वान आज भी सुर्खियों में बने रहने के लिए अज्ञेय पर एक स्वर में लांछन लगाते हुए मिल जाते हैं। कुछ नए विद्वान उनकी रचनाओं को नई दृष्टि - अर्थवत्ता के साथ समझने का आग्रह करते हैं।

मैं ऐसा मानती हूँ कि रचनाकार अज्ञेय एक ऐसा गतिशील ऊर्जावान व्यक्तित्व थे, जिन्होंने अपने समकालीनों को ही नहीं अपितु, अपने आने वाली पीढ़ियों को भी प्रेरणा दी । उन्होंने विभिन्न साहित्यिक-सांस्कृतिक लेखकों-शिविरों, व्याख्यानमालाओं, साहित्यिक यात्राओं द्वारा हिन्दी भाषी लेखकों के साथ-साथ इत्तर भाषी अनुशासन के विद्वानों को एक मंच पर खड़ा किया। हिन्दी साहित्य जगत में अज्ञेय 'कवि', 'कथाकार', 'निबंधकार', 'यायावर', 'आलोचक', 'सम्पादक', 'पत्रकार' आदि कई छवियों में सामने आते हैं। सभी विधाओं में कुछ नया-अलग ढंग से रखने वाले अज्ञेय की विशिष्ट छवि 'कवि और सम्पादक' के रूप में भी अधिक विकसित दिखाई देती हैं। हिन्दी आलोचना में अज्ञेय के इस मूल्यांकन से यह स्पष्ट है कि अज्ञेय के विचार एवं उनकी रचनाएँ आगामी पीढ़ी के लिए महत्त्वकांक्षी हैं।

ग्रन्थानुक्रमणिका

1.1 **आधारग्रन्थ :**

(अज्ञेय की समस्त रचनाएँ)

कविता-संग्रह :

1. अज्ञेय, 1933 प्रथम संस्करण , *भग्नदूत,* वी.एच.वात्स्यायन, लाहौर
2. अज्ञेय, 1942 प्रथम संस्करण, *चिंता,* सरस्वती प्रेस, बनारस
3. अज्ञेय, 1946 प्रथम संस्करण, *इत्यलम्,* प्रतीक प्रकाशन, दिल्ली
4. अज्ञेय, 1949 प्रथम संस्करण, *हरी घास पर क्षण भर,* प्रगति प्रकाशन, दिल्ली
5. अज्ञेय, 1954 प्रथम संस्करण, *बावरा अहेरी,* भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
6. अज्ञेय, 1957 प्रथम संस्करण, *इन्द्रधनु रौंदे हुए ये,* सरस्वती प्रेस, बनारस
7. अज्ञेय, 1959 प्रथम संस्करण, *अरी ओ करुणा प्रभामय,* भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
8. अज्ञेय, 1961 प्रथम संस्करण, *आँगन के पार द्वार,* भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
9. अज्ञेय, 1965 प्रथम संस्करण, *पूर्वा,* राजपाल एंड सन्स, दिल्ली
10. अज्ञेय, 1966, *सुनहले शैवाल,* अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली
11. अज्ञेय, 1967 प्र सं० *कितनी नावों में कितनी बार,* भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
12. अज्ञेय, 1970 प्र संस्करण, *क्योंकि मैं उसे जानता हूँ,* भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
13. अज्ञेय, 1970 प्रथम संस्करण, *सागर मुद्रा,* राजपाल एंड सन्स, दिल्ली
14. अज्ञेय, 1974 प्र सं०, *पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ,* राजपाल एंड सन्स, दिल्ली
15. अज्ञेय, 1977 प्रथम संस्करण, *महावृक्ष के नीचे,* राजपाल एंड सन्स, दिल्ली
16. अज्ञेय, 1981 प्र सं०, *नदी की बाँक पर छाया,* राजपाल एंड सन्स, दिल्ली
17. अज्ञेय, 1984 प्र सं०, *सदानीरा (दो खंडों में),* नेशनल पब्लिशिंग हॉउस, दिल्ली
18. अज्ञेय, 1986 प्र० सं०, *ऐसा कोई घर आपने देखा है,* नेशनल पब्लिशिंग हॉउस, दिल्ली ,

19. अज्ञेय, *मरुस्थल,* 1995 प्रथम संस्करण, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
20. अज्ञेय, 2011 प्र० सं०, *प्रिजन डेज एंड अदर पोयम्स,* रूपा प्रकाशन, दिल्ली

नाटक :

1. अज्ञेय, 1967 प्रथम संस्करण, *उत्तर प्रियदर्शी,* अक्षर प्रकाशन, दिल्ली

कहानी संग्रह :

1. अज्ञेय, 1937 प्रथम संस्करण, *विपथगा,* भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद
2. अज्ञेय, 1944 प्रथम संस्करण, *परम्परा,* सरस्वती प्रेस, बनारस
3. अज्ञेय, 1945 प्रथम संस्करण, *अमरवल्लरी और अन्य कहानियाँ,* सरस्वती प्रेस, बनारस
4. अज्ञेय, 1945 प्रथम संस्करण, *कड़ियाँ तथा अन्य कहानियाँ,* सरस्वती प्रेस, बनारस
5. अज्ञेय, 1945 प्रथम संस्करण, *कोठरी की बात,* प्रतीक प्रकाशन, बनारस
6. अज्ञेय, 1948 प्रथम संस्करण, *शरणार्थी,* शारदा प्रकाशन, बनारस
7. अज्ञेय, 1951 प्रथम संस्करण, *जयदोल,* प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली
8. अज्ञेय, 1961 प्रथम संस्करण, *ये तेरे प्रतिरूप,* राजपाल एंड सन्स, दिल्ली
9. अज्ञेय , 1975 प्रथम संस्करण *सम्पूर्ण कहानियाँ,* राजपाल एंड सन्स, दिल्ली

उपन्यास :

1. अज्ञेय, 1941 प्रथम संस्करण, *शेखर : एक जीवनी (खंड-1),* सरस्वती प्रेस, बनारस अज्ञेय, 1944 प्रथम संस्करण, *शेखर : एक जीवनी (खंड -2),* सरस्वती प्रेस, बनारस
2. अज्ञेय, 1951 द्वितीय संस्करण, *नदी के द्वीप,* सरस्वती प्रेस, बनारस
3. अज्ञेय, 1961 प्रथम संस्करण, *अपने-अपने अजनबी,* भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

4. अज्ञेय, 1951 प्रथम संस्करण, *बारह खंभा-संयुक्त कृति दस अन्य लेखकों के संग एक प्रयोग*, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
5. अज्ञेय, 2000 प्रथम संस्करण, *छाया मेखल*, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
6. अज्ञेय, 2000 प्रथम संस्करण, *बीनू भगत*, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

निबन्ध-संग्रह :

1. अज्ञेय, 1945 प्रथम संस्करण, *त्रिशंकु*, सरस्वती प्रेस, बनारस
2. अज्ञेय, 1946 प्रथम संस्करण, *सबरंग*, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
3. अज्ञेय, 1960 प्रथम संस्करण, *आत्मनेपद*, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, (2003)
4. अज्ञेय, 1967 प्रथम संस्करण, *हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य,* अभिनव भारती ग्रन्थमाला, कलकत्ता,
5. सच्चीदानंद हीरानंद वात्स्यायन, 1969 प्रथम संस्करण, *सबरंग और कुछ राग*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
6. अज्ञेय, 1971 प्रथम संस्करण, *आलवाल,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
7. अज्ञेय , 1972 प्रथम संस्करण, *लिखि कागद कोरे*, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली
8. अज्ञेय, 1977 प्रथम संस्करण, *अद्यतन*, सरस्वती विहार, दिल्ली
9. अज्ञेय, 1977 प्रथम संस्करण *, जोगलिखी*, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली
10. अज्ञेय, 1978 प्रथम संस्करण *, संवत्सर,* नेशनल पब्लिशिंग हॉउस, दिल्ली
11. अज्ञेय, 1978 प्रथम संस्करण, *स्रोत और सेतु*, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली
22. अज्ञेय, 1979 प्रथम संस्करण, *अपरोक्ष,* सरस्वती विहार, दिल्ली
23. अज्ञेय, 1981 प्रथम संस्करण, *युग संधियों पर*, सरस्वती विहार, दिल्ली
24. अज्ञेय, 1982 प्रथम संस्करण, *धारा और किनारे*, सरस्वती विहार, दिल्ली
25. अज्ञेय, 1982 प्रथम संस्करण, *स्मृति लेखा,* नेशनल पब्लिशिंग हॉउस, दिल्ली ,
26. अज्ञेय, 1982 प्रथम संस्करण, *कहाँ है द्वारका*, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली

27. अज्ञेय, 1984 प्रथम संस्करण, *छाया का जंगल*, सरस्वती विहार, दिल्ली

28. अज्ञेय, 1984 प्रथम संस्करण , *स्मृतिछंदा*, नेशनल पब्लिशिंग हॉउस, दिल्ली

29. अज्ञेय, 1984 प्रथम संस्करण, *आत्मपरक*, नेशनल पब्लिशिंग हॉउस, दिल्ली

30. अज्ञेय, 1984 प्र०संस्करण *केंद्र और परिधि*, नेशनल पब्लिशिंग हॉउस, दिल्ली

डायरी एवं यात्रा-वृत्तांत :

1. अज्ञेय, 1967 प्रथम संस्करण, *भवन्ती,* राजपाल एंड सन्स, दिल्ली

2. अज्ञेय, 1975 प्रथम संस्करण, *अंतरा*, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली

3. अज्ञेय, 1979 प्रथम संस्करण, *शाश्वती,* राजपाल एंड सन्स, दिल्ली

4. अज्ञेय, 1995 प्रथम संस्करण, *शेषा*, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

5. अज्ञेय, 1953 प्रथम संस्करण, *अरे यायावर रहेगा याद*, सरस्वती प्रेस, बनारस

6. अज्ञेय, 1960 प्रथम संस्करण, *एक बूंद सहसा उछली*, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली

संपादित ग्रन्थ :

1. अज्ञेय, 1940 प्रथम संस्करण, *आधुनिक हिन्दी साहित्य,* साहित्य संस्थान, मेरठ

2. अज्ञेय, 1963 दूसरा संस्करण, *तारसप्तक*, (1943) भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली

3. अज्ञेय, 1951, *दूसरा सप्तक*, प्रगति प्रकाशन, दिल्ली

4. अज्ञेय, 1959, *तीसरा सप्तक,* भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली

5. अज्ञेय, 1978 प्रथम संस्करण, *चौथा सप्तक*, सरस्वती विहार, दिल्ली

6. अज्ञेय, 1959 प्रथम संस्करण, *पुष्करिणी*, साहित्य सदन, झाँसी

7. अज्ञेय, 1952 *नए एकांकी*, साहित्य सदन, झाँसी

8. अज्ञेय, 1949 प्रथम संस्करण , *नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ,* साहित्य सदन, झाँसी
9. अज्ञेय, 1960 प्रथम संस्करण, *रूपाम्बरा,* भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
10. सच्चीदानंद हीरानंद वात्स्यायन, 1985, *सर्जन और सम्प्रेषण,* वत्सल निधि लेखक शिविर, लखनऊ, (नेशनल पब्लिशिंग हॉउस, नयी दिल्ली)
11. सच्चीदानंद हीरानन्द वात्स्यायन, 1985, *साहित्य का परिवेश*, वत्सल निधि लेखक शिविर, आबू, (नेशनल पब्लिशिंग हॉउस, नयी दिल्ली)
12. सच्चीदानंद हीरानन्द वात्स्यायन, 1985, *साहित्य और समाज परिवर्तन*, वत्सल निधि लेखक शिविर, बरगी नगर, (नेशनल पब्लिशिंग हॉउस, नयी दिल्ली)
13. सच्चीदानंद हीरानन्द वात्स्यायन, 1985, *समकालीन कविता में छंद*, वत्सल निधि लेखक शिविर, बोधगया, नेशनल पब्लिशिंग हॉउस, नयी दिल्ली
14. सच्चीदानंद हीरानन्द वात्स्यायन, 1987, *स्मृति के परिदृश्य*, संवत्सर व्याख्यान माला, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली,
15. अज्ञेय, *नए साहित्य-स्रष्टा ग्रन्थमाला,* भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
16. अज्ञेय, 2010, *भारतीय कला-दृष्टि,* प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
17. सच्चीदानंद हीरानन्द वात्स्यायन, *जन जनक जानकी*, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

1.2 सहायक ग्रन्थ :

1. अग्रवाल, भारतभूषण, 1994, *हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
2. अवस्थी, ओमप्रकाश, 1989, *अज्ञेय कवि* , लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
3. अवस्थी, देवीशंकर (संपा), 1995 प्र० सं०, *विवेक के रंग,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
4. अवस्थी, देवीशंकर, 2007, *नई कहानी : सन्दर्भ और प्रवृति,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
5. अवस्थी, रेखा, 2012 प्र० सं०, *प्रगतिवाद के समानांतर साहित्यिक प्रवृतियाँ,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
6. आचार्य, नन्दकिशोर, 1970 प्र० सं०, *अज्ञेय की काव्यतितिर्षा,* वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर
7. आचार्य, नन्दकिशोर, 2001, *अज्ञेय संचयिता,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
8. ओमप्रभाकर, 1966 प्र० सं०, *अज्ञेय का कथा-साहित्य,* नेशनल पब्लिशिंग हॉउस, दिल्ली
9. उषामंत्री, 1991 प्र० सं०, *हिन्दी उपन्यासों में पारिवारिक सन्दर्भ,* नेशनल पब्लिशिंग हॉउस, दिल्ली
10. उपाध्याय, देवराज, 1966 प्र० सं०, *प्रतिक्रियाएँ,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
11. उपाध्याय, देवराज, 1970 प्र० सं०, *आधुनिक समीक्षा,* अनुपम प्रकाशन, जयपुर
12. उपाध्याय, देवराज, 1987 प्र० सं०, *नयी कविता,* वाणी प्रकाशन , दरियागंज, दिल्ली
13. उपाध्याय, देवराज, 1990, *आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
14. उपाध्याय, देवराज, 1957 प्र० सं०, *कथा के तत्व,* ग्रन्थालय कार्यालय, पटना
15. ए.अरविंदाक्षन (संपा) , 2012 प्र० सं०, *कविता अज्ञेय,* प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली ,

16. ए.अरविंदाक्षन, 1992 प्र० सं०, *अज्ञेय की उपन्यास-यात्रा,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
17. कुलश्रेष्ठ, मथुरेश नंदन, 1974 प्र० सं०, *अज्ञेय की अंत:प्रक्रिया साहित्य,* चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद
18. खेतान, ज्वालाप्रसाद, 1993 प्र० सं०, *अज्ञेय : चेतना के सीमांत*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
19. गुप्त, बालकृष्ण, 1978 प्र० सं० , *हिन्दी उपन्यास : सामाजिक सन्दर्भ,* अभिलाषा प्रकाशन, कानपुर
20. चुघ, सत्यपाल, 1965 प्र० सं०, *अज्ञेय के उपन्यासों की शिल्पविधि*, पुस्तक सदन, दिल्ली
21. चुघ, सत्यपाल, 1978, *प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि,* राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
22. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, 1972 प्र० सं०, *अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या,* भारतीय ज्ञानपीठ
23. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, 1965, *हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास,* लोकभारती प्रकाशन , इलाहाबाद
24. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, 1960 प्र० सं०, *हिन्दी नवलेखन*, भारतीय ज्ञानपीठ
25. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, 1989 प्र० सं०, *प्रसाद-निराला-अज्ञेय,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,
26. चौहान, शिवदान सिंह, 1972 प्रथम सं०, *आलोचना के मान,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,
27. चौहान, शिवदान सिंह, 1961 दूसरा सं०, *हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
28. चौहान, शिवदान सिंह, 1953 प्र० सं०, *साहित्य की समस्याएं*, आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली
29. चौहान, शिवदान सिंह, *साहित्यानुशीलन*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
30. जैन, निर्मला, 2012 प्र० सं०, *हिन्दी आलोचना का दूसरा पाठ,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

31. जैन, निर्मला (संपा), 2009 प्र० सं०, *निबन्धों की दुनिया,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
32. जैन, नेमिचंद्र, 1966 प्र० सं०, *अधूरे साक्षात्कार,* अक्षर प्रकाशन, दिल्ली
33. जैन, नेमिचंद्र, 1968 प्र० सं०, *बदलते परिपेक्ष्य,* राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली
34. जैन, नेमिचंद्र, *आधुनिक हिन्दी समीक्षा,* 1985 प्र० सं०, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,
35. टंडन, प्रताप नारायण, 1959 प्र० सं०, *हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास,* हिन्दी साहित्य भंडार, लखनऊ
36. ठाकुर, खगेन्द्र (संपा), 2005 प्र० सं०, *आलोचक के मुख से : नामवर सिंह,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
37. ठाकुर, देवेश, 1975 प्र० सं०, *नदी के द्वीप की रचना-प्रक्रिया,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
38. डॉ० नगेन्द्र, 1994 प्र०सं०, *आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृतियाँ,* नेशनल पब्लिशिंग हॉउस, नई दिल्ली,
39. डॉ० नगेन्द्र, *हिन्दी वाङ्मय : बीसवीं शती,* विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
40. तिवारी, रामचन्द्र, 1967, *हिन्दी गद्य साहित्य,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय सं०
41. तिवारी, रामचन्द्र, 2000, *हिन्दी आलोचना : शिखरों का साक्षात्कार,* नेशनल पब्लिशिंग हाउस
42. तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद (संपा) , 1978 प्र० सं०, *अज्ञेय,* नेशनल पब्लिशिंग हॉउस, दिल्ली,
43. तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद (संपा), 2011 प्र० सं०, *अज्ञेय सहचर,* किताब घर प्रकाशन दरियागंज, दिल्ली,
44. द्विवेदी, अशोक, *समीक्षा के नए प्रतिमान,* 1992 प्र० सं०, अनिल प्रकाशन, इलाहाबाद
45. नवल, नन्दकिशोर , 2007 प्र० सं०, *निकष,* दानिश बुक्स प्रकाशन,
46. नारायण, कुँवर, *हिन्दी साहित्य कोश भाग-2,* ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी

47. पालीवाल, कृष्णदत, 2012 प्र० सं०, *अज्ञेय होने के अर्थ,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,

48. पालीवाल, कृष्णदत , 2010 प्र० सं०, *अज्ञेय विचार का स्वराज,* प्रतिभा प्रतिष्ठान, नई दिल्ली,

49. पालीवाल, कृष्णदत, 2010 प्र० सं०, *अज्ञेय से साक्षात्कार,* आर्य प्रकाशन मंडल,

50. पालीवाल, कृष्णदत, 2009 प्र० सं०, *अज्ञेय कवि-कर्म का संकट,* किताबघर प्रकाशन, अंसारी रोड , दरियागंज, दिल्ली

51. पालीवाल, कृष्णदत, 2011 प्रथम सं०, *आलोचक अज्ञेय की उपस्थिति,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

52. पालीवाल, कृष्णदत, 1973, *हिन्दी आलोचना के नए वैचारिक सरोकार*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

53. प्रसाद , कमला, 2002 प्र० सं०, *आलोचक और आलोचना,* आधार प्रकाशन, नई दिल्ली

54. प्रसाद राजेन्द्र, 2001 प्र० सं०, *अज्ञेय : कवि और काव्य,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

55. परमार, श्याम, 1968 प्र० सं०, *अकविता और कला सन्दर्भ,* कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर,

56. पाण्डेय, गंगाप्रसाद, *आधुनिक कथा साहित्य,* प्रमोद पुस्तक माला, इलाहाबाद

57. पाण्डेय, हरेन्द्र किशोर, 1993 प्र० सं०, *उपन्यासकार अज्ञेय,* अनुपम प्रकाशन, पटना

58. पाण्डेय, सुरेश चन्द्र, 2010 प्र०सं०, *अज्ञेय साहित्य विमर्श(खंड- 1,2,3,4),* नमन प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली

59. पाण्डेय, माधुरी, 1990 प्रथम सं०, *अज्ञेय के काव्य में मिथकीय संचेतना,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

60. पटेल, भोलाभाई, 1983 प्र० सं०, *अज्ञेय : एक अध्ययन,* गुजरात यूनिवर्सिटी, अहमदाबाद

61. मदान, इन्द्रनाथ , 1966 प्रथम सं०, *आज का हिन्दी उपन्यास,* , राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

62. मदान, इन्द्रनाथ, 1975 प्रथम सं०, *हिन्दी उपन्यास : एक नयी दृष्टि(1934 से 1974 तक),* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

63. मदान, इन्द्रनाथ, 1966 प्रथम सं०, *कहानी की कहानी,* रामचन्द्र एंड कंपनी

64. मदान, इन्द्रनाथ, 1968 प्रथम सं०, *हिन्दी कहानी,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

65. मानधाने, धनराज, 1961 प्र० सं, *हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास,* साहित्य भवन, इलाहाबाद

66. मेहेर कुमार, छबिल (संपा), 2016 प्र० सं०, *असाध्य वीणा,* आधार प्रकाशन पंचकूला, हरियाणा

67. मिश्र, ब्रहादेव, 1992 प्र० सं०, *अज्ञेय और उनका उपन्यास संसार,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

68. मिश्र, रामदरश , *आज का हिन्दी साहित्य : संवेदना और दृष्टि,* राजकमल प्रकाशन , नई दिल्ली

69. मिश्र, रामदरश, 2002 प्र० सं०, *हिन्दी आलोचना : प्रवृतियां और आधारभूमि,* नार्थ इण्डिया पब्लिशर्स एंड डिस्ट्री ब्यूटर्स, दिल्ली

70. मिश्र, रामदरश, 2016 छटा सं०, *हिन्दी उपन्यास एक अंतर्यात्रा,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

71. मिश्र, राजेन्द्र , 2002 प्र० सं० , *अज्ञेय : विचार और कविता,* तक्षशिला प्रकाशन

72. मिश्र, विद्यानिवास, 1971 प्रथम सं०, *आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि,* राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली

73. मिश्र, सावित्री, 1974 प्र० सं०, *अज्ञेय की गद्य-शैली,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

74. मुक्तिबोध, 1971 प्रथम सं०, *नए साहित्य का सौंदर्यशास्त्र,* राधाकृष्ण प्रकाशन

75. मुक्तिबोध, 1964 प्रथम सं०, *नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध,* विश्व भारती प्रकाशन, नागपुर

76. मेहता, नरेश, 2012, *शब्दपुरुष अज्ञेय,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

77. मौर्य, देवकृष्ण , 1994 प्र० सं०, *अज्ञेय का कथा-साहित्य,* अतुल प्रकाशन, कानपुर

78. यादव, राजेन्द्र, 1978, *कहानी : स्वरूप और संवेदना,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

79. यादव, राजेन्द्र, 2003 प्रथम सं०, *एक दुनिया समांतर*, राधाकृष्ण प्रकाशन , दिल्ली

80. रामबक्ष, *समकालीन हिन्दी आलोचक और आलोचना,* हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़

81. रांग्रा, रणवीर, 1968 प्र० सं०, *हिन्दी उपन्यास में चरित्र का विकास*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

82. राय, रायकमल, 1986 प्र० सं, *शिखर से सागर तक*, नेशनल पब्लिशिंग हॉउस, दिल्ली

83. राय, रायकमल, 2003 प्र० सं०, *अज्ञेय : सृजन की समग्रता,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

84. राय, गोपाल, 2010 प्र० सं०, *अज्ञेय और उनका कथा साहित्य,* वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली

85. राय, नंदकुमार, 1988 प्र०सं०, *अज्ञेय की औपान्यसिक संचेतना*, शारदा प्रकाशन

86. राय, नंदकुमार, 2016 प्र० सं०, *प्रयोगधर्मी कथाकार अज्ञेय,* राष्ट्रीय हिन्दी साहित्य परिषद्

87. राय , मृगेन्द्र, 2008 प्र० सं०, *हिन्दी काव्य-नाटक और युग बोध,* नेशनल पब्लिशिंग हॉउस, दिल्ली

88. लाल, कृष्ण, 1949 प्र० सं०, *तारसप्तक के कवि : काव्य शिल्प के मान,* साहित्य प्रकाशन, मालीवाड़ा

89. लाल, लक्ष्मीनारायण, हिन्दी साहित्य कोश (भाग-1), ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी

90. वाजपेयी, अशोक, 1982 प्र० सं०, *फिलहाल,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

91. वाजपेयी, अशोक, 1998 प्र० सं०, *कविता का गल्प,* राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

92. वाजपेयी, अशोक (संपा), 1997 प्र०सं०, *अज्ञेय का संसार : शब्द और सत्य,* पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली

93. वांदिवडेकर, चन्द्रकांत, 1993 प्र० सं०, *उपन्यास : स्थिति और गति,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

94. वाजपेयी, नन्ददुलारे , 2000 तृतीय सं०, *आधुनिक साहित्य,* भारती भंडार, इलाहाबाद

95. वाजपेयी, नन्ददुलारे, 1978, *नया साहित्य : नए प्रश्न,* दि मैकमिलन लिमिटेड कंपनी, दिल्ली

96. वर्मा, धीरेन्द्र (संपा), 1958, *हिन्दी साहित्य कोश* , ज्ञानमंडल प्रकाशन लिमिटेड, बनारस

97. वर्मा, निर्मल, 2001 तीसरा सं०, *कला का जोखिम,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

98. वर्मा, निर्मल, 1985 प्र० सं०, *ढलान से उतरते हुए,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

99. वर्मा, लक्ष्मीकान्त, 2000, *नयी कविता के प्रतिमान,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

100. वर्मा, हरिचरण , 2000, *नई कविता नए धरातल,* वाणी प्रकाशन, दिल्ली

101. वर्मा, रामचन्द्र, 1964, *मानक हिन्दी कोश (तीसरा खंड)*, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

102. वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर, 1963 प्रथम सं० , *हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ,* राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली

103. विमल, गंगाप्रसाद (संपा) , 1967 प्र० सं०, *अज्ञेय का रचना संसार*, सुभाष पुस्तकालय, दिल्ली

104. विश्वरंजन (संपा) , 2010 प्र० सं०, *कठिन प्रस्तर में अग्नि सुराख,* यश पब्लिकेशन, नई दिल्ली

105. शर्मा, केदार , 1969 प्र० सं०, *अज्ञेय साहित्य : प्रयोग और मूल्यांकन,* अनुपम प्रकाशन, जयपुर

106. शर्मा, केदार, 1981 प्र० सं०, *अज्ञेय के उपन्यास : प्रकृति और प्रस्तुति,* पंचशील प्रकाशन, जयपुर

107. शर्मा, केदारनाथ , 1966 प्र० सं०, *उपन्यासकार अज्ञेय,* जम्मू प्रकाशन, जयपुर

108. शर्मा, नलिनविलोचन, 1958 प्र० सं०, *हिन्दी उपन्यास,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

109. शर्मा, रामविलास , 1978 प्र० सं०, *नई कविता और अस्तित्ववाद,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

110. शर्मा, रामविलास, 1994 प्रथम सं०, *भाषा युग बोध और कविता,* , वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

111. शर्मा, रामविलास, 1968, *साहित्य : स्थायी मूल्य और मूल्यांकन,* अक्षर प्रकाशन, दिल्ली

112. शर्मा, राजेन्द्र प्रसाद, 1958, *हिन्दी गद्य के निर्माता : बालकृष्ण भट्ट,* आगरा

113. शर्मा, सुशीला, 1982 प्र० सं०, *हिन्दी उपन्यास में प्रतीकात्मक शिल्प,* सियाराम पब्लिकेशन, शाहदरा, दिल्ली

114. शाह, रमेशचंद्र, 1995 प्र० सं, *अज्ञेय : वागार्थ का वैभव,* प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

115. शाह, रमेशचंद्र, 2010 प्रथम सं०, *पत्रकारिता के युग निर्माता स. ही. वात्स्यायन,* प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

116. शाह, रमेशचंद्र, 2002, *असाध्य वीणा और अज्ञेय,* नेशनल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद

117. शुक्ल, श्री लाल, 2012 प्र० सं०, *अज्ञेय कुछ रंग, कुछ राग,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

118. शुक्ला, स्नेहलता (संपा), 2012 प्र० सं०, *अज्ञेय : दृष्टि और सृष्टि,* रचना प्रकाशन, चांदपोल बाजार, जयपुर

119. सिन्हा,अमरीश, 2015 प्र० सं०, *अज्ञेय : एक अलक्षित पत्रकार,* के.के पब्लिकेशन, दरियागंज, नई दिल्ली

120. सिंह, प्रेम, 1995 प्र० सं०, *अज्ञेय : चिन्तन और साहित्य,* साहित्य सहकार प्रकाशन, दिल्ली

121. सिंह, नामवर, 2001 प्र० सं०, *आधुनिक साहित्य की प्रवृतियाँ,* लोकभारती प्रकाशन , इलाहाबाद
122. सिंह, नामवर, 1968 प्र० सं०, *कविता के नए प्रतिमान,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
123. सिंह, नामवर, 2014 , *कहानी : नई कहानी* , लोकभारती प्रकाशन , इलाहाबाद
124. सिंह, विजयमोहन, 2012 प्र० सं०, *अज्ञेय : कथाकार और विचारक,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
125. सिंह, शिवप्रसाद, 1970, *आधुनिक परिवेश और नवलेखन,* राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
126. सिन्हा, शैल, 1969 प्र० सं०, *प्रयोगवाद और अज्ञेय,* अशोक प्रकाशन, दिल्ली
127. सिंह, त्रिभुवन, 1973, *हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग,* हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी
128. त्रिवेदी , कुसुम, 1976 प्र० सं०, *अज्ञेय की औपन्यासिक कृतियाँ,* साहित्य संस्थान, कानपुर
129. त्रिपाठी, विश्वनाथ, 1992 प्र० सं०, *हिन्दी आलोचना,* वाणी प्रकाशन नई दिल्ली
130. श्रीवास्तव, परमानन्द (संपा), 2000, *शेखर : एक जीवनी का महत्त्व,* नेशनल पब्लिशिंग हाउस , दिल्ली

1.3 अंग्रेजी पुस्तकें :

1. Ed.William J.Handy & Maxwest Brook, Twentieth Century Criticism, Indian Edition 1976
2. Heartnal, The Oxford Companian to the Thertre, 4th edition 1983, Oxford University Press, Oxford UK

3. Literary criticism (greek-krities-judge, umpire to distinguish, decide, interpret involes the study and interpretation of literary art and itself forms a branch of literature, Everyman's Encyclopedia Vol-8
4. Roland Dalbiez ; E B strauss ; T F Lindsay, Psycho Analyatical Method and the doctrine of Freud, Vol. I., 1941, London, Longmans.
5. T.S Eliot – Selected Essays, 1917-1932, Harcourt Brace and Company, NEW YORK

1.4 अन्य पत्र एवं पत्रिकाएँ :-

1. आजकल, मासिक अंक 1984, स्वर्ण जंयती
2. आजकल, मासिक अंक 1994, स्वर्ण जंयती
3. आजकल, अप्रैल 2011, अज्ञेय पर केन्द्रित
4. आलोचना, अक्तूबर 1952
5. आलोचना, अंक 13, अक्तूबर 1954, उपन्यास विशेषांक
6. आलोचना, मार्च 1962
7. आलोचना, जून 1965
8. आलोचना, जुलाई-सितम्बर, 1967, त्रैमासिक
9. आलोचना, नवांक-24, जनवरी-मार्च 1973, त्रैमासिक
10. आलोचना, अंक-41, अप्रैल-जून 2011, त्रैमासिक, अज्ञेय पर केन्द्रित
11. इन्द्रप्रस्थ भारती, जुलाई-सितम्बर, 2011, त्रैमासिक, अज्ञेय विशेषांक
12. ज्ञानोदय, मार्च 1960
13. ज्ञानोदय, जुलाई 1963

14. तेवर अंक-6
15. धर्मयुग पत्रिका-2, जनवरी 1966 , बम्बई
16. (सम्पादक) इलाचंद्र जोशी, हेमचन्द्र जोशी, धर्मयुग, 10 अप्रैल 1988, बम्बई
17. समयांतर, मार्च 2011
18. साप्ताहिक हिन्दुस्तान 18 मार्च 1981
19. सुमित अंक-10, जुलाई 1999
20. संकल्प रथ, 16 मार्च 1974
21. नई धारा, अप्रैल 1967
22. (सम्पादक) पचौरी, सुधीश , वाक् (त्रैमासिक)अंक-13, अक्तूबर-दिसम्बर 2013

1.5 INTERNET/ WEBLINKS :

1. www.Hindisamay.co.in (अज्ञेय और हिन्दी पत्रकारिता – अच्युतानंद मिश्र)
2. https://Hindi.webduniya.com
3. https://avadhbhumi.wordpress.com (साहित्यिक पत्रकारिता- पत्रकार प्रेमचन्द, निराला, शिवपूजन सहाय, अज्ञेय)
4. https://jatakapaksh.blogspot.com (अज्ञेय के दिलबरों की उछल-कूद)
5. https://oxwall.favread.in>blogs (अज्ञेय विवादों के आर-पार – नीलाभ भाग-1)
6. https://samayantar.com (अपने-अपने अज्ञेय , पुस्तक समीक्षा- महावीर सरवर)
7. https://literatureinindia.com